।। पुरुषोत्तमयोग का प्रयोजन।।

मंगलाचरणः

सबसे पहले गीतामाहात्म्यका हम पाठ करेंगे, तत्पश्चात् उसके विवेचन में जायेंगे.

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः।।1।।
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च।।2।।
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद् गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्।।3।।
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता।।4।।
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्रद् विनिस्सृतम्।
गीतागंगोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।।5।।
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।6।।
एकंशास्त्रं देवकीपुत्रगीतम् एको देवो देवकीपुत्र एव।
मन्त्रेप्येको तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।।7।।

उपक्रमः

आज तो गीता यह ग्रन्थका व्यक्तिनाम हो गया है परन्तु वास्तवमें इसका सम्पूर्ण नाम है **श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद्.** वास्तवमें तो गीता यह नाम नहीं लेकिन विशेषण है. किसका विशेषण? उपनिषद्का. कैसा उपनिषद् जो कि भगवानने कहा. **गीता** अर्थात् कहा हुआ, भगवानद्वारा अपने मुखारविन्दसे कहा गया. जो कहा गया उपनिषद् है उसका नाम **भगवद्गीता उपनिषद्. भगवद्गीता उपनिषद्**में से इस तरफका **भगवद्**

शब्द बोलचालकी भाषामें हमनें छोड़ दिया है और दूसरी ओरका **उपनिषद्** शब्द भी छोड़ दिया है. इस कारण वर्तमानमें **गीता** शब्द अपने आपमें एक ग्रंथवाचक व्यक्तिनामके तौर पर सार्थक हो गया है. वास्तवमें तो यह उपनिषद्का विशेषण है, अतएव हमने आज जो मंगलाचरण किया उसमें देखा कि गीता शास्त्र है. अगर ग्रंथको शास्त्र कहना हो, उपनिषद् न कहना हो तो इसे **भगवद्गीता** नहीं परन्तु **भगवद्गीतम्** कहना चाहिये. इस कारण मंगलाचरणमें कहनेमें आया है **देवकीपुत्रगीतम्**. अगर उपनिषद् कहना हो तो **एका उपनिषद् देवकीपुत्रगीता** ऐसे कहा जायेगा. कारण कि **गीता** कहनेमें स्त्रीलिंग हो जाता है. **गीतम्** कहनेमें हमने नपुंसक लिंग प्रयोग किया ऐसा कहा जायेगा.

गीता सर्व उपनिषदों का साररूप उपनिषद् हैः

उपनिषद् तो बहुत हैं और शास्त्र भी बहुत हैं; हमने अभी जो मंगलाचरणका पाठ किया **गीता सुगीता कर्तव्या** इस गीताको सुगीता करो. अर्थात् भगवानने जो गीता कही है उसका तुम अच्छी तरह गान करो, उच्चारण, मनन एवं विचार करो. **किमन्यैः विस्तरैः** किस कारण? अन्य शास्त्रोंके अनादरके लिये यह शब्द प्रयोग नहीं किया गया है अथवा दूसरे शास्त्रेंके अनावश्यक विस्तारके विपरीत यह श्लोक नहीं कहा गया है. इस विधानके पीछे एक भावना रही हुई है. और वह भावना है – **सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः**. जितने भी उपनिषद् हैं उनको तुम गायके समान समझो तथा इस गायमें रहा हुवा जो दूध रूपी अमृततत्व है उसका भगवानने स्वयं दोहन करके अपने सखा अर्जुनको दिया है. अब अगर भगवान उपनिषद्रूपी गायका दोहन करके दुग्धामृत हमको देते हैं तो वह भगवान कैसे हैं? गोपालनंदन! जो गोपालनंदन भगवान समस्त उपनिषदरूपी गायोंका दोहन करके दुग्धामृत हमको

देते हों तो तत्पश्चात जिसे परिश्रम करनेका शौक हो तो वह करे परिश्रम लेकिन परिश्रम भी कोई कितना कर सकता है? साक्षात् प्रभुसे अधिक परिश्रम तो हम नहीं कर सकते. अर्थात् जो हम शास्त्रका अर्थघटन करने जायेंगे तो प्रभुने जो हमारे लिये परिश्रम लेकर दोहन पहले से ही कर रखा है उस परिश्रमसे विपरीत अर्थ अगर हम निकालेंगे तो वह हमारा मतिभ्रम कहलायेगा. और तदनुसार हमने जो अर्थ निकालना है तो क्यों न हम गीतामें से ही समझ लें, जिसमें किसी भी प्रकार के भ्रमकी संभावनाही नहीं रहती! अतएव श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि यह गीता सर्वसंदेहवारक शास्त्र है.

उपनिषद् शब्दमें **उप्** अर्थात् किसीके समीप और **निषद्** अर्थात् बैठकर. अर्थात् गुरुके पास बैठकर शास्त्रेंके रहस्यको जब हम समझते हैं, तब उस प्रकार मिले हुवे रहस्य का नाम है **उपनिषद्**. जबकि भगवान तो गीताका उपदेश दें कि न दें वह तो **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुं** अर्थात् स्वतः जगद्गुरु है. जो परमेश्वर सर्वबुद्धिप्रेरक है तो उसे तुम गुरु नहीं भी मानते हो तो कुछ अन्तर नहीं पड़ता. गुरु समान मानते हो तो कुछ अधिक आदर नहीं दे रहे. कारणकि जो तुम्हारी बुद्धिके भीतरसे प्रेरणा कर रहा है **स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु**, वह देव तुम्हें अगर बाहरसे भी कुछ कहता हो तो उसे गुरु समान स्वीकारने में कुछ अधिक आदर देना नहीं कहा जा सकता. यह तो केवल जो वास्तविकता है उसको स्वीकार लेना है.

3
गीता दो सखाओंके बीचमें हुवा संवादः

भगवानने अपने सखा अर्जुनको गुरुपदवी पर बिराजकर नहीं परन्तु सारथिकी पदवी पर बिराज कर गीताका उपदेश दिया है, जिस रथका रथी अर्जुन है. अर्थात् सारथीकी अपेक्षा

रथीकी पदवी ऊंची होती है जैसे ड्राईवरकी अपेक्षा मालिकका पद ऊंचा होता है. तो वहां गुरु–शिष्य का संबंध नहीं रहा. तो यहां भगवान अर्जुनका रथ हांकनेके लिये बिराजे तो ड्राईवरकी नौकरीकी तरह नहीं बिराजे. भगवानने तो सारथीका पद स्वीकारा था अर्जुनके साथ स्नेहभावके कारण. क्योंकि अर्जुन उनका सखा है. अगर सखा किसी ऐतहासिक संघर्षकी घड़ीमें कुछ पुरुषार्थ दिखाने जा रहा है तो ऐसे संघर्षके क्षणोंमें अपना सखा काम नहीं आयेगा तो वह सखा किस कामका?

परमात्मा तो प्रत्येक प्राणीका सखा है और वह भी ऐसा सखा कि जैसा सखा कृष्ण अर्जुनका है.

द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते.
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति..

उपनिषद् कहता है – दो बहुतही सुन्दर दिखने वाले पक्षी हैं, वह दोनों घनिष्ठ मित्र अथवा सखा हैं, एक दूसरेके. और वह दोनों एक ही वृक्षकी डालके ऊपर साथ साथ रहते हैं. यह होते हुये भी दोनों पक्षियोंके स्वभावमें कुछ भेद रहा हुवा है, और वह भेद है **तयोरेकः पिप्पलं स्वादु अत्ति** इस वृक्षके ऊपर उगनेवाले फलोंको एक पक्षी तो बहुत स्वादसे खाता है, मजा लेता है तथा दूसरा सखा पक्षी वृक्षके ऊपर उगने वाले फलोंका भोग नहीं करता, केवल साक्षी भावसे देखनेमें आनन्द लेता है कि मेरा सखा क्या कर रहा है? उसी प्रकार कोई साक्षी भाव – कोई सख्य भाव – स्वीकारने के लिये परमात्मा हम सबके भीतर बिराजा हुआ है. उपनिषद् जब इस तथ्यको हमें समझाता है तब उसका तात्पर्य है – यह (देह) वृक्ष है. वह दोनों पक्षियोंके बैठनेके लिये यह एक समान वृक्ष है. इस वृक्षमें जो पक्षी हैं उनमें एक पक्षी जीवात्मा तथा दूसरा पक्षी परमात्मा है. इस शरीर रूपी वृक्षमें जो हमारे कर्म, जो हमारी वासना, हमारे संकल्प अथवा हमारे कृताकृत द्वारा जो कुछ फल उग रहे हैं, उन फलोंको भोगनेवाला पक्षी

जीवात्मा है और दूसरा इसका सखा परमात्मा है. यह परमात्मा इस वृक्षके फलको नहीं भोगता परन्तु अपने सखाके साथ हमेशा रहता है. यह परमात्मा शस्त्रस्त्रको छोड़कर युद्धकर्मसे विरत हुवे सखा अर्जुनका केवल रथ हांक रहा है. यह परमात्मा अगर इस रथको न हांकता हो तो रथी कितनाभी शस्त्रविन्यास करले, कितने शस्त्रस्त्र संधान करने का प्रयास करे, लेकिन अपने लक्ष्यका बेध नहीं कर सकता. लक्ष्य अर्थात् जहां तीर मारना हो वह स्थान, उस लक्ष्यके ऊपर कोईभी धनुर्धारी अपने शस्त्रनुसंधानका प्रयत्न करे तो उसकी पहली शर्त यह है कि उसका रथ किसी द्वारा उस स्थानकी ओर हांका जाना चाहिये. अगर रथ नहीं हांका जायेगा तो शस्त्र द्वारा लक्ष्यवेध नहीं हो सकता.

जीवात्मा – परमात्माके बीच छः प्रकार का संबंधः

एक बात इस सारे संबंधमें समझनेकी यह भी है कि शास्त्रमें परमात्माके साथ जीवात्माके छः प्रकारके संबंध बतलानेमें आये हैं. यहां गीतामें भी भगवान आज्ञा करते हैंः

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः .
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ..

अपने शरीरके भीतर रहा हुवा वह परमतत्व अपना उपद्रष्टा है, अनुमन्ता है, भर्ता है, भोक्ता है, महेश्वर है तथा परमात्मा भी है.

अर्थात् यह परमात्वतत्व छः प्रकारसे तुम्हारे साथ व्यवहार करता है. अब अगर यह छः प्रकारसे तुम्हारे साथ व्यवहार कर रहा है तो तुम्हें उसके साथ किस प्रकारका व्यवहार करना? तुम अपने इस शरीररूपी रथके रथी हो. तुम निश्चय करो कि तुम्हें क्या करना है? उसका सारथ्य स्वीकारना है कि नहीं? यहतो तुम्हारे साथ छः प्रकारसे व्यवहार करनेको तैयार है, इनमेंसे तुम जिसभी रीतिसे उसका

सारथीपना स्वीकारना चाहते हो वह उसी प्रकारसे तुम्हारे साथ रहनेको तैयार है. आगे भी गीतामें भगवान आज्ञा करते हैं **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्** जो जिसभी रीतिसे मेरे सामने प्रपन्न होता है, मैं उसके समक्ष उसी प्रकारसे बरतता हूं. इसका विस्तार आगे जाकर प्रपत्तिकी व्याख्यामें हम समझेंगे. तो पहले इसमें समझनेकी बात यह है कि तत्व तो एकही है लेकिन हमारे साथ वह छः प्रकारसे व्यवहार करता है. उनमेंसे किस प्रकारका बर्ताव वह हमारे साथ करेगा उसके बारेमें हमारे मनोरथ, संकल्प, हमारा उसके साथ बर्ताव, अथवा तो उसके समक्ष हमारी प्रपत्ति कैसी है? प्रपत्ति अर्थात् कदम. जिस प्रकारका कदम तुम उसकी ओर भरोगे उसी प्रकार वह तुम्हारी ओर अपना कदम बढ़ायेगा. अपनी प्रपत्ति हमारे अपने स्वभाव पर निर्भर रही हुई होती है. स्वभाव अर्थात् जीवस्वभाव.

तीन प्रकार का प्राजापत्यः

शास्त्रेंमें तीन प्रकारकी प्रजाकी अर्थात् तीन स्वभाववाले जीवात्माओंकी परिभाषा उपनिषद्में कितने सुंदर ढंगसे समझाई गई है कि प्रजापिताके यहां तीन प्रकारकी संतान उत्पन्न हुई – **1. दैवी 2. मानुषी 3. आसुरी.**

प्राजापत्य अर्थात् प्रजापिता ब्रह्माजीके बच्चे. वह तीन प्रकारके होते हैं. उनमें से कुछ तो देव होते हैं, कुछ असुर होते हैं तथा कुछ मनुष्य होते हैं.

(1) संस्कृत भाषा यह वास्तवमें बहुत गजबकी भाषा है. संस्कृत भाषामें देव शब्द **दिव्** अर्थात्: **क्रीड़ा–विजिगीषा–व्यवहार–द्युति–स्तुति–मोद–मद–स्वप्न–कांति–गतिषु** इतने अर्थोंको समाहित करने वाला शब्द है. जिन लोगोंकी यह सारी क्रियायें दिव्य होती हैं वे **देव**. अर्थात् इन सब क्रियायोंको करनेकी जिसमें सामर्थ्य होती है वह **देव**.

(2) उसी प्रकार **असुर** शब्दके भी दो अर्थ होते हैं. एक तो पहले सुर शब्द बनालो. तो सुर कहने पर उसका अर्थ फिरसे देव ही होता है क्योंकि **सुष्ठु रमते इति सुरः**. यह जो दिव्धातुके क्रियापदके दस लक्षण वर्णनकरनेमें आये हैं तदानुसार जो दसों प्रकारसे अच्छी तरह रमण करनेमें समर्थ है वह सुर. और जो सुर नहीं है वह असुर. लेकिन संस्कृत बहुत विलक्षण भाषा है और इसमें इसका वैलक्षण्य इस प्रकार रहा है कि असुर शब्दको एक दूसरी प्रकारसे भी देखा जा सकता है. **असु** अर्थात् प्राण और अपने प्राणोंके पोषणके लिये जो रमण करता हो, बिना किसी दूसरेकी परवाह किये, उसका नाम **असुर**. जहांसे जो मिलता हो वह सब लेनेके लिये हमेशा तैयार! असुर लोग अपने प्राणोंके पोषणमें ही रमे रहते हैं. दूसरे किसीकी परवाह नहीं कि तुम्हारे यहां अकाल पड़ा है कि नहीं, बरसात हुई है कि नहीं? चलो बरसात पड़ी लेकिन फसलके तैयार हुये बिना, पैसे आमदनी किसानोंके पास कहांसे होगी? ऐसा विवेक असुरोंको नहीं होता. वह तो गांवोंमें परदेस करके भेंट पधरावनी तपेलीकी सेवा लेनेमें ही लगे होते हैं. केवल अपनाही विचार करते हैं, और किसी दूसरेका विचार ही नहीं होता. ऐसे सब असुरही होते हैं. ऐसा नहीं है कि रमण नहीं करना चाहिये परन्तु अपनेही प्राणपोषणके लिये सबकुछ करना बिना दूसरे किसीकी परवाह किये, दूसरा तकलीफ पाता हो तो पाये, मरता हो तो मरे, दुखी होता हो तो हो लेकिन इनको तो केवल लाओ और अधिक लाओ! तो असुर ऐसे भी हो सकते हैं!

इस प्रकार देव तथा असुर दोनों समर्थ होते हैं. एक प्राणपोषणमें समर्थ हैं और इन्हें इस बारेमें बहुत कुछ माया आती है. **असुरस्य माया** शब्दप्रयोग आसुरी सामर्थ्यके बारेमें होता है. वैसे ही **देवस्य माया** शब्दप्रयोग दैवी सामर्थ्यके लिये प्रयोगमें लाया जाता है. माया दोनोंके पास होती है. देवके

पास भी और असुरके पास भी. क्योंकि कोई भी काम करवानेके बहुत कुछ उपाय तथा सामर्थ्य या तो देवता जानते हैं अथवा असुर जानते हैं. जैसे रावणको कितने सारे उपाय आते थे! एक उपाय काममें नहीं आया तो दूसरा उपाय, दूसरा नहीं तो तीसरा उपाय, तीसरा नहीं तो चौथा उपाय.

प्रजापिता द्वारा अपनी तीनों सन्तानोंको दिये गये तीन मूल उपदेशः

इन तीनों प्राजापत्योंने एक दिन अपने पिता ब्रह्माजीसे कहा **हमें आप कुछ उपदेश दो. आपके बिना हमें बोध कराने वाला अन्य कोई नहीं है**. तो पहले देव गये तो इन्हें ब्रह्माजीने कहा कि **'द'**. मनुष्य गये तो भी ब्रह्माजीने कहा **'द'**. और दानव–असुर गये तो भी ब्रह्माजीने **'द'** ही कहा. इन तीनों **'द'** में बहुत कुछ बात थी. अर्थात् उपदेश तो एकही था परन्तु अधिकारी भेदसे इनके अर्थ अलग अलग प्रकारके हो गये. जैसे एक असुर शब्दके दो अर्थ होते हैं **न सुरः असुरः** एवं **असुषु रमते**. इसी प्रकार **'द'** शब्दके अलग अलग अर्थ **1. दम 2. दान 3. दया** विवक्षित हैं.

मुझे लगता है कि धर्मका सबसे पहला, अर्थात् काल अथवा इतिहासके अर्थमें नहीं लेकिन जिसे हम लोग **पहलापाठ** कहते हैं वह पहला बोधपाठ जो कुछ है तो वह यह ही है. और अपनी इस दुनियांमें जो कुछ खानाखराबी होती है वह यातो इस बोधपाठको अच्छी प्रकारसे न समझनेकी किसी तकलीफके कारण, अथवा तो इस बोधपाठको अच्छी तरहसे व्यवहारमें न लाने के कारण, अथवा तो जो बोधपाठ प्रजापिताने पुत्रेंको दिया उसे केवल अपने प्रवचन पारायणमें लाते रहें; परन्तु उसे किसी दूसरे प्रकारकी वासनाओंके कारण निरुपाधिक रीतिसे अमलमें नहीं लाते. प्रजापिता द्वारा दिया गया उपदेश अगर पुत्र धारण करे तो मुझे नहीं लगता कि

दुनियांमें कोईभी कष्ट अथवा तो कोईभी समस्या खड़ी हो सकती है. क्योंकि यह ही धर्मका प्रथम लक्षण है. इसमें जो नहीं आता वह कहीं भी नहीं आता. और जो इसमें आ रहा है उसीका यह सब विस्तार है.

(1) जैसे देवता क्रीड़ा करनेमें सब प्रकारसे समर्थ हैं तो उनको ब्रह्माजीने कहा कि अपने रमणके साथसाथ थोड़ा दमन करना भी सीखो.

(2) जो असुर हैं, आसुरभावसे ग्रस्त हैं, अर्थात् अपनाही पोषण करनेके स्वार्थमें जो सदा लिप्त हैं, उनको ब्रह्माजीने कहा कि थोड़ी दया करना सीखो. तुम अपने प्राणोंका पोषण करो, कौन तुम्हें ना करता है कि अपने प्राणोंका पोषण मत करो? लेकिन दूसरे प्राणियोंके ऊपर भी थोड़ा दयाभाव रखो. क्यों मारही देना सब को? थोड़ा दयाभाव रखोगे तो बहुतसी समस्यायोंका हल निकल जायेगा.

जंगलमें रहते हुये प्राणियोंको अगर भूख न लगी हो तो वह जो दिखे उसे मारनेके लिये तत्काल नहीं दौड़ पड़ते, क्योंकि उनमें जमाखोरीकी प्रवृत्ति नहीं होती. जब भूख लगती है तबही खाते हैं. आसुरभावसे ग्रस्त मनुष्य ही इतना खतरनाक प्राणी बन जाता है कि भरपूर भंडार हो तो भी जमाखोरी करता ही रहता है. लाओ, लाओ और लाओ! दूसरी और कोई बात ही नहीं. इसका नाम असुर. अर्थात् सिंह, भेड़िये इत्यादि प्राणी ऐसे नहीं होते. अलबत्ता चीता ऐसा होता है कि उसे भूख न भी हो तो भी मार ही डालता है! इसे कुछ अपनी जैसी संग्रहखोरीकी आदत होती है. मुझे लगता है कि कदाचित् जंगलमें ये असुर होंगे. बाकी कोई बिचारे सिंह जैसे प्राणी मनुष्य अथवा देवता जैसे होते होंगे. जंगलमें भी कोई देव, तो कोई मनुष्य तो कोई असुर भी होते होंगे. सांपके बारेमें भी ऐसा है कि जब तक इसे मनुष्य छेड़े नहीं तब तक यह मनुष्यको काटता नहीं. लेकिन मनुष्य इतने आसुरी भावसे

ग्रस्त होता है कि सांपको देखा नहीं कि मारो मारो मारो का शोर मचा देता है. अपनी ऐसी आसुरीवृत्तिके कारण बहुत सारे निर्दोष प्राणियोंकी हम हत्या कर देते हैं.

(3) मनुष्योंकी मनुष्यताके लिये तो ब्रह्माजी कहते हैं कि दान करो. दान अर्थात् तुम्हें जो कुछ भी लेना हो तो वह जरूर लो लेकिन दान देकर लो. दिये बगैर कोई वस्तु लेना यह मनुष्यता नहीं है. अर्थात् शास्त्रकी जो प्राचीन प्रणाली थी – चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो या चाहे इन चार वर्णोंके बाहरका कोई हो; सबके लिये शास्त्रने किसी न किसी प्रकारका दान देनेका निर्धारण किया है. प्रत्येक अपने आपसे कह अथवा पूछ सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति क्या दे सकता है? जो व्यक्ति जो दे सकता है तो वह उसे अवश्य देना चाहिये. उसके बदलेमें उसे भी कुछ अवश्य मिलेगा ही. अतएव गीतामें भगवान कहते हैंः

देवान् भावयतानेन ते देवाः भावयन्तु वः .
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ..

यह एक दानका चक्र है. तुम किसीको दान दे रहे हो तो तुम किसीके ऊपर उपकार नहीं कर रहे हो क्योंकि तुमने भी तो बहुत कुछ लिया है. इसीलिये तो तुम्हें किसी अन्यको देनेका उपदेश दिया जा रहा है. अर्थात् दानको तुम अपनी उपकारकी वृत्ति मत मानो लेकिन कर्तव्य मानों. जिस समय अपनेमें दानवीरके समान विख्यात होनेकी भ्रमपूर्ण महत्वाकांक्षाकी मनोविकृति प्रबल हुई, अर्थात् प.भ. बननेकी उसी समयसे सब लफड़े खड़े हो जायेंगे. वास्तवमें दान तो मनुष्यका पहला कर्तव्य है.

अब कौन क्या दे सकता है? तो जिसके पास जो वस्तु होगी वही तो वह दे सकेगा न! ब्राह्मणके पास तो ज्ञान है तो इसे ज्ञान देना चाहिये. शास्त्र कहता है कि ब्राह्मण तू ज्ञानदान कर तो तेरा पोषण ब्राह्मणेतर समाज करेगा. क्षत्रियके पास

शारीरिक सामर्थ्य है. तो शास्त्र कहता है कि तू तेरे शारीरिक सामर्थ्यके अनुरूप समाजको अभयदान दे तो तेरा भरणपोषण क्षत्रियेतर समाज करेगा. वैश्यके पास धनधान्य इत्यादि होता है तो वैश्य बेईमानी करे बगैर वाणिज्य समाजको दे, तो उसके कर्तव्यके बारेमें मार्गदर्शन, संरक्षण एवं श्रम वैश्येतर वर्णसे मिलता रहेगा. जो शूद्र हैं वह अपना श्रम दे सकते हैं तो उन्हें अपना श्रमदान करना चाहिये, तो समाजको उनके श्रमानुरूप उनका भरण पोषण करना चाहिये.

स्वकर्मणा तमभ्चर्य सिद्धिं विन्दति मानवः यह भगवान गीतामें आज्ञा करते हैं **प्रत्येक व्यक्तिका स्वकर्मनिर्वाह यह दान ही है**. अपने पास जो हो उसे भली प्रकार दो. यह आदि उपदेश है. ऐसी भावनासे नहीं कि मैं किसीके ऊपर उपकार कर रहा हूं, कर्तव्यभावसे दान दो. अगर और आगे बढ़ना चाहते हो तो कर्तव्यभाव से भी नहीं बल्कि ब्रह्मभावसे दो. तुम जो कुछ किसीको दे रहे हो तो मनमें ऐसा भाव रखो कि **ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना** ऐसे ब्रह्मभावसे जो व्यक्ति दान देता है उसके समस्त जीवनमें एक ब्राह्मिक विस्तार उपस्थित हो जाता है. ऐसा ब्राह्मिक विस्तार कि इसकी दान देनेकी सारी प्रक्रियामें एवं दान देनेके ऐसे कर्तव्यपालनमें शोकमोहातीत ब्रह्मानंद जैसी शान्ति समाजमें प्रवर्तित हो जाती है. समाज द्वारा इसे जो कुछ मिलता है वह उसका ब्राह्मिक अधिकार बन जाता है. किसी भी संयोगमें पहले कर्तव्य तथा बादमें अधिकारका क्रम आता है.

व्यक्तिके स्वकर्तव्य निर्वाहके बाद उसके सामाजिक अधिकारोंकी महत्ताः

आजकलतो सब कुछ उल्टा हो गया है. पहले अधिकार चाहिये तत्पश्चात् कर्तव्य निभानेकी बात विचारूंगा. और बादमें

कर्तव्य निभानेके लिये वह कल कभी नहीं आती. जैसे दुकानोंमें लिखा होता है कि आज नगद कल उधार. लेकिन वह कल तो कभी आती ही नहीं. कारण कि दूसरे दिन जाओ तो भी वही तो लिखा होता है कि आज नगद कल उधार. अर्थात् उधार नहीं मिलता. इस प्रकार आज प्रत्येक समय हमको ऐसा लगता है कि आज तो हमें हमारा अधिकार दे दो और अपना कर्तव्य निभानेकी बात हम कल विचारेंगे.

स्वकर्तव्य निर्वाहमें दायें बायेंका भेद :

लेकिन ऐसा नहीं है. शास्त्र इस बारेमें एकदम स्पष्ट विधान करते हैं कि **कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः** जो करना है वह तुम दायें हाथसे करो तो बायें हाथमें सफलता अपने आप आ जायेगी. यह दायें और बायें हाथ तो केवल कहने मात्रके हैं. दायां हाथ अर्थात् जो काम हम अपनी सामर्थ्यके, अपने संकल्पके, विवेकशक्तिके प्रयोगसे करते हैं. और जो सामर्थ्य, संकल्प अथवा विवेकशक्ति बिना हो जाता हो तो उसका नाम बायां हाथ. तो किसीका यह हाथ दायां होता है तो किसीका दूसरा हाथ दायां होता है. यह तो मनुष्यकी अपनी अपनी आदतके ऊपर निर्भर करता है. यहां दायें बायेंका सवाल नहीं है लेकिन करनेका सवाल है कि जो कुछ करो वह दायें हाथसे करो. जो सफलता है वह तो बायें हाथमें अपने आप ही आयेगी. बायें हाथको बहुत प्रयोगमें लानेकी आवश्यकता नहीं है. दायां हाथ सामर्थ्यवाला होता है.

लेकिन होता है बिल्कुल ही उल्टा. सफलताके लिये हमलोग दायां हाथ पसारते हैं और अपने कर्तव्य निभानेके लिये अपना बायां हाथ हल्केफुल्के तरीकेसे लगाते हैं. **फूल नहीं तो फूलकी पंखुडी** समझकर प्रयोगमें लाते हैं. **जो हो रहा है वह कर रहे हैं बाकी तो परमात्मा ही करता हैं न! हमारी क्या सामर्थ्य?** ऐसा कह कर छुट्टी कर देते हैं. यह भावभी

अच्छा है कि सब कुछ परमात्मा करता है, हम तो कुछ करते ही नहीं. **कर्ता कारयिता हरिः** यह बात सच्ची है. तो बात इसमें समझनेकी यह है कि ऐसे समय भी बायां हाथ प्रयोगमें लाना चाहिये. लेकिन इसे प्रयोगमें नहीं लाते परन्तु इसमें दायां हाथ घुसेड़ देते हैं. इसमें भी अगर बायां हाथ प्रयोगमें जाओ तो कोई दिक्कत नहीं. लेकिन करनेके लिये तो दायां हाथ है और लेनेके लिये बायां हाथ है. इसको ठीक प्रकारसे अमलमें न लानेपर ही परेशानी होती है. इस संसारमें जो कुछ भी महाभारत होती है वह यह ही है. हम लोग दायें बायेंका ठीक प्रकारसे विवेक नहीं कर पाते. शास्त्रकी तो बहुत ऊंची भावना है कि कर्म फल पानेके झंझटमें पड़े बगैर **कृतं में दक्षिणे हस्ते** जो करना है वह तुम निष्ठापूर्वक करो. यह ही भगवानने गीतामें कहा है :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन.
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि..

अगर हम ऐसी भावना रखें तो कोई समस्या ही नहीं होगी. इससे समझ लेना चाहिये कि कर्म करनेके लिये दायां हाथ अच्छा है और फल लेनेके लिये बायां हाथ अच्छा है. लेकिन फल लेनेके लिये दायां हाथ अतिनिकृष्ट है, खतरनाक है और कर्म करनेके लिये बायां हाथ निकृष्ट है. यह बात सबको समझमें तो आती है परन्तु अमलमें नहीं आती. अतएव महाभारत खड़ी हो जाती है. अर्थात् हमें करना धरना कुछ नहीं परन्तु देखने और पानेको बहुत कुछ चाहिये. इस हकीकतको हम नहीं समझते, इसी कारण यह महाभारत उस समय हुई थी. और आज भी हो रही है और भविष्यमें भी होती रहेगी.

गीता उपनिषद् है अथवा शास्त्रः

ऐसी महाभारतके समय अर्जुन जैसा कोई मनुष्य घबरा जाये तो परमात्माके अतिरिक्त और दूसरा कौन साथ देगा? परमात्मा इस महाभारतमें रथ नहीं हांकेगा तो और कौन हांकेगा? अर्थात् भगवान कहते हैं कि **चल अब तेरी इस महाभारतमें तेरा रथ मैं हांकूगा. तू रथी बन और मैं तेरा सारथि.** इस सारथिने जो उपनिषद् कहा – जो गुफ्तगुकी, जो कानमें बात कही, दिल खोलकर इसने जो अपना भाव, रहस्य समझाया वह तो उस समय उपनिषद् था. लेकिन जो वस्तु अर्जुनको उपनिषद्के तौर पर कही गयी वह हम लोगोंके लिये शास्त्र बन गई. अर्थात् जिसे पहले **कृष्णार्जुनसंवादे भगवद्गीतासूपनिषत्सु** कहा गया वह ही हमारे लिये **एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्** कहलाता है. अब वह शास्त्र बन गया.

शास्त्र और उपनिषद्में थोड़ा अंतर है. उपनिषद् आपसमें एक दूसरेकी वार्तालाप है; यह गुरु शिष्यमें होता है, प्रस्तुत संदर्भमें रथी–सारथि हैं अथवा सखा हैं. और शास्त्रका तात्पर्य होता है मर्यादा. अर्जुनको जो उपदेश प्रभुने दिया वह आज अब, उपनिषदोंसे जो लोग ज्ञान लेना चाहते हैं उन सबके लिये एक मर्यादा बन गई.

उपनिषदोंका अर्थ किस प्रकार करना उसके लिये श्रीमहाप्रभुजी शास्त्रर्थ प्रकरणमें आज्ञा करते हैं कि:

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्रणि चैव हि.
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्..

श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि वेदोंका अर्थ भगवानने गीतामें जिस प्रकार किया है उसके विपरीत कभी भी नहीं करना. गीतासे विपरीत अर्थ वेदोंका तुम्हें तुम्हारे बुद्धिवैभवसे स्फुरता हो तो वह गलत. और तुम्हारी बुद्धिसे तुम्हें समझमें नहीं आता हो कि वेदका यह गीतोक्त अर्थ वास्तविक किस प्रकार हो सकता है तो भी भगवानने जो अर्थ किया है वह अर्थ सच्चा. अपनी बुद्धिमें कुछ खुराफात हो सकती है पहले

देवकी, दानवकी अथवा मानवकी. लेकिन भगवानने जो **सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः** इस, गोपालनंदनने, सर्वोपनिषदोंका जो सार कहा है वह सच्चा. एक बात समझो कि उपनिषद् यह समस्त वेदोंके रहस्य एवं उपनिषदोंका जो रहस्य वह गीता. गीता इस प्रकार **एकं शास्त्रं** है. वह किस कारण सर्वशास्त्र–सर्वसंदेहनिवारक शास्त्र है? इसका कारण एकही है कि भगवान स्वयं इन रहस्योंके रहस्यको हमें गीता द्वारा समझा रहे हैं. इसलिये श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि उपनिषद् अथवा किसी भी वेदकी श्रुतिका अर्थ गीताके आधार पर समझना चाहिये. गीतासे विरुद्ध कोई भी उपनिषद्का अर्थ हमें नहीं समझना चाहिये.

उपनिषदोंमें किसी भी स्थान पर ऐसा वर्णन नहीं आया कि कृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं, वहां ब्रह्मका वर्णन आता है, परब्रह्मका वर्णन आता है, अक्षरब्रह्मका वर्णन आता है, बहुतसे देवताओंका वर्णन आता है; लेकिन कृष्ण ब्रह्म है ऐसा वर्णन, इतना स्पष्टतर वर्णन वेदोंमें अथवा उपनिषदोंमें नहीं मिलता. कुछ उपनिषदोंमें कहीं कहीं ऐसा वर्णन आता है परन्तु दूसरे उपनिषदोंमें अन्य देवताओंके लिये भी वैसा वर्णन आता है. तत्पश्चात् फिरसे विषयमें संदिग्धता आ जाती है. अगर तुम कृष्णोपनिषद् अथवा गोपालतापिन्युपनिषद् पढ़ोगे तो तुम्हें ऐसा लगेगा कि हां कृष्ण परब्रह्म है, परमात्मा है. उसके बाद तुम शिवोपनिषद् शक्त्युपनिषद् अथवा रामतापिन्युपनिषद् पढ़ोगे तो उनके बारेमें भी ऐसा ही वर्णन मिलता है. अतएव निर्धारण नहीं होता कि इनमें कौनसा उपनिषद् ठीक और कौन सा गलत. वास्तवमें तो अपने प्राचीन कालमें ऐसी दृष्टि ही नहीं थी. प्रत्येक उपनिषद् सच्चा लेकिन इसका अर्थनिर्धारण किस प्रकार करना कि वेदमें जिसे **ब्रह्म** कहा गया है वह भगवान श्रीकृष्ण स्वयं हैं कि नहीं, अगर स्वयं श्रीकृष्ण गीतामें ऐसा उद्घोष न करते हों तो. हमें पता ही नहीं चलेगा कि कृष्ण

परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम हो सकता है. **एको देवो देवकीपुत्र एव** यह वेदोंके आधार पर सिद्ध करना बहुत कठिन काम है.

एक बात और समझलो कि गीतामें जो कुछ कहने में आया है, उससे सबके संदेह निवृत्त हो जाते हैं ऐसा नहीं है लेकिन श्रीमहाप्रभुजी ऐसा कह रहे हैं कि **मेरे सब संदेह निवृत्त हो गये हैं; और जो मेरे हैं उनके भी संदेह निवृत्त हो जाने चाहियें**. उससे दूसरेका संदेह निवृत्त होता है कि नहीं उस उलझनमें हमें नहीं पड़ना चाहिये. वेदोंमें भले ही श्रीकृष्णका परब्रह्म–परमात्माके समान निरूपण न हुआ हो लेकिन भगवद्गीता अगर हमें मान्य है और उसमें अगर कृष्णका परब्रह्म–परमात्माके समान निरूपण हुआ है तो हमारे लिये श्रीकृष्ण ही परब्रह्म–परमात्मा हैं. **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्. ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते त्रितये त्रितयं वाच्यं क्रमेणैव मयात्र हि**. यह श्रीमहाप्रभुजीका जो दृष्टिकोण है कि एकही तत्वको उपनिषद् **ब्रह्म** कह रहा है, स्मृतियां **परमात्मा** कह रही हैं और भागवत् **भगवान** कह रही है, यह तत्व कोई तीन तत्व नहीं हैं; एकही तत्वके तीन प्रकारके पहलू हैं, व्यवहार हैं, क्रियाकलाप हैं. इससे हमें समझ लेना चाहिये कि यह श्रीकृष्णही हमारे परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम, भगवान हैं.

गीताजी का महत्व भूलने पर पुष्टिमार्गको हुई हानिः

गीता इतनी मजबूत नींव पर आधारित शास्त्र है कि उस मुद्दे को समझानेके लिये ही इतना विस्तार किया.

क्योंकि बहुतसे लोग ऐसा कहते हैं कि गीताके ऊपर आप किसलिये प्रवचन कर रहे हो?! एक मांजीने मुझसे पूछा कि **हम तो पुष्टिमार्गीय हैं तो अपनेको इस गीताजीसे क्या लेना देना?** मैंने कहा कि **ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि गीताजीसे हमें बहुत कुछ लेना देना है और गीताजी जो हमारे पास नहीं हों तो हमारे पास कुछ भी नहीं रह जायेगा. यह**

बात तुम समझो. बादमें उसने पूछा कि **गीतामें किसपर प्रवचन करोगे?** मैंने कहा कि **श्रीपुरुषोत्तमयोगपर करना है.** तो उसने कहा कि **पुरुंसोतम तो आप स्वयं, इस पर प्रवचन क्या करना?** तो मैंने भी हंस कर कहा **हां, मैं पुरुंसोतम!** अर्थात् पूरी तरहसे सोता हुआ ही हूं.

लेकिन हमको समझना चाहिये कि कोई पुरुषोत्तम हो या पुरुंसोतम इसका निर्धार करनेकी हमारे पास कोई कसौटी तो होनी चाहिये न! कारण कि हम जिसे पुरुषोत्तम मानते हैं यह कहीं पुरुंसोतम (पूरी तरहसे सोता हुआ) न हो इसकी क्या गारण्टी? अतएव मुझे ऐसा लगा कि इसके लिये पुरुषोत्तमयोग ही ठीक रहेगा. कारण कि पुरुषोत्तमयोगको भलीभांति समझलें तो हमारी बहुतसी भ्रांतियां दूर हो सकती हैं.

अनन्यभक्तिसे पुरुषोत्तम अनुभूत होता है और पुरुषोत्तमके भानसे सच्चा भक्तिभाव खिलता है:

केशोदमें **'भक्तिवर्धिनी'** के ऊपर प्रवचन किये थे तो जो भक्तिको हम प्रमाण जानते हों; प्रमाण अर्थात् जाननेका साधन, तो पुरुषोत्तम प्रमेय है. अर्थात् ये दोनों बातें एक दूसरेसे संबंधित हैं. जैसेकि आंख और रूप, नाक और गंध, जीभ और स्वाद. हमारे सामने शक्कर पड़ी हो लेकिन हमारी जीभ ठीक न हो तो शक्करका स्वाद अच्छा नहीं लगेगा. इसी प्रकार यह दोनों वस्तु एक दूसरेके साथ संबंधित हैं. हिन्दीमें एक कहावत है कि **बीन बजाओ भैंसको भैंस खड़ी बगुराय**. तो भैंसके आगे कोई बीन बजाये तो भैंसको कुछ समझमें नहीं आयेगा, यह तो घासकी ही जुगाली करेगी! अतः जो जिसका विषय नहीं है उसे उस व्यक्तिको समझानेसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा. इसी प्रकार जिसमें पुरुषोत्तम समझनेकी योग्यता नहीं है उसके लिये भक्ति निरर्थक है और जिसे भक्ति सार्थक है उसे ही

पुरुषोत्तम समझमें आयेगा. क्योंकि पुरुषोत्तमकी भक्ति होती है और भक्तिद्वारा पुरुषोत्तम जाना जाता है. भक्ति न हो, ज्ञान हो तो तुम्हें ब्रह्मकी जानकारी होगी. ज्ञान न हो और कर्म हो तो तुम्हें ईश्वरका बोध होगा. कर्म भली प्रकारसे किया होगा तो ईश्वर तुम्हें सफलता देगा, अगर भली प्रकार नहीं किया होगा तो ईश्वर तुम्हें वांछित फल नहीं देगा. लेकिन अगर भक्ति न हो तो पुरुषोत्तमता नहीं जानी जा सकती.

इसका कारण तुम समझो कि **पुरुषोत्तम** शब्द अपने आपमें इस बातका प्रमाण है कि पुरुषोंमें जो उत्तम हो वह पुरुषोत्तम. पुरुष तो हम सब लोग हैं. गीता तो इसके आगे चलते हुये कहती है कि क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष. यह जितना भी जड़ जगत है वह क्षरपुरुष है और जो चेतन जगत है वह अक्षरपुरुष है. तो **यस्मात् क्षरमतीतोहम् अक्षरादपि चोत्तमः अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः** तो क्षर अक्षरसे उत्तम जो हो वह पुरुषोत्तम.

अर्थात् एक यह पुरुषोत्तम और दूसरा पहला पुरुंसोतम. यह कोई दूसरा ही पुरुषोत्तम है. यह क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम और इस पुरुंसोतमको हमें एकत्रित नहीं करना है, नहीं तो बात बिगड़ जायेगी. भक्तिका जो स्वाद आना चाहिये वह नहीं आयेगा. उदाहरणके तौर पर जैसे दूधमें कोई मिर्च डालदे तो दूधका स्वाद बिगड़ जायेगा. वैसी ही भक्तिमें किसी पुरुषको डाल दो या पुरुषमें भक्तिको डालदो तो इस मिलावटके कारण भक्तिका अथवा पुरुषका दोनोंका स्वाद ही बिगड़ जायेगा. अतएव उस दिव्य पुरुषोत्तमके स्वादका अगर मजा लेना है तो अपनी जीभ भक्तिमयी होनी चाहिये. अगर अपनी जीभ भक्तिमय नहीं है तो हम पुरुषोत्तमके स्वादका आनन्द नहीं ले सकते. अगर अपनी दृष्टि भक्तिमय नहीं है तो हम पुरुषोत्तमके दर्शन नहीं कर सकते. अगर हमारे कान भक्तिमय नहीं हैं तो हम पुरुषोत्तमको नहीं सुन सकते. भक्तिमयी अपनी

त्वचा नहीं है तो पुरुषोत्तमका स्पर्श हम नहीं कर सकते. एक दूसरेके साथ इतनी घनिष्टतासे जुड़ी हुई ये दोनों बातें हैं.

ब्रह्मके शुद्धाद्वैतमें अनन्यभक्तिकी वृद्धि = पुरुषोत्तम :

केशोदमें भक्तिवर्द्धिनीके प्रवचन जो मैंने किये थे उसके अनुसंधानमें मुझे ऐसा लगा कि अब इस पुरुंसोतम द्वारा पुरुषोत्तमका कुछ वर्णन हो जाना चाहिये. और कुछ नहीं तो भक्तिका दूसरा पहलू तो हम लोगोंको मालूम पड़ेगा कि भक्ति किसपर अवलम्बित है? जिस पर अवलम्बित होती है भक्ति, उसका नाम **पुरुषोत्तम** और भक्ति इस पुरुषोत्तमको छोड़कर दूसरेका अवलम्बन लेगी तो वह फिर भक्ति ही नहीं रह जाती. और पुरुषोत्तमको अगर तुम भक्तिके अतिरिक्त किसी दूसरे साधनसे देखने जाओगे तो वह तुम्हें ब्रह्मके रूपमें दिखेगा परन्तु पुरुषोत्तमके रूपमें नहीं. क्योंकि यह तो तुम्हारे हृदयके भक्तिभाव ही तुम्हें समझा सकते हैं कि मैं पुरुष और यह मेरेसे ऊपर चढ़ता पुरुषोत्तम. यह भक्तिभाव अगर नहीं है तो शुद्धाद्वैतके तात्त्विक स्वभावमें तुम्हारेसे अतिरिक्त किसीकी उत्तमता तुम्हें अनुभूत नहीं होगी.

यह मैं तुम्हें श्रद्धाकी बात नहीं कह रहा. थोड़ी गंभीरतासे इस बातको समझोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धांत जगत और जगदीशके बीच शुद्धाद्वैतका है. शुद्धाद्वैतका सिद्धांत अर्थात् **सर्वं खलु इदं ब्रह्म** जो कुछ है वह सब ब्रह्म है. अगर सब कुछ ब्रह्म है तो इसमें पुरुषोत्तम कहांसे आ गया? यह प्रश्न तो खड़ा हो सकता है न! जब तुम भी ब्रह्म और मैं भी ब्रह्म; और इस प्रकार सब कुछ ब्रह्म है तो पुरुषोंसे उत्तम कोई पुरुषोत्तम कौन हो सकता है? लेकिन दयारामभाईने बहुत सुंदर कहा है कि **सहु बराबर कृष्ण छे नथी कृष्ण बराबर कोय. सागर–छोळयोने दृष्टांते**

शाणा समझी जोय.. सदा श्रीकृष्णने सेवो रे. समझी ल्योने हवे सुधो सिद्धांत..

जगतकी जड़–चेतन सब बस्तुओंके बराबर कृष्ण है परन्तु कृष्णके बराबर कोई हो नहीं सकता. शुद्धाद्वैतकी प्रकृतिके कारण श्रीकृष्ण सबको विलस रहे हैं, सब रूपोंमें. जो कोई देव, जो कोई दानव, जो कोई मानव, जो कोई जड़, जो कोई चेतन अस्तित्वान है वे सब श्रीकृष्णही हैं. सब कुछ कृष्ण है अर्थात् सब ब्रह्मही है : **ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे**. इस दृष्टिसे देखनेपर पुरुषोत्तम जैसा कुछ रह ही नहीं जाता. क्योंकि प्रत्येक वस्तु अगर ब्रह्म ही है और पुरुषोत्तमसे भिन्न कक्षाकी वस्तु कोई है ही नहीं तो फिर सबसे उत्तम कक्षाका पुरुषोत्तम किस प्रकार हो सकता है?

भगवानभी स्वयं गीतामें कहते हैं – **भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धिरेव च. अंहकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा.. अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्. जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत..**

अर्थात् भौतिक जड़रूपी एवं जीवरूपी जो सृष्टि है वह सब ब्रह्मही सिद्ध होती है. जब जड़ जीव दोनोंही श्रीकृष्णद्वारा धारण किये विविध रूप ही केवल हों तो इन रूपोंमें भला कोई रूप पुरुषोत्तम कहांसे हो सकता है? उत्तर है कि हो सकता है क्योंकि जब हृदयमें भक्ति हो तो पुरुषोत्तम भी वहां आ सकता है. यह आये तो हमें भी दयारामभाईकी तरह यह बात बुद्धिमें आ जायगी कि **सहु बराबर कृष्ण छे नथी कृष्ण बराबर कोय, सागर–छोळयोने (लहरोंके) दृष्टांते शाणा समझी जोय.** जो समुद्र है वह ही तरंग अथवा लहर बनता है. इस कारण लहरें समुद्र ही हैं. सागरमें यह सामर्थ्य है कि वह लहर बन सकता है लेकिन वह सामर्थ्य लहरोंमें नहीं होती कि वह सागर बन जाये. एक नहीं अनेक लहरें बनने वाला कौन? तो हम कहेंगे कि सागर. यह होते हुये भी लहरोंका सृजन करने वाला

सागर नहीं मिलता . अतएव तरंगे आखिरमें तरंगे ही होती हैं जबकि सागर तो लहरोत्तम अथवा तरंगोत्तम है. तरंगोत्तम जो हो उसका नाम सागर.

अर्थात् जो कुछ है वह सब पुरुष है यह होते हुयेभी कोई पुरुषोत्तम हो सकता है सागरकी तरह. यह समग्रताका दर्शन करने वाली दृष्टि है. एकांगी ज्ञानमार्गीय अनुभूतिप्रधान एकांगी दृष्टिसे देखोगे तो तुम्हें पता ही नहीं चलेगा. लेकिन समग्रताको स्वीकारते हुये जो भक्तिकी दृष्टि है उससे देखो अर्थात् तुम तरंगोको भी देखो – एकके बाद दूसरी आती तरंगोको देखो, परन्तु तरंगोंको देखते हुये तुम उनमें इतने खो भी न जाओ कि सागरको ही भूल जाओ. तरंगोंको देखते देखते तुम्हें सागर भी दीखता है तो यह है समग्रताकी दृष्टि. और सागरको इस प्रकारसे भी मत देखो कि तुम उसकी तरंगोकी मस्तीको भूल जाओ. इस प्रकार दोनोंको जब तुम देख सको तबही तुम्हें पता चलेगा कि समद्र कैसा लहरोत्तम है! अतएव दयारामभाई कहते हैं – **सहु बराबर कृष्ण छे नथी कृष्ण बराबर कोय, सागर– छोळयोने दृष्टांते शाणा समझी जोय, सदा श्रीकृष्णने सेवो रे!'**

भक्तिवर्द्धिनीके प्रवचनके बाद मुझे ऐसा लगा कि अब हमें पुरुषोत्तमयोगका अवगाहन करना चाहिये. हमने भक्तिभावका विचार किया, रसभावका विचार किया, अब उसके पश्चात आता है भक्तिके आलंबनविभावका अवगाहन. इस भक्तिरसके भावका आलंबनविभाव क्या है? वह पुरुषोत्तम है. इस कारण हमें पुरुषोत्तमयोगपर विचार करना जरूरी है. इस शिविरमें उस दृष्टिसे कि भक्तिवर्धिनीका कुछ पूरक विचार हमारे ध्यानमें आयेगा कि वास्तविक पुरुषोत्तमका ही भक्तिमें आलंबन कैसे लें और वास्तविक पुरुषोत्तमका स्वरूप कैसा होना चाहिये?

साथ साथ में एक बातका स्पष्टीकरण और करना चाहूंगा कि पुरुषोत्तमयोगका विचार हम लोग गीतातिरिक्तभी कर सकते हैं लेकिन गीताके साथ ही करेंगे क्योंकि **गीता सुगीता कर्तव्या**. तो फिर किसलिये कोई दूसरा शास्त्र इस उद्देश्यके लिये लें. अतएव गीताके आधार पर ही हमने पुरुषोत्तमयोग लिया है.

गीता एवं विविध संप्रदायः

गीतामें पुरुषोत्तमयोग छोटेमें छोटा योग है. सबसे प्रमुख समझनेकी बात इसमें यह है कि भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंमें गीताके मुख्य संदेशके बारेंमें बहुत विवाद हैं. वास्तवमें तो इतने विवाद हैं कि अंगुली पर नहीं गिने जा सकते अर्थात् बहुत मतभेद एवं अलग अलग पक्ष हैं. इसके उपरान्त इसकी खूबसूरती यह है कि समग्र विश्वमें कोई एक ऐसा शास्त्र है तो वह यह भगवद्गीता ही है कि जो भी सम्प्रदाय गीताको मानता है उस सम्प्रदायको इसमें अपने सिद्धांत कहीं न कहीं मिल ही जाते हैं.

शंकराचार्यजीको इसमें ब्रह्मात्म्यैक्यज्ञानलभ्य निर्गुण ब्रह्म मिल जाता है, वैष्णवाचार्योंको इसमें भक्ति–प्रपत्त्येक्लभ्य नारायण– परब्रह्मतावाद मिल जाता है, लोकमान्य तिलक जैसे कितने ही कर्मवादियोंको इसमें कर्मवाद मिल जाता है. यह तो समझमें आया लेकिन जो लोग इस देवकोटिके कृष्ण इत्यादिमें श्रद्धा नहीं रखते हैं ऐसे अनीश्वरवादी लोग भी इसमेंसे ऐसे सूत्र खोज लेते हैं कि श्रीकृष्ण केवल एक महान व्यक्ति थे! गीतामें एक जगह नहीं परन्तु अगणित स्थानोंपर **मैं परब्रह्म हूं**, ऐसा संबोधन श्रीकृष्णने किया है तद्उपरान्त **आप परब्रह्म हो** ऐसा भी कहनेमें आया है. यह सब होते हुये भी कितने लोगोंको ऐसा लगता है कि कृष्ण स्वयंही परमेश्वर होनेके अर्थमें परब्रह्म नहीं हैं, जिस अर्थमें कृष्णभक्तिकी संप्रदायवाले

कृष्णको परब्रह्म समझते हैं. कृष्ण तो, स्वयं ब्रह्मज्ञानी होनेके कारण, जीवब्रह्मैक्यकी अनुभूति सबको शक्य है, इस अर्थमें **मैं परब्रह्म हूं** ऐसा कह रहे हैं. उनके मतानुसार श्रीकृष्ण ऐसा कुछ कहना चाह रहे हैं **समस्त अज्ञानियों! तुम समझ जाओ कि तुम भी परब्रह्म हो परन्तु तुम अज्ञानी हो इसलिये समझते नहीं. मैं समझ गया हूं कि मैं परब्रह्म हूं!**. ऐसा भी बहुतसे लोग व्याख्यान देते हैं. तथाकथित एक महापुरुषसे किसीने पूछा **अगर आप वास्तवमें भगवान हो तो क्या आपने यह सारा जगत रचा है?** तब उन्होंने कहा **मेरे पास आओ, यह रहस्य कानमें कहने का है**. बादमें उसने उसके कानमें कहा **हां मैंने यह जगत बनाया है. लेकिन तुम किसीको कहोगे तो मैं ना ही कहूंगा!**

अब इसका जवाब कोई क्या दे सकता है! मूल बात सुननेपर हमें हंसी जैसी लगती है लेकिन इसके पीछे भी तात्विक दृष्टि रही हुई है. तात्विक दृष्टि यह कि यह लोग ईश्वरके अस्तित्वमें ही श्रद्धा नहीं रखते. अब इन लोगोंको जब गीता पढ़नी हो, गीताके ऊपर कुछ कहना हो, तो गीतामें ईश्वर दीखना बंद हो जाता है ना! कहां है ईश्वर? भले ही भगवान कहते हों **मत्तः सर्वं प्रवर्तते** लेकिन इनको ऐसा लगता है कि **मत्तः सर्वं प्रवर्तते** अर्थात्? मेरा तेरा देखने वालेकी दृष्टिके कारण ही जगत प्रवर्तित हुआ है. तुम्हें नहीं लगता कि तुम्हारेमें से प्रवर्तित हो रहा है इसलिये तुम्हें यह कहनेमें संकोच हो रहा है. करो ऐसा दावा कि तुम्हारेमें से ही सब कुछ पैदा हो रहा है तो तुम भी जगतके कर्ता बन जाओगे. तुम भी जगतके पालक बन सकते हो. अब यह बात अलग है कि दूसरेके सामने तुम दिन दहाड़े मत कहो लेकिन अन्दरूनी तौर पर समझ जाओ कि यह सारा जगत मैंने ही बनाया है, सारे जगतका पालन मैं ही कर रहा हूं, जगत मेरेमें से पैदा हो रहा है, जगत मेरेमें स्थित है और मेरेमें ही लीन होने वाला

है. लीन किस प्रकार होता है तुम्हारेमें? तो जिस दिन तुमने अपनी आंख खोली थी उस दिन जगत तुम्हारी आंखोमें पैदा हुआ था कि नहीं? तो तुम्हारी आंखोंमें जगत पैदा हो गया इस कारण तुम्हें वह दिखाई दे रहा है, सुनाई दे रहा है. इस प्रकार वह जगत तुम्हारेमें स्थित हुआ कि नहीं? जिस प्रकार कैमरेके लैन्समें बाहरकी दीखती छबि आ जाती है, क्लिक करनेके साथ ही स्थित हो जाती है कि नहीं ? उसी प्रकार हम आंखको क्लिक करते हैं, कानको क्लिक करते हैं, नाकको क्लिक करते हैं, जीभको क्लिक करते हैं, चमड़ीको क्लिक करते हैं तो जो बाहरका जगत है वह भीतर आ जाता है. अन्तमें जब हम आंख मींचते हैं तब जगत अपनेमें लीन हो जाता है. इस प्रकार परब्रह्मका लक्षण, **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति** वह हमारे ऊपर भी लागू होता है कि नहीं?

मुख्य रूपसे नहीं तो सूक्ष्म रूपमें तो वास्तवमें हम भी परब्रह्म हैं. जैसे बड़ा रेडियो होता है वैसे ही मिनी ट्रांजिस्टर होता है न, मिनी कैमरा भी मिनोल्टा टाईपका आता ही है. इसी प्रकार हम सब परब्रह्म हैं. लेकिन कैसे परब्रह्म? तो मिनी परब्रह्म तो हैं कि नहीं! कारण कि अपनेमें से भी कोई तो पैदा हो रहा है, क्लिक हो रहा है और अपनेमें कोई लीन भी हो रहा है. यहां तलक तो कुछ तकलीफ नहीं है. लेकिन महाप्रभुजीकी दृष्टिसे विचारोगे तो यहां ही एक बड़ी मुश्किल आ रही है.

मिनी ब्रह्मकी बड़ी मुश्किल!

एक उपदेशकजी प्रवचन कर रहे थे कि **मैं निर्गुण निर्धर्मक निराकार शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूं और मेरेमें न तो देह अथवा इन्द्रियां, न तो प्राण अथवा तेरे मेरेका द्वैत. यह जो जगत है वह मेरेमें मिथ्या असत्य भासित हो रहा है.** इतनेमें

उपदेशकजीकी दाढ़में दर्द उठा. इतना तेज दर्द कि बोला ही न जाय. अन्तमें प्रवचन भी रोकना पड़ा. बादमें उन्होंने कहा **आज तो प्रवचन यहीं समाप्त करते हैं, आगेका प्रसंग कल कहेंगे**. दूसरे दिन डाक्टरको दिखाया तो उसने कहा कि आपके दांतोमें पायोरिया हो गया और आपको दाढ़ तो निकलवानी पड़ेगी अन्यथा बहुत तकलीफ होगी. परिणामस्वरूप प्रवचन दो चार दिन बंद हो गया.

हम सब ऐसे मिनी ब्रह्म हैं! सब जगत मिथ्या है, देहके भेद मिथ्या हैं, इन्द्रियोंके भेद मिथ्या हैं, मेरे तेरेका भेद मिथ्या है; लेकिन जब दाढ़ दुःखती है तब वह तो मिथ्या नहीं है न! उसको तो डाक्टरके पास जाकर निकलवाना ही पड़ेगा. दाढ़को निकलवानेके बाद, उसके दर्दके ठीक होनेके बाद, दाढ़ फिरसे मिथ्या हो जाती है. दाढ़ का जो दर्द हुवा वह भी दाढ़को निकलवानेके बाद मिथ्या. निकालने वाला डाक्टर और उपदेशकका द्वैत भी मिथ्या. तू भी मिथ्या और मैं भी मिथ्या इस प्रकार सब मिथ्या. ऐसा उपदेश करना तो बहुत आसान है लेकिन उसमें कई तकलीफें आ रही हैं कि दाढ़ निकलवाये बगैर ऐसा उपदेश नहीं दिया जा सकता. दाढ़ निकलवानेके बाद ही भली प्रकारसे उपदेश दिया जा सकता है. आराम आनेके बाद उपदेश दे सकते हैं कि सब मिथ्या है, अतएव दाढ़ निकलवानी भी मिथ्या है! सब शंकाओंका समाधान दिया जा सकता है.

संस्कृतमें मजाकमें एक बात कही जाती है. एक महाराज उपदेश दे रहे थे कि **सारा जगत मिथ्या है, यह मिथ्या है वह मिथ्या है**. तो किसी श्रोताको गुस्सा आ गया और उसने एक पागल हाथी उपदेशकके ऊपर छोड़ दिया. पागल हाथीके छूटने पर उपदेशक महाराजको भागना पड़ा. अब उस क्रोधित श्रोताने कहा **महाराज! ऐसे कैसे भाग रहे हो? हमें तो आप कह रहे थे कि जगत मिथ्या है. तो यह हाथी कहां सत्य है**

जिससे कि आप डरकर भाग रहे हो? उपदेशकने कहा **तुम मेरी बात ठीक प्रकारसे नहीं समझ सके. यह मेरा भागना भी कहां सत्य है. अरे यह मेरा भागना भी मिथ्या ही है.** अर्थात् पूछनेवालेका प्रश्न मिथ्या और समाधानकर्ताका समाधान भी मिथ्या!

तो एक बात समझो कि ऐसे तो बहुत सारे वाद गीतामें मिल जायेंगे, नहीं मिलते ऐसा नहीं है. लेकिन एक बात पक्के तौर पर समझलो कि गीतामें निर्गुण निराकार ब्रह्म है. नहीं है ऐसा नहीं है. परन्तु गीता केवल निर्गुण निराकार ब्रह्मका ही प्रतिपादन नहीं करती लेकिन वह तो सगुण साकार ब्रह्मका भी प्रतिपादन करती है. गीतामें ज्ञानका वर्णन है परन्तु ऐसा नहीं समझ लेना कि गीता केवल ज्ञानका ही उपदेश देना चाह रही है. गीता कर्मका उपदेश देती है. गीता भक्तिका उपदेश देती है परन्तु इससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि केवल भक्तिका ही उपदेश दे रही है. उसमें तो कर्म ज्ञान वैराग्य संन्यास इत्यादि अनेक उपायोंके उपदेश भी हैं ही. शास्त्रमें कहने में आया है कि **योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविवित्सा, ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित्.** अर्जुनके प्रति सख्यभावके कारण श्रीकृष्णने शास्त्रमें अवर्णित उपाय भी अर्जुनके कानमें कह दिये हैं.

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्! :

यह क्या है कि मित्रके साथ कुछ रहस्यचर्चा करनेके लिये भगवान सारथि बने बैठे हैं, उन्होंने शास्त्रमें अवर्णित, न बताये गये भी कितने उपाय अपने मित्रको बता दिये हैं. क्योंकि वह स्वयं स्वीकार रहे हैंः **समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः. ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्..** मैं हरेकके लिये समान हूं, मेरे लिये कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं है, मेरे लिये सब समान हैं, यह होते हुये भी

जो मेरी भक्ति करता है : **ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्.** अर्थात् जो मेरी भक्ति करता है वह मेरेमें रहता है, उसी प्रकार मेरी भक्ति करने वालोंमें मैं भी रहता हूं. यह जो एक दूसरेमें रहनेकी प्रक्रिया है वह भक्तिके आधार पर एक ऐसा विलक्षण संबंध है जो कि भक्तिके कारण ही संभव है. भक्तिके आधार पर भक्त भगवानमें रहते हैं और भगवान भक्तमें रहते हैं.

हमारे यहां ऐसा कहा जाता है कि देह छूटनेके बाद भगवदीय नित्यलीलामें जाते हैं. नित्यलीलामें जानेका अर्थ आजकल तो बहुत भयंकर हो गया है. इस अर्थमें मैं नित्यलीलाकी बात नहीं कर रहा लेकिन श्रीहरिरायजीने नित्यलीलाका धौल लिखा है कि **प्रात समे उठी ब्रजबाला. गावत मंगलगीत रसाला**, इस नित्यलीलाकी बात कर रहा हूं. उस नित्यलीलाकी बात नहीं कि पू.पा. महाराजश्रीके नित्यलीलामें पहुंचनेकी शोकसभाकी सार्वजनिक सूचना अखबारोंमें आती है. मानलो कि कोई नित्यलीलामें प्रविष्ट हो और नित्यलीलामें प्रविष्ट होते हुये नित्यलीलामें भी वहां भगवानकी सेवा करते हुये उनके कोई दर्शन करे तो उसकी ऐसी सहज इच्छा हो सकती है कि यह तो हम भूतल पर करके ही आये हैं. अब ऊपर आनेके बाद भी वही रामायण कैसे शुरु हो गई? यह सेवा तो करी ही थी. तो हमें नित्यलीलाके बारेमें थोड़ी शंका होती है – सबको सेवा करते हुये देखकर – कि यह सब फिरसे क्यों! कितने लोग, मैंने पढ़ा है उनके ग्रंथोंमें, हमारे पुष्टिमार्गके बारेमें व्यंग करते हुये लिखते हैं कि **जो लोग ऐसा कहते हैं कि नित्यलीलामें भी भगवानकी सेवा करनी होती है तो वह लोग मोक्षका स्वरूप अच्छी तरह नहीं समझे. वह सेवा तो यहां करनी होती है; वहां जाकर तो परमात्मामें मिल जाना होता है.** मैं पूछना चाहता हूं कि क्या हम लोग यहां परमात्मासे बाहर हैं कि परमात्मामें नहीं

हैं? कौन ऐसा कह सकता है कि हम परमात्मामें नहीं हैं? अगर हम परमात्मामें नहीं हैं तो परमात्मा व्यापक नहीं है और जो परमात्मा घटघटमें व्यापक है तो आजकी तारीखमें भी हम परमात्मामें ही हैं. अब जो मुक्त होनेके बाद परमात्मामें ही मिल जाना है तो फिर बात तो वहीं की वहीं रही कि नहीं? हम सब परमात्मामें से उत्पन्न हुये हैं, परमात्मामें ही स्थित हैं और परमात्मामें ही लीन होने वाले हैं. वहां भी एक ही प्रकार है. तो नित्यलीलामें भी भगवत्सेवाके बारेमें ऐसा संतोष क्यों नहीं मान लेना? यहां भूतलपर भी नित्य सेवा करते हैं और वहां नित्यलीलामें भी नित्यसेवा करते रहेंगे. उसमें क्या अन्तर पड़ गया?

अपने सिद्धांतानुसार एक बात समझो. जिस प्रकार हम भगवानकी सृष्टिलीलामें नित्य प्रकट होते रहते हैं उसी प्रकार अपने भीतर भी नित्यलीला हो सकती है. अब अपने भीतर अगर नित्यलीला प्रकट नहीं होती वह तो ठीक लेकिन अपने बाहर भी नित्यलीलाका अनुभव कहां होता है? हमें सब क्षणभंगुर दिखाई देता है. हमें अनादिनित्य परमात्मा नहीं दिखाई देता. कहां है परमात्मा? दिखाई देता है? पेड़ दिखाई देता है, पत्थर दीखता है, पहाड़ दिखाई देता है, ढोर दिखाई देते हैं, नदी दिखाई देती है, मनुष्य दिखाई देते हैं. परमात्मा दिखाई देता हैं कहीं? बाहर भी परमात्मा नहीं दिखाई देता. वह नहीं दिखता किस कारण? क्योंकि मूलमें तो अपने भीतर ही हमें परमात्मा दिखाई नहीं देता. अगर हमें अपने भीतर एक बार परमात्मा दिखाई दे तो वह बाहर भी दीखेगा. फिर तुम्हें ऐसा नहीं लगेगा कि यह ढोर है. अरे ढोर है तो भी परमात्मा है. पेड़, नदी पहाड़ अथवा और अन्य कुछ भी है वह परमात्मा ही है. तो यह नित्यलीला अपने हृदयमें एक बार प्रकट हो जाये तो हम भी नित्यलीलामें प्रकट होते रहेंगे. हृदयमें जब नित्यलीला प्रकट नहीं होती तो उसे गावो गुनगुनाओ.

श्रीहरिरायजीने नित्यलीला लिखी उसका मुख्य प्रयोजन यह है कि हम लोग इसे पढ़े, सुने, गायें, गुनगुनायें, पाठ करें और इस प्रकार करते करते नित्यलीला अपने हृदयमें प्रगट हो तो यह वस्तु हमें समझ आयेगी. बादमें अपने हृदयमें रही हुवी वह नित्यलीला ऐसा इशारा करेगी कि जो कुछ दिखाई दे रहा है वह सब नित्यलीला है. जो कुछ कानसे सुनाई दे रहा है वह भी नित्यलीला है, ले सुन! जो कुछ अनुभूत हो रहा है वह भी नित्यलीला है. हृदयमें एक नित्यलीला, भक्तिरूपी नित्यलीला प्रकट हो जाय तो हमें पुरुषोत्तमकी अनुभूति हो. उसके बाद हमें गीताका एक जो मुख्य संदेश है वह समझमें आयेगा.

भगवद्गीता अर्थात् विविध योगोंका योग अथवा उपदेश

गीतामें पुरुषोत्तमयोग जो है वह एक योग है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं लेना चाहिये कि गीतामें केवल एक पुरुषोत्तमयोग ही है. गीतामें ऐसे अट्ठारह योग हैं. गीतामें तो अर्जुन द्वारा किया गया विषाद भी एक योग है. गीताके अट्ठारह अध्यायोंमें एकएक योग ही का वर्णन किया गया है. **योग** अर्थात् जोड़ना. जोड़ना अर्थात् जीवात्माको परमात्माके साथ जोड़नेवाली कोई वस्तु अथवा साधन अथवा कोई प्रसंग अथवा कोई उपाय. अब देखो अर्जुनने जो विषाद किया तो उस विषादकी भी कुछ ऐसी गरिमा थी कि वह उसके कारण श्रीकृष्णके साथ जुड़ गया. लेकिन हम लोग प्रसन्न मुख द्वारा भी परमात्माके साथ नहीं जुड़ पाते. श्रीकृष्ण परमानन्दरूप परमात्मा हैं. इनकी प्रसन्न मुखसे सेवाभक्ति करके इनके साथ हम नहीं जुड़ पाते. इनको भजते भजते भी इनके साथ हम नहीं जुड़ पाते. बहुत बार हम सेवा करते होते हैं तो कुछ ऐसा ही हो जाता है. मैं तो अपनी रामायण कह रहा हूं, तुम्हारी रामायण राम जाने. यह तो मैं मेरी रामायण कह रहा हूं कि भगवत्सेवा हम लोग कर रहे होते हैं तब भी हम कहीं दूसरी

ओर ही जुड़े होते हैं, पूरे पूरे परमात्माके साथ नहीं जुड़े होते. इसका मूल कारण क्या है कि अभी हमारे अन्दर ऐसा योग सिद्ध नहीं हुवा है. ये योग हो जाये तो वह पुरुषोत्तमयोग! एक बार वह पुरुषोत्तम हमारा स्पर्श करे, पुरुषोत्तम हमारे हृदयके साथ जुड़े तो हमारे भीतर बीजभावरूप सुषुप्त भक्तियोग जाग्रत हो जायेगा. उस भक्तियोगके कारण फिर नित्यलीला भी हमारे भीतर प्रकट हो सकती है.

किसीको जब हम लिखते हैं कि पू. श्री.श्री. नित्यलीलास्थ हो गये. तो क्या भूतलपर नित्यलीला नहीं है? इसका मूलकारण यह है कि नित्यलीला हमें अनुभूत नहीं होती. लीला तो नित्य ही है. कण कणमें लीला प्रकट हो रही है लेकिन हम लोग इसका अनुभव नहीं कर सकते. इसका कारण यह कि अपने भीतर नित्यलीला प्रकट नहीं हुई, अपना पुरुषोत्तमके साथ जुड़ाव नहीं हुवा. अर्जुनका विषाद इतना तीव्र था कि वह भगवानके साथ जुड़ गया. इसी जुड़ जानेके कारण गीता प्रकट हुई. हमारी सेवाभक्तिभी अभी ऐसी नहीं है कि हम प्रभुके साथ जुड़ जायें. हम भेंट सामिग्रीके लिये धन जमा कराने वाले एक मनोरथीके साथ जुड़ जाते हैं, प्रभुके साथ नहीं जुड़ते इस बातको समझना चाहिये. गीताके पुरुषोत्तमयोगको समझोगे तो कदाचित दूसरा कोई जुड़े अथवा न जुड़े लेकिन हमारी बुद्धि जो पुरुषोत्तमसे जुड़े तो इतने अंशमें तो हम पुरुषोत्तमके साथ जुड़े रहेंगे. इस प्रयोजनके साथ हम पुरुषोत्तमयोगका अवगाहन करेंगे.

00000000000

।। पुरुषोत्तमयोगका वैचारिक संदर्भ ।।

अनेकविध शास्त्रेंमें गीताका अनोखा स्थानः

उपनिषदोंका प्राचीन नाम **रहस्य** भी है. जहां जहां स्मृतियोंमें वेदोंके अध्ययनके बारेमें विधान आता है वहां स्पष्ट रीतिसे यह कहनेमें आता है कि वेदका अध्ययन वेदके अंगो अर्थात् रहस्योंके अध्ययनके साथ करना चाहिये. उसी प्रकार **पुराणं हृदयं स्मृतम्** भी हमारी प्राचीन धारणा अथवा परम्परा थी. श्रुति, स्मृति, सूत्र, पुराण, यह सब उपनिषद श्रुतियोंकी कोटिमें आते हैं. इतिहास अर्थात् पुराणको वेद स्वयं ही **पंचमो वेदानां वेदः** पांचवें वेदके समान वर्णन करते हैं. इतिहास अर्थात् महाभारत और उसमेंका एक भाग वह यह भगवद्गीता है. वेदोंका रहस्य वह उपनिषद् हैं. कितने विद्वानोंकी धारणानुसार उपनिषदोंमें उपासनाकी एकत्रित बत्तीस विद्याएं वर्णितकी गईं थी. उन 32 विद्याओंका निरूपण करनेवाले उपनिषद् स्वयंमें वेदोंका रहस्य हैं और उन सब उपनिषदोंका सार, **सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः** अर्थात् गोपालनंदन भगवानने समस्त उपनिषदोंका सार – वेदोंके रहस्यका सार अपने सखा अर्जुनको समझाया उस कृष्णार्जुनसंवादके अर्थमें यह भगवद्गीतोपनिषद् है.

रहस्य अधिकार्येकगम्य लेकिन शास्त्र सर्वसाधारणको सुलभ हो सकता हैः

मंगलाचरणमें हम लोग देख आये हैं कि **पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्** अर्थात् गायके थनोंमें जो दूध आता है वह उसके अपने बछड़ेके लिये आता है किसी दूसरेके लिये नहीं. हमारी प्राचीन परम्परा ऐसी थी कि बछड़ेके मुखमें से दूध छुड़ा कर किसीभी दिन दूध नहीं काढ़ा जाता था. यह तो गौवंशकी एक प्रकारकी हिंसा ही है. लेकिन गायके बछड़े

द्वारा दूध पीनेके उपरान्त जो दूध बचे वह अपने लिये निकाल सकते थे. क्योंकि **गावो विश्वस्य मातरः** गाय जिस प्रकार अपने बछड़ेकी माता है उसी प्रकार अपने लिये भी माता जैसी है. तो गायके बछड़ेके लिये यह दूध उपनिषद्रूप होता है. क्योंकि उन दोनोंके बीचमें कोई अन्य नहीं होता लेकिन बादमें जो दूध हमें मिलता है उसमें बहुत सारी प्रक्रियायें सम्पन्न हो जाती हैं. अर्थात् ग्वाले दूध निकालते हैं, किसीको बेचते हैं, वह हमें बेचता है, अपने घरमें कोई दूध गरम करके अपनेको पीनेको देता है, उसे बर्तनमें लेते हैं, अन्तमें पीते हैं. इतने सारी प्रक्रियायोंके बाद दूध उपनिषद् नहीं रह जाता परन्तु वह शास्त्र बन जाता है. इसीलिये यहां कह रहे हैं कि **'पार्थो वत्सः + सुधीः भोक्ता'** पार्थके लिये एक सखाने अपने सखाके लिये जो रहस्य कानमें, आपसी चर्चामें कह दिया, वह जगतके लिये शास्त्र बन गया! लेकिन उस शास्त्ररूपी दुग्धामृतका, दुग्धरूप गीतामृतका भोक्ता कौन है? इसे मंगलाचरणमें बहुत सुंदर रूप में कहा गया है – **सुधीः.** जो सुधी अर्थात् जिसकी **धी –** बुद्धि; **सुष्ठु –** अच्छी हो वह ही इसका भोक्ता बन सकता है. प्रत्येक इसका भोक्ता नहीं बन सकता.

गीतोपदेशका सच्चा अधिकारी कौन?

इसीलिये भगवान भी गीतोपदेशके उपसंहारमें कहते हैंः **इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन. न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति..** इस उपनिषद्का जो रहस्य मैंने तुझे कहा है उसे, जो तपस्वी न हो, जो भक्त न हो, जिसे सुननेकी इच्छा न हो अथवा जो मेरे साथ – परमात्माके साथ अभ्यसूया करता हो उनको यह कभी मत बताना.

गीता सुने, प्रतिदिन पाठभी करे परन्तु इसके वास्तविक अभिप्रायको विचारने अथवा प्रयोगमें लानेके लिये जो सकुचाता हो उसे गीता नहीं सुनानी. जिसके हृदयमें भगवद्भक्ति न हो

उसे भी नहीं. जिसे सुननेकी इच्छा न हो उसे सुनानेके लिये गीताका स्वाध्याय नहीं करना चाहिये. यह तो सब ठीक परन्तु परमात्माके साथ अभ्यसूया करने वाला कौन हो सकता है? परमात्माके साथ भी कई साधकोंको अभ्यसूया हो जाती है! इस बातको पुरुषोत्तयोगके सन्दर्भमें समझ लेना बहुत जरूरी है.

गीतोपदेष्टा भगवानके साथ भी असूया करनेवाले साधक अथवा उपदेशक हो सकते हैं!

एक बहुत मजेदार घटना है. पंद्रह बीस साल पहलेकी बात है. आजकल तो टेलीवीजनका प्रचलन बहुत चालू है. उसमें जैसे हाय हाय हाय संगीत चलता रहता है वैसे चार गायकोंने उस जमानेमें बहुत तहलका मचा रखा था. वह लोग बहुत प्रसिद्ध हो गये तथा उन्हें ख्याति भी बहुत मिली; अब जिसकी ख्याति हो जाती है तो उसे चाहनेवाले भी बहुत पैदा हो जाते हैं. यह चाहनेवाले अपने मन पसंद संगीतकारका केवल संगीत ही नहीं सुनते परन्तु अपने मन पसंद संगीतकारोंकी वेशभूषा, चलने, फिरने आदिके ढंगका भी अनुकरण करते हैं. **लंबे के साथ ठिगना जाये. मरे नहीं तो बीमार हो जाये**.. यह कहावत है कि नहीं? तो एक अमरीकी भाईने इन बीटलस्ग्रुपमें के चार गानेवालोंमें से एकके गानेका अनुकरण चालू किया. अर्थात् उस जैसे कपड़े पहने, वैसे बाल रखे, वैसी ही रीतिसे बोले, चले, गाना गाय, गिटार बजाये. इतने अधिक पुरुषार्थ करनेके बाद भी बीटलस् जैसी ख्याति, सिद्धि अथवा उपलब्धि उसे प्राप्त नहीं हुई. एक दिन उसे विचार आया कि इतना कुछ पुरुषार्थ किया तो भी सिद्धि क्यों प्राप्त नहीं होती? उस निराशाके चक्करमें इसने आत्महत्याका विचार किया. अर्थात् एक दिन इसने अपने बजाय अपने मनपसंद गायकके पास जाकर उसे बंदूककी गोलीसे मार

डाला. मनोवैज्ञानिकोंने इसका मनोविश्लेषण करके खोज निकाला कि उस चाहनेवालेका उस प्रसिद्ध गायकके साथ इतना सोहंभाव हो गया था कि उसे आत्महत्या अथवा बीटलकी हत्याके भेदमें कुछ अन्तर नजर नहीं आया. इस कारण उसने अपनेको मारनेके बजाय उस गायककी हत्या कर दी. क्योंकि उसे भेद ही नहीं लगा कि मेरेमें अथवा उसमें कोई अन्तर है. यह वास्तवमें अपने साथ अभ्यसूया कर रहा था लेकिन मारनेके समय उसे ऐसा अभेदभाव स्फुरित हो गया कि अपनेको गोली न मार कर बीटल गायकको ढिसूम ढिसूम कर दिया. उसी प्रकार अपने संसारको समाप्त करनेमें असमर्थ साधकको परमात्माके साकाररूपको खत्म करनेका उपदेश देना पड़ता है.

अतएव भगवान जताते हैं कि **इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति** मेरी जो सिद्धियां हैं वह तो सहज सिद्धियां हैं. मेरी सिद्धियां मुझे कहीं जाकर अथवा किसीका अनुकरण अथवा साधना द्वारा प्राप्त नहीं हुई हैं, सब स्वभाविक सहज सिद्धियां हैं. श्वेताश्वतरोपनिषद्में ब्रह्मकी शक्तिओंका वर्णन बहुत सुंदर करनेमें आया है कि **पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान–बल–क्रिया च.** परमात्मामें ज्ञान, बल, क्रियाकी सब शक्तियां स्वभाविक सिद्ध होती हैं. अपनेमें भी यह शक्तियां आ सकती हैं या प्राप्तकी जा सकती हैं. परन्तु यह प्राप्त अथवा मिली शक्ति कब धोखा दे जाये वह नहीं कहा जा सकता. जबकि परमात्मामें यह शक्तियां सहजसिद्ध, स्वभाविक सर्वदा संनद्ध रहती हैं.

ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इत्यादि जो सिद्धियां हैं – यह तो गिननेके लिये गिनते हैं परन्तु वास्तवमें तो भगवानमें ऐसी अनन्तकोटि शक्तियां या सिद्धियां हैं – और वे सब स्वभाविक ही होती हैं. हम बहुत पुरुषार्थ करें तो कोई

एकाध सिद्धि प्राप्त हो सकती है परन्तु वह सिद्धिभी किसी समय काममें आती है और किसी समय काम नहीं भी करती. कहा भी जाता है कि **भीलोंने को अर्जुन लूटा. वही धनुष वही बाण**. अतएव सिद्धियां प्राप्त नहींकी जा सकती अथवा मिल नहीं सकतीं ऐसा नहीं है; जो मनुष्य पुरुषार्थ करता है उसे कुछ न कुछ सिद्धि तो मिलही सकती है. आप सब लोग जानते ही होंगे कि बहुतसे पहलवान बहुत पुरुषार्थ करके अपनी बहुतही जबरदस्त, लोहकाया बना लेते हैं. लेकिन बुढ़ापेमें इसीके कारण उन्हें जितने कष्टका सामना करना पड़ता है उतना सामान्य मनुष्योंको नहीं. साधारण मनुष्य आसानीसे मर जाता है परन्तु यह लोग कसरत कर करके शरीर सौष्ठव बनाकर आखिरमें दुःख पाते हैं. इन्हें लोहशरीर अथवा कायाके कारण ही तकलीफ पैदा हो जाती है. क्योंकि यह शक्ति प्राप्त अथवा मिली होती है, सहज नहीं होती. कभी यह शक्ति काम देती है कभी धोखा दे जाती है. लेकिन स्वभाविक शक्ति कभी धोखा नहीं देती. क्योंकि वह स्वभाविक होती है और स्वभावानुपाती होती है.

तो परमात्मामें यह सब शक्तियां स्वभाविक होती हैं. हमारी प्राप्तशक्ति अथवा मिली शक्ति किसी अंशमें सफल होती है और कभी विफल भी. विफलता अपने भीतर निराशा पैदा करते करते कभी आत्मघात करनेकी इच्छा तक पैदा कर देती है. तद्उपरान्त अपने आपको अथवा निजात्माको मारनेकी हिम्मत तो पड़ती नहीं तो कितने साधक परमात्माको ही मारनेके लिये तैयार हो जाते हैं. वह किस प्रकार? अर्थात् परमात्मा कोई अन्य नहीं परन्तु मैं ही परमात्मा हूं. अब तू जो भगवान है तो अपनेको निर्गुण–निराकार–निर्धर्मक मानकर अपने आपको ही क्यों नहीं खत्म करता? परमात्माको निर्गुण–निराकार–निर्धर्मक मानकर खत्म करनेके लिये क्यों बैठ जाता है? इसका नाम है पुरुषोत्तमाभ्यसूया!

पुरुषोत्तमके साथ अभ्यसूया न हो तो ही कोई साधना सफल होती है.

ऐसी अनेक साधनाऐं उन उन अध्यात्मशास्त्रेंमें वर्णन करने में आई हैं. जैसेकि स्वयं बुद्ध भगवानने ऐसी साधनाऐं वर्णित की हैं कि किसी भी दिन तुम्हें ऐसा नहीं कहना कि **मैं हूं**. जैसे अपने यहां ब्रह्मसंबंधमें भगवानके सामने **दासोहं**, ऐसी भावना करते हैं, जैसे ज्ञानमार्गमें **सोहम्** (वह ब्रह्म मैं हूं) की भावना करनेमें आती हैं. वैसे ही बुद्ध भगवान आज्ञा करते हैं कि **नाहम्** (मैं नहीं हूं) की भावना करो. तो ये भी नैरात्म्यवादी अर्थात् स्वयंके न होनेकी भावना करना भी एक साधना है. ऐसी नैरात्म्यवादी साधनाकी तरह आत्मब्रह्मैक्यवादकी भी एक साधना है.

उसी प्रकार पुरुषोत्तमयोग यह आत्मपरमात्म–तादात्म्य–वादका अवलम्बन करनेवाली साधना है. अर्थात् **मैं आपका अंश हूं, तू मेरा अंशी है; अतएव मैं और तू दोनों एक ही हैं**. अति अद्वैतकी झोक में श्रीकृष्णका पुरुषोत्तमत्व भूल न जायें उसकी सावधानी लेना पुरुषोत्तमयोगमें अतिशय आवश्यक है.

निष्ठापूर्वक की गई कोई भी साधना सच्ची!

ऐसे तो बहुत सारे प्रकारोंकी साधनायें वर्णन करनेमें आती हैं. उनमेंसे किसी भी एक साधनाको कोई एक साधक पकड़कर चले तो उसमें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं है. अर्थात् विभिन्न विचारकोंने अपने अपने विचारोंके अथवा भावोंके अनुरूप कोई सुव्यवस्थित रीतिसे बांधे गये मार्गानुसार तद्तद्रूप साधनाऐं वर्णितकी हैं. वह उन उन अधिकारियोंके लिये अनुलक्षित करके बतलायी गई हैं. अब इन सब साधनाओंकी हम खिचड़ी करने जायें तो कुछ तन्त नहीं

निकलेगा. बचपनमें एक समय मुझे लगा कि इतने सारे अलग अलग इत्रें की अलग अलग सुगंध है तो इन सबको एकत्रित करें तो कैसी सुगंध आयेगी? तो मैंने एक दिन एक बोतलमें सब इत्रेंको इक्ट्ठा किया और उन्हें मिलाकर बादमें सूंघा तो पता चला कि सब इत्रेंकी सुगंध ही खत्म हो गई थी तथा कोई एक तीखी गंध उत्पन्न हो गई और उसमें आनंद लेने जैसी कुछ चीज ही नहीं रह गई थी. इन अलग अलग इत्रेंकी जो अलग अलग सुगंध हैं उनका अलग अलग आनंद लेना आना चाहिये. जिसे जो सुगंध अच्छी लगती हो उसे उस सुगंधमें तल्लीन हो जाना चाहिये. इन सारी बातोंमें कोई भी कलह अथवा ऊंचनीचका प्रश्न नहीं है.

श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि **स्वाधिकारानुसारेण मार्गस्त्रेधा फलायहि** अपने अपने अधिकारानुसार प्रत्येक मार्ग सफल है. कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग तीनों ही सफल हैं. इसमें प्रत्येक मार्गकी खिचड़ी पकानी जरूरी नहीं है. प्रत्येक मार्ग सांगोपांग है. यह कोई नीमहकीमोंका मार्ग नहीं है कि बहुतसी दवाऐं मिलाकर खिलाई जायें तो ही रोग मिटेगा. श्रुतियोंमें परमात्माद्वारा बांधे गये बहुतसे मार्ग हैं. यह परमात्माद्वारा बांधे गये सारे मार्ग सांगोपांग हैं. और अपनी अपनी रीतिसे प्रत्येक मार्ग अतिशय सक्षम और जीवात्माकी सब प्रकारोंसे सावधानी लेनेमें समर्थ है. इसीलिये भगवान आज्ञा करते हैं – **यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते. एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति.** जो कर्मसे प्राप्त होता है वह ज्ञानसे भी प्राप्त हो सकता है तथा जो ज्ञानसे प्राप्त होता है वह कर्मसे भी प्राप्त होता है. तुम्हें जो कुछ प्राप्त करनेकी जो चिंता हो कि क्या प्राप्त होगा तो उसे भूल जाओ. कारण कि परिणाममें दोनों एक ही हैं. परमात्म प्राप्तिके साधनरूपमें, प्राप्तव्यके साधनरूपमें सब ही मार्ग एक जैसे हैं. तुम्हारे अधिकार अलग अलग हो सकते हैं.

तुम्हारे अधिकारानुसार मार्गका अनुसरण करोगे तो श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि – **स्वाधिकारानुसारेण मार्गस्त्रेधा फलाय हि.**

गीता हमें इस बातका स्पष्ट प्रमाण देती है कि **यो–यो यां–यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति, तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विद्धाम्यहम्.** अर्थात् जो जो भक्त जिस जिस देवरूपको श्रद्धासे भजता है उस उस देवरूपमें, यह परमात्मा इस भक्तकी आराधनाको सफल करता है. विफल नहीं होने देता. **लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्** तो परमात्माही विविधरूपमें विविध साधनाओं द्वारा गम्य है. **रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल नानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव** अर्थात् जिस प्रकार सारी नदीयां कोई पूर्वमें, कोई पश्चिममें, कोई उत्तरमें तो कोई दक्षिणमें बहती हैं लेकिन अन्तमें सारी नदियां सागरमें ही मिलती हैं; उसी प्रकार सारे सीधे आड़े तिरछे मार्ग अन्तमें तो परमात्माकी ओर किसी न किसी दिशासे ले जानेवाले ही होते हैं. यह मार्ग सांगोपांग हैं और इस कारण अपने मनपसंद मार्गके अतिरिक्त दूसरे सब मार्गोंमें त्रुटि या न्यूनता होनी जरूरी नहीं है. अतएव मार्गोंमें मिलावट करनी जरूरी नहीं है. परन्तु, किसी प्रकारकी खिचड़ी मिलावट करनी भी हो तो उसका कोई निषेध भी नहीं है. यह भी किया जा सकता है. ऐसा नहीं है कि हम ज्ञान–कर्मको अथवा कर्म–भक्तिको अथवा ज्ञान–भक्तिको परस्परमें मिला नहीं सकते. किसीको यह फोरम्यूला अच्छा लगता हो कि मुझे तो केवल कर्ममार्गसे नहीं जाना लेकिन कर्म ज्ञान और भक्ति तीनों मार्गों द्वारा परमात्माका आराधन करना है, तो ऐसा प्रकार भी संभव हो सकता है. किसीको ज्ञान और भक्तिसे अथवा किसीको ज्ञान और कर्मसे साधना करनी हो तो वह भी संभव हो सकती है.

अलग अलग अध्याय अलग अलग मार्गोंके निरूपणके लिये हैं. जैसे अव्यक्तोपासना और व्यक्तोपासनाका प्रश्न आया तो वहां भी गीताकार श्रीकृष्णकी यह बात समझनी चाहिये कि जो अव्यक्तोपासक है उसे भी अंतमें तो मैं ही मिलता हूं और जो व्यक्तोपासक है उसे भी अंतमें मैं ही मिलता हूं. अर्थात् कोई व्यक्तोपासक नरकमें जायेगा ऐसा गीताका अथवा श्रीमहाप्रभुजीका अभिगम नहीं है. व्यक्तोपासक किसी नीची कक्षाका उपासक है और अव्यक्तोपासक किसी ऊपरी कक्षाका है वैसा भी गीतोपदेशक भगवानका अभिगम नहीं है. भगवान् गीतामें स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि जो मुझे भजता है वह मुझे अधिक अच्छा लगता है. ऐसा कहकर भगवान्ने उस स्थान पर व्यक्तोपासनाका पक्ष लिया है. कहीं अव्यक्तोपासनाका भी पक्ष लिया है. जहां भगवान कहते हैं कि **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुनः**. इनमें कौनसा मार्ग हमें स्वीकारना यह तो अपने अधिकारविवेककी बात है. अधिकारकी अलग अलग कक्षाएं हैं और इनकी सौरभ भी अलग अलग होती है. इस सौरभकी विविधताको वैचारिक रीतिसे मानना आना चाहिये. क्योंकि अंतमें एक परमात्मा अनेक हुवा है तो इसकी अनेकताके अनुरूप अनेक मार्ग भी प्रगट होने चाहिये ना. उस कारण ही अनेक मार्गों द्वारा पहुंचती मंजिलोंकी भी अनेकरूपता होनी चाहिये. और उन उन रूपोंमें अंतमें परमात्माही तो सबको मिल रहा है. यह जो अभिगम है वह गीताशास्त्रका अभिगम है. अतएव किसीभी एक मार्गके साथ गीताको नहीं बांध लेना चाहिये.

निष्ठाहीन साधक साधनामें तत्पर होनेके बजाय होड़ाहोड़में लग जाता है!

अपनेको जो मार्ग अच्छा लगता हो वह हमारे लिये सर्वोत्कृष्ट है. परन्तु एक बात इस संदर्भमें ध्यानमें रखनी

चाहिये कि जो मार्ग अपने लिये सर्वोत्कृष्ट है वह सबके लिये सर्वोत्कृष्ट है ऐसी भ्रमणा नहीं रखनी चाहिये.

रवीन्द्रनाथ टैगोरने एक बहुत सुंदर कविता लिखी है ढबुसिंगकी. उसमें ढबुसिंग और गबुसिंग दो पात्र हैं. ढबुसिंग राजा था और गबुसिंग उसका मंत्री. एक दिन ये दोनों सैर करने निकले. तब राजाके पैरमें कांटा लगा. तदुपरान्त राजाने कहा कि मैरे पैरमें कांटा लगा है ये कैसे सहन हो? इसके लिये अपने सारे नगरमें चमड़ा बिछवा दो. तब गबुसिंगने कहा कि महाराज इतना सारा चमड़ा पूरे नगरमें बिछानेके बजाय आप अपने पैरमें ही चमड़ा क्यों नहीं पहर लेते जिससे कि आपको कांटा लगना बंद हो जाय. अर्थात् अपने पैरमें जूता पहर लो. लेकिन हमें जूता नहीं पहरना है इसलिये कह रहे हैं कि सारे नगरमें चमड़ा बिछवा दो. अगर गीताका उपदेश हमें लागू हो रहा है और वह हमें अनुसरण नहीं करना है तो हम कहते फिरेगें कि सारे नगरको गीता पढ़ाओ.

अगर विश्व एक है तो इतने सारे विश्वधर्म क्यों?

वर्तमानमें पुष्टिमार्गकी एक बड़ी विडम्बना हो गई है. अभी हम अपने मार्गका भली भांति अनुसरण तो कर नहीं पाये हैं और कहने लगे कि **पुष्टिमार्ग विश्वधर्म है.** अरे तुम पुष्टिमार्गको मानते नहीं, अपने घरमें पुष्टिमार्गका अनुसरण करते नहीं, आपके चेले पुष्टिमार्गका अनुसरण करते नहीं उसमें भी पुष्टिमार्गको विश्वधर्म कहनेका साहस अकारण किस प्रकार आ गया! विश्वमें जाकर किसीसे पूछा है क्या? **नगरमें कोई जानता नहीं पर मैं दुल्हेकी फूफी हूं!** लेकिन अपनी गति ढबुसिंग गबुसिंग जैसी है. हम समझते हैं कि पुष्टिमार्ग यह विश्वधर्म है इसलिये उसे चारों ओर फैला दो. अरे दुनियांमें कोई भी मार्ग अथवा साधना अथवा उपदेश ऐसा नहीं है कि जो सब पर लागू होता हो. जो उपदेश, जो मार्ग, जो साधना

है वह तत् तत् अधिकारियोंके लिये है. अगर सारे जीव पुष्टिमार्गीय हो सकते तो श्रीमहाप्रभुजीने पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थ लिखा ही नहीं होता. लेकिन है क्या कि हमारा मन हमारी साधनामें लगता नहीं है और उसे छोड़ देनेमें अपनी नाक कटती दिखती है तो अपनेको संतुष्ट करनेके लिये हम मानने लगते हैं कि हमारी साधना सर्वोत्कृष्ट है. मैं करता होउं अथवा न करता होउं तो भी दूसरेको पकड़कर कहना जरूरी है कि तुम करो, तुम क्यों नहीं करते? अरे भाई! पहले तू तो कर! ना! मैं खुदतो कर नहीं सकता क्योंकि मुझसे तो होती नहीं. नहीं होती तो क्या हुवा? तो मैं क्यों न सारे गांवको समझादूं? ऐसी विडम्बना पुष्टिमार्ग में घुस गई है. हम पुष्टिमार्गीय अंतरराष्ट्रीय परिषदके अधिवेशन करते हैं. लेकिन अरे भाई पहले तुमतो पुष्टिमार्गको मानो. जो महाप्रभुजीने कहा है उसे पहले अपने घरमें तो अनुसरो. खुदको तो अनुसरण करना नहीं और गांव को पुष्टिमार्गीय बनाना है. हमें ऐसा दंभ है कि मैं पुष्टिमार्गीय तो सारे गांव को पुष्टिमार्गीय बना दूं. गांवमें कोई घूमता दिखता हो तो हमें ईर्ष्या आती है यह क्यों नहीं पुष्टिमार्गीय हो जाता. अरे भाई! तू इतनी ईर्ष्या क्यों करता है? तू खुद पुष्टिमार्गीय क्यों नहीं बनता? अगर ऐसा हम पूछते हैं तो जबाब मिलता है कि मुझे तो फुरसत ही नहीं है. धंधा करना है, दुकान जाना है इत्यादि. खुदको बननेकी फुरसत नहीं मिलती. तो यह तो धर्म नहीं है, विडम्बना है मनुष्यके जीवनकी. ऐसा दंभ गधे या घोड़ेको तो नहीं होता कि मैं गधा हूं या घोड़ा हूं तो सारी दुनियांको गधा या घोड़ा बना दूं. लेकिन बहुत सारे मनुष्योंमें ऐसा कुछ भूत भरा होता है.

यह अपने पुष्टिमार्गमें ही है ऐसा नहीं है. मोटे तौर पर जो लोग अपने धर्मका निष्ठापूर्वक अनुसरण नहीं कर सकते वे लोग ही अपने अपने सम्प्रदायमें ऐसी होड़ाहोड़ पैदा कर देते हैं. अपनी सम्प्रदायका स्वयं अनुसरण करना नहीं और पूरे

गांवके चेले मूंडने हैं. मैंने इस बारेमें एक दोहा पढ़ा है – **नोट बटोरे वोटको और वोट बटोरे नोट. नोट वोटके काजमें कबहु पड़े नहीं खोट.**. अर्थात् नोटसे वोट लेने कि वोटसे नोट लेने. यह प्रकार एक वक्त जब चालू हो जाता है तो बादमें इस धंधेमें कभी भी नुकसान नहीं होता, धंधा चालू हुवा नहीं कि जम जाता है. यह जैसे राजनीतिमें चलता है वैसे धर्मनीतिमें भी चल रहा है. अपने अपने चेले ही बढ़ानेका जीवनमें लक्ष्य हो तो यह बात ठीक है. यह लफड़ा मात्र पुष्टिमार्गमें ही नहीं; समस्त हिंदु, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमानों इत्यादिमें घुस गया है. इसे गुजरातीमें कौआ वृत्ति कहते हैं. एक कांय कांय करता है तो बादमें सब कांय कांय करने लगते हैं. किसीको भी यह पता ही नहीं चलता कि आखिर यह कांय कांय क्यों शुरु हुई थी. मुझे भी यह सिद्धि है कि मैं कांय कांय करूं तो सब कौए इक्ट्ठे हो जांय!

इस तरहसे धर्म नहीं होता. धर्म तो **स्वाधिकारानुसारेण मार्गस्त्रेधा फलाय हि, निष्ठा च साधनैरैव न मनोरथवार्तया** मैं गीता पर प्रवचन कर रहा हूं इससे तुम यह मत समझ लेना कि श्याममनोहरजी गीतानुसार ही जीवन चलाते हैं. प्रवचन तो होता है. पुस्तक हाथमें है इसलिये मैं कह रहा हूं. इसमें सार नहीं है. सार तो इसमें है कि गीताका एक वचन अपने हृदयमें बैठ जाये और उसके मुताबिक हम कुछ करने लगें. तब कहलायेगा कि गीता पढ़ी अथवा सुनी. नहीं तो आते हैं और जाते हैं. कानमें कुछ दूसरी बात पड़े उससे अच्छा तो यही है कि गीताकी ध्वनि पड़े. कुछ दूसरा और बोलनेसे अच्छा है कि गीता ही बोलें. यह अच्छा है. जैसे कि कहावत है ' मामा न होने के बजाय काना मामा ही बेहतर है' लेकिन इसकी तुलनामें दो आंख वाला मामा तो अच्छा है ही. लेकिन यह जो न हो तो बादमें गांवमें मामा बनावो इस प्रकार.

तो एक गीता जो कृष्ण और अर्जुनके बीचमें उपनिषद् थी, वह अपने लिये आज शास्त्र बन गया है. इससे एक प्रकारकी मर्यादा बंधी है. लेकिन एक बात सावधानीसे समझ लेनी चाहिये कि यह मर्यादा विश्वके लिये नहीं है. जिन लोगोंको उपनिषद्के अनुसार अपनी साधना करनी है उनके लिये गीता है. अथवा तो प्रभुने अमुक प्रकारके अधिकारोंका विचार करके अमुक स्वतंत्र साधनाऐं भी वर्णन की है, उन स्वतंत्र साधनाओं अथवा उपनिषदोंके रहस्योंका विचार करके, प्रभुने यहां सबसे पहली बार कोई साधना प्रकट की है, उन बहुतसी साधनाओंको इक्ट्ठा करके एक साधनामें संनिष्ठ होनेके लिये प्रयास करनेवालेको गीता अपने उपदेश्य अधिकारीके तौर पर स्वीकार करेगी.

जैसा कि कल मैंने आपको कहा कि अट्ठारह अध्यायोंमें कमसे कम अट्ठारह योग तो हैं ही. और उनमें भी एक एक अध्यायमें दूसरे दो दो चार चार योग जो आपको देखने हों तो वह भी देखे जा सकते हैं. अर्थात् गीता कोई नीमहकीमकी दुकान नहीं है कि जिसमें कोई एक ही दवा हो जिससे कि सारे रोग मिट जाते हों. गीता तो औषधियोंका भंडार है. बहुतसे रोगोंकी दवा इसमें है. अब तुम्हें निश्चय करना है कि तुम किस प्रकारके रोगी हो. उसीके अनुसार दवा लो. इस प्रकारसे गीताको समझना चाहिये.

संस्कृतमें एक उपहासका श्लोक हैः **यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केन प्रपेषयेत्. यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति.** एक गांवमें बहुतसे लोग बीमार थे. उस गांवमें एक साधु आया. तब उस साधुसे लोगोंने कहा कि कुछ दवा दीजिये. तो वह साधु बहुत होशियार था. साधुने लोगोंसे कहा कि दवा तो है लेकिन जंगलमें है. और ऐसी है कि उससे सबके रोग निश्चयेन मिट जायेंगे. गांवके लोगोंने कहा तो बताओ वह दवा कहां है? तब उस साधुने कोई भी जड़ीबूटी लेकर उसे पानीमें

या दूधमें किसीके साथभी बराबर बांटकर घोलकर लेनेका कहकर सब रोगियोंको दे दो. और कहा कि इससे सब रोग मिट जायेंगे. अब इससे 50 प्रतिशत लोग या तो मर जायेंगे और 50 प्रतिशत ठीक हो जायेंगे. अब जो मर गया वह तो तुमसे कहने कुछ आयेगा नहीं और जो बच जायेगा वह तुम्हारी वाह वाह करेगा. तुमने तुम्हारे सबको प्रसन्न रखना है, अंतर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय परिषदकी तरह अंतर्राष्ट्रीय लेवल पर रखो. मरनेवाला मरेगा और जीनेवाला जीयेगा. वास्तवमें बहुत गंभीर पद्धति है. सफल हो उसके चान्सीस पचास प्रतिशत ही हैं. बाकी पचास प्रतिशत तो विफल ही होंगे. लेकिन यहां तो सौप्रतिशतका फायदा शुरु हो जायेगा!

धर्मोपदेशकोंमें भी दैवी मानुषी अथवा आसुरी वृत्ति काम करती है:

यह एक पद्धति है. धर्मका पहला स्वरूप जो मैंने कल तुमको बताया था कि **त्रयाह वै प्राजापत्याः** प्रजापतिके तीनों पुत्र देव, असुर एवं मनुष्य जब ब्रह्माजीके पास गये तब देवोंको उन्होंने कहा कि तुम समर्थ हो, क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति एवं गति यह सब शक्तियां तुममें हैं और इन सबके कारण तुम क्रीड़ारत हो सकते हो. विजयकी महत्वाकांक्षा तुममें है. कृत कर्मोंके फलप्रदान करनेके व्यवहारको कृतज्ञतापूर्वक कैसे निभाना उसे जानते हो. तुम तेजस्वी हो. स्तुत्य हो. आनंदी स्वभाववाले हो. स्वाभिमानी हो. स्वप्नशील अर्थात् केवल भूतकालमें ही रहने वाले नहीं हो. कांति अर्थात् मनोहारी स्वरूपसे सम्पन्न हो. प्रमादी भी नहीं हो परन्तु सर्वदा अपने ध्येयको प्राप्त करनेके लिये गतिशील रहने वाले हो. इतने सारे गुण धर्म तुम्हारेमें हैं. इन सब गुणधर्मोंको जब तुम व्यवहारमें लाओ तो थोड़ा दमन करो. अर्थात् रमण करो उसमें कोई दिक्कत नहीं. लेकिन इन्द्रियदमनसहित रमण

करो. जो तुम रमण करनेमें समर्थ हो तो इन्द्रियदमन करे बिना रमण मत करो. क्योंकि इन्द्रियोंके दमन बिना जब रमण किया जायेगा तब रमणमें कुछ न कुछ लफड़ा पैदा हो ही जायेगा.

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान जब क्रिकेट खेलते हैं तो यह शुद्ध रमण है. इसमें किसी भी झगड़ेकी बात नहीं होनी चाहिये. लेकिन पाकिस्तानी टीम जीतती है तो मुस्लिमोंको यह लगता है कि अल्लाह जीता और हिन्दुस्तानी टीम हारती है तो हमें यह लगता है कि राम हारा. अरे भाई क्रिकेट ऐसी थोड़े ही होती है. मुझे तो ऐसा लगता है कि हम अल्लाह और रामको क्रिकेटका मैच देखनेके लिये बुलायें तो ये भी किसीकी हारजीत के नहीं; परन्तु जो अच्छा खेला उसीके लिये फटाखे फोड़ेगें. क्योंकि देवता तो क्रीड़ाके फटाखे फोड़ते हैं, हारजीतके नहीं. इन्द्रियदमन न होनेके कारण रमणके नहीं परन्तु हारजीतके फटाखे हम फोड़ते हैं. अतएव जो देव समर्थ हैं उसके लिये उन्हें रमणके समय इन्द्रियदमनका ब्रह्माजीने उपदेश दिया.

जो असुर हैं उन्हें कहा कि प्राणपोषण करो लेकिन निर्दय होकर नहीं. दयापूर्वक प्राणपोषण करो.

मनुष्योंके लिये उपदेश किया कि प्रत्येक मनुष्यको दान करना चाहिये. और दान करके हम किसीके ऊपर उपकार कर रहे हैं ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये. दानसे जुड़ी अपनी प्राचीन प्रणालियोंका तुम्हें पूरा ख्याल होना चाहिये. आजके समय तो हम ब्राह्मणोंकी यह दुर्गति हो गई है कि हम लोग दान मांगने लग गये हैं. लेकिन मांगे वह दान नहीं कहलाता वह तो भिक्षा कहलाती है. दान और भिक्षामें बहुत अन्तर है. मांगे वह तो भिक्षा वह दान नहीं कहलाता. बिना मांगे मिले उसका नाम दान. हमें दानकी गरिमाको देखना चाहिये. दानके नाम भीख मांगनी यह अपनी आसुरीवृत्तियोंके प्राबल्यके कारण है. एक बात इसमें भी समझने वाली है. प्राचीनकालमें जिसे

दान देना होता था वह आमंत्रण देता था कि हमें दान देना है. हमारे मनमें कुछ मनोरथ पूर्तीके लिये हमें दान देना है उसे आप स्वीकार करो. और जो दान लेता था उसे उसके ऊपर दक्षिणा और देनी पड़ती थी. तात्पर्य कि जो लोग दान देते थे उन्हें ऐसे लगता कि दान लेनेवाला हमारे ऊपर कुछ उपकार कर रहा है. लोग दान लेनेके लिये इतना हिचकिचाते एवं शर्माते कि मुफ्तमें दान किसलिये लिया जाये. आजकल तो ब्राह्मणोंको लगता है कि दान लेना तो हमारा हक है. लाओ, लाओ, और लाओ. यह आसुरीवृत्ति बढ़नेका परिणाम है. संस्कृतमें एक कहावत है **साक्षराः विपरीताः चेत् राक्षसाः एव**. अर्थात् साक्षराका उलटा राक्षसा होता है. इसी प्रकार ब्राह्मण महाराज भी विपरीत होकर लड्डू पूरी मोहनथाल मठड़ी बेचनेवाले तथा ऊपरसे भीख मांगनेवाले भीतरिया बन गये. इस प्रकार उलट पुलट होनेके कारण ब्राह्मण जो साक्षर थे वे आज राक्षस बन गये. तात्पर्य कि अब चरणभेंट, पधरावनीभेंट, गुरुभेंट, ठाकुरजीके सम्मुखभेंट, सामग्रीभेंट इत्यादिको समर्पण मान बैठे हैं. दान समर्पण यह तो बहुत ऊंची वस्तु हैं. इसलिये अपने यहां कहा जाता है **कनकस्नान शतमण सुवर्णे कराव्युं महिपाल, ते मूकी वेगे चालिया राय दृष्टि पाछी न वाल.** श्रीमहाप्रभुजीने राजाके यहां कनकाभिषेक करानेके लिये समाधानी नहीं भेजा था. और जो स्वर्ण मोहर भेंट आईं उसे देखने तककी जरूरत नहीं समझी. अरे इस दानकी गरिमा थी. ऐसा नहीं था कि समाधानी द्वारा घर भेजकर कहलवाते कि तुम्हारा बाप वैष्णव था. तू नहीं है तो क्या हुआ. कुछ तो दे. हम इसे दान समझते हैं. यह गुरु भेंट नहीं है, भिखारी द्वारा मांगी गई भीख है. मांगनेका ब्राह्मणको सख्त निषेध है. शास्त्र कहता है कि **जो गृहस्थ ब्राह्मण मांगता है वह तो चोर है. तीन दिन जो भूखा हो और प्राण गलेमें अटक रहे हों उसे मांगनेकी छूट है. नहीं तो वह ब्राह्मण नहीं चोर है. संग्रहखोर**

ब्राह्मणको तथा चोरको बराबर एकसमान दंड मिलना चाहिये. शास्त्र तो यहां तक कहते हैं कि **जो ब्राह्मण विद्योपदेश और कर्मोपदेश न करता हो और मुफ्तमें धन मांगता हो, तो जिस गांवमें मांगता हो और उस गांवमें से उसे पैसा मिलता हो तो उस गांवको भी दंड देना चाहिये. चोरोंको प्रश्रय देनेके कारण.** तो उस ब्राह्मणको दंड तो बादमें मिलना चाहिये पहले सारे गांवको दंड मिलना चाहिये. शास्त्रने तो यहां तलक छूट दे रखी है. ब्राह्मणको दान लेनेकी छूट तबही दी गई है जबकि वह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा सामान्य मनुष्योंको कर्म समझाता हो. जो कर्मोपदेश और विद्योपदेश करता हो वह ब्राह्मण दान लेनेका अधिकारी है. उसके बगैर जो ब्राह्मण मांगता है, तो जिस प्रकार सूखी लकड़ी जल कर भस्मसात हो जाती है वही हाल ब्राह्मणका होता है, इस प्रकार शास्त्र सावधान भी करता है. भले ही शारीरिक रीतिसे भस्म न हो. कदाचित मांग मांगकर मोटे भैंसे सरीखा हो जाय क्योंकि – **अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम. दास मलुका कह गये सबके दाता राम**. शारीरिक रीतिसे भले ही मोटा हो जाय लेकिन आध्यात्मिक दृष्टिसे वह भस्मसात हो जायगा. ऐसे ब्राह्मणकी सारी ब्रह्मत्व शक्तियां क्षीण हो जाती हैं, और यह क्षीण होनेके उपरान्त वह किसी कामका रह नहीं जाता. इसे आजकल देखा जा सकता है कि ब्राह्मणोंके बारेमें लोगोंमें श्रद्धा नहीं रही है. अगर ब्राह्मण होनेकी योग्यता नहीं है तो गुरु किस प्रकार हो सकता है? और जो गुरु होनेकी योग्यता नहीं है तो उसे पुरुषोत्तम कैसे माना जाय? तात्पर्यतः यह सब लीलायें पुरुषोत्तमकी नहीं लेकिन पुरुंसोतमकी लीला ही समझनी. पुरुषोत्तमयोगको भली प्रकार समझना हो तो इन भ्रमणाओंको तोड़ देना चाहिये.

00000000000000

।।पुरुषोत्तमयोग और पुरुषका संबंध।।

षड्विधा शरणागतिद्वारा षड्विध संबंध :

इस पुरुषोत्तमयोगके अवगाहनके प्रारम्भमें वर्णित पुरुषरूप जीवात्माएं पुरुषोत्तमके साथ **उपदृष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः** इन छः प्रकारोंके संबंधसे बंधी हुई हैं. इस देहमें जैसे पुरुष – जीवात्मा रहती है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भी निम्न वर्णित प्रकारसे रहता है :–

1. उपदृष्टा; 2. अनुमन्ता; 3. भर्ता; 4.भोक्ता; 5. महेश्वर; 6. परमात्मा.

कोई भी संबंध कभी भी अकेला नहीं होता. जैसे पति है तो पत्नी होती है और तबही पति–पत्नीका संबंध होगा. गुरु हो और शिष्य हो तो ही गुरुशिष्य संबंध होगा. संबंध हमेशा दो के बीचमें ही होता है. उसी प्रकार जिस भगवान पुरुषोत्तमका यह छः प्रकारका संबंध जो वर्णित किया गया है तो उसमें शास्त्र भली प्रकार कहता है कि अगर तुम्हारी उस परपुरुषके प्रति षड्विधा शरणागति होगी तो वह तुम्हें अनुभूत होगा. वह षड्विधा शरणागति अर्थात् :–

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलविसर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो भोक्तृत्वे वरणं तथा।।
आत्मनैवेद्य – कार्पण्ये षड्विधाः शरणागतिः।।

इस प्रकार भगवानके प्रति तुम्हारी छः प्रकारसे शरणागति होनी चाहिये. इनमेंसे जिसजिस रीतिसे तुम शरणागत होते हो उसउस रीतिसे भगवान पुरुषोत्तमके साथ तुम्हें संबंध अनुभूत होता है, बंधता है. जिस रीतिसे तुम भगवान पुरुषोत्तमके शरणागत नहीं हो सकते उस रीतिसे तुम्हारे साथ वह संबंध अनुभूत नहीं होता अथवा बंधता. इस बातको हमें बहुत पक्की तरहसे समझ लेना चाहिये. क्योंकि

संबंध कभी भी अकेला नहीं होता. आग यहां लगी है तो वहां भी लगनी ही चाहिये. कहा भी गया है **इश्क वो लौ है गालिब जो लगाये न लगे और बुझाये न बुझे.** और जो एक ठिकाने लगे और दूसरे ठिकाने न लगे तो यह इश्क नहीं है परन्तु कोई फितूर है. इश्क सच्चा तबही कहलाता है कि जब आग दोनों हृदयोंमें लगे. जब इकतरफा आग लगे तो वह मजनू कहलाता है आशिक नहीं. तो इश्ककी अथवा स्नेहकी पीड़ा है वह दोनों तरफ होनी चाहिये.

जो हमारा उपद्रष्टा है उसके अनुकूल होनेका संकल्प हमें करना चाहियेः

इस तरफ जब जीवात्मा छः प्रकारसे भगवान पुरुषोत्तमके सामने शरणागत होती है तब उस तरफ भगवान पुरुषोत्तम हमारे साथ छः प्रकारसे बंधा हुआ अनुभूत होता है. पंद्रहवें अध्यायमें भी दो तीन जगह यह प्रसंग आता है. मूल बात जो समझनेकी है वह यह है कि **उपद्रष्टा** अर्थात् भगवान् पुरुषोत्तम तुम्हारे साथ साक्षीभावसे बिराजा हुआ है. पहले ही इसका विवेचन कर दिया गया है कि वह तुम्हारे साथ साक्षीभावसे बैठा हुआ है, तुम्हें डिस्टर्ब नहीं करता. तुम्हें जो करना हो वह तुम्हें करने देता है, वह तुम्हें खाली साक्षी भावसे देखता रहता है. यह उपद्रष्टाके साथ बंधा हुआ संबंध नहीं है लेकिन बगैर बंधा हुआ संबंध है. कारण कि इस संबंधके लिये भगवान पुरुषोत्तम भी लाचार हैं. और हम कुछ भी करें लेकिन भगवान पुरुषोत्तमके साथ इस संबंधको हम तोड़ नहीं सकते. इसका कारण है; क्योंकि भगवान पुरुषोत्तम सर्वज्ञ हैं, सर्वव्यापी हैं, सर्वोपादान हैं, सर्वत्र घट घटमें व्याप रहे हैं. जैसे कि हवा अथवा आकाश जड़ होकर घटघटमें व्याप रहे हैं. आकाश – अवकाश अथवा वायु जैसे जड़ होकर व्याप रहे हैं वैसे भगवान पुरुषोत्तम जड़ होकर नहीं व्याप रहे हैं लेकिन भगवान

पुरुषोत्तम अपनी सर्वज्ञताके साथ घटघटमें व्याप रहे हैं. तात्पर्यतः यह भी लाचार है और हम भी लाचार हैं. अर्थात् जो कुछ भी हम करेंगे उसकी खबर तो इसे पड़ेगी ही. इसे खबर पड़ती है कि नहीं इसकी खबर हमें हो या न हो लेकिन इसे पक्की खबर पड़ती है कि तुम क्या कर रहे हो. इससे तुम कुछ छिपा नहीं सकते. अतएव इस भगवान पुरुषोत्तमका उपद्रष्टा होनेका संबंध दैवी जीवके साथ भी है, मनुष्योंके साथ भी है और आसुरी जीवोंके साथ भी है. प्रत्येकका उपद्रष्टा है. यह प्रत्येक शरीरमें, प्रत्येक क्रियाकलापमें; भले ही वह दैवी जीव हो अथवा मानुषी जीव हो, यह प्रत्येक स्थानमें उपद्रष्टा होकर व्याप रहा है, व्याप रहा है और व्याप ही रहा है. प्रत्येक स्थान पर हमको देख रहा है.

भगवान गीतामें कहते हैं **सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति? इन्द्रियस्येन्द्रिस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ** ज्ञानी मनुष्यभी इन्द्रियोंकी आसुरी शक्तिके सामने बेबस हो जाता है. उन इन्द्रियोंको जो अच्छा लगता है वही अच्छा लगता है. उनका विषय उपभोग द्वारा निवारण करना जिस प्रकारसे कठिन काम है उसी प्रकार उन्हें जो विषय अच्छे नहीं लगते उनमें प्रवृत्त करना भी कठिन है. यह होते हुये भी गीताकार एक रहस्य हमें समझाते हैंः— **इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः. लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रभिवांभसा.**

.

इन्द्रियां अपना आसुरी हठाग्रह तो नहीं छोड़तीं लेकिन उनको उनके स्वभावके, भाग्यके ऊपर छोड़कर मनुष्य जब अपना कर्म जो कुछ ब्राह्मिक प्रयोजन रखकर करता है, विषयासक्तियोंमें अपनेको शामिल किये बिना तो विषय उपभोगकी कीचड़में भी कमलकी तरह निष्पाप जीवन जी

सकता है. भगवद्गीताके इन उपदेशोंका अनुसरण करनेकेलिये अपने यहां निरोधलक्षण एवं सिद्धान्तरहस्यमें इन्द्रियोंको भगवत्संबंधी अथवा भगवत्समर्पित रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द एवं क्रियाओंकी ओर ले जानेकेलिये उपदेश देनेमें आये हैं:– **ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोष निवृत्तिर्हि.... असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेद्** ज्ञानेन्द्रियोंको भगवत्सम्बन्धी या भगवत्समर्पित विषयोंके उपभोगमें प्रवृत्त करनेसे और उनकी कर्मेन्द्रियोंको भगवदर्थ करनेमें आती क्रियाओंकी ओर ले जानेसे ऊपर बताया गया ब्राह्मिक प्रयोजन सिद्ध होनेसे, इनकी निष्पापताका लाभ तो मिलेगा ही.

अपनी सम्प्रदायमें आज जो अपने घरमें अपने तनधन परिवारजनोंके साथके बजाय सार्वजनिक हवेलियोंमें व्यापारकी तरह चलती भगवत्समर्पणकी नौटंकीमें भक्तिभाव बढ़ानेके बजाय इन्द्रियोंकी आसुरी शक्तियोंके भावोंको फिरसे प्रबल करनेकी जो पद्धति चल गई है, उसकी कथा तो अलग है.

जो अपना अनुमन्ता है उसके प्रतिकूल प्रवृत्तियोंका त्याग हमें करना चाहियेः

तत्पश्चात् दूसरा जो संबंध भगवान पुरुषोत्तमके साथ हमें समझना है वह है **अनुमन्ता.** अनुमन्ता अर्थात् तुम जो काम कर रहे हो उसकी तुम्हें छूट देने वाला. **कर बेटा! जो काम करना है वह कर**. वह तुम्हें छूट देता है. कोई ऐसा प्रसंग होता है कि जिसमें भगवान् पुरुषोत्तम हमें रोकता भी है. अब ये जो आसुरीवृत्तियां हैं यह वृत्ति ही ऐसी हैं कि भगवान् पुरुषोत्तम हमें रोकते हैं तो भी हम नहीं रुकते.

श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि **मेरो व्हेके देवद्रव्य खायगो सो महापतित व्हे जायगो, मेरो नाहिं कहावेगो** तो हम कहते हैं कि किसने कहा है कि श्रीकृष्ण देव हैं!? श्रीकृष्ण तो देवही नहीं हैं तो इनकी सेवा सामग्री या मनोरथ के नामपर एकत्रित

किया गया द्रव्य देवद्रव्य ही नहीं है! मैंने एक भाई से पूछा कि भाई! श्रीमहाप्रभुजीने स्वयं आज्ञा करी है **एको देवो देवकीपुत्र एव, वंदे श्रीकृष्णदेवम्**. तो उसने कहा कि श्रीकृष्ण देव थोड़े ही हैं. वह तो देवाधिदेव हैं. जो देव न हो देवाधिदेव हो तो उससे देवद्रव्य नहीं होता हो तो इसमें एक बात समझ लेनी चाहिये कि जो देवका द्रव्य देवद्रव्य बनता है तो देवाधिदेवका तो देवाधिदेवद्रव्य क्यों नहीं बनेगा? और उस देवाधिदेवद्रव्यको खाने वाला देवलकाधिदेवलक किस कारण नहीं है? साधारण मनुष्य देवलक होता है और देवाधिदेवका देवलकाधिदेवलक भी बन जाता है यह बात भूलनी नहीं चाहिये. लेकिन वह तो सुनते ही नहीं. **साक्षात् भगवान जन्में और कहें कि ले, मैं तेरे सामने आकर कह रहा हूं कि नहीं खा**, तो भी यह लोग तो यही कहेंगे कि हमारे यहां चुप बैठो, खानेका मजा आ रहा है, मठरी, पूरी, आहाहा.. आनन्द आनन्द, लार टपक जाये ऐसी सब.

अतएव मनुष्यके साथ एक बड़ी मुश्किल है. यह महाभारत चल रही है समझे, इस शरीर रूपी कुरुक्षेत्रमें, दूसरे कुरुक्षेत्रकी बात नहीं कह रहा, पहले कुरुक्षेत्रमें तो महाभारत पूरी हो गई, क्योंकि – **यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः. तत्र श्रीः विजयो भूतिः ध्रुवा नीति मर्तिमम..**

सब कौरव मारे गये और सब कुछ पूरा हो गया. और उस महाभारतमें तो उपनिषद्रूपी गीता भी कही गई अतएव पूरी हो गई. लेकिन इस शास्त्ररूपी गीताका शासन अपने ऊपर नहीं चलता. इसका कारण यह है कि इस कुरुक्षेत्रमें अपनी जो आसुरी वृत्तियां हैं उनको भगवान पुरुषोत्तम कहते हैं कि मेरा क्या, रख अपने पास. अनुमंता है. तुझे जो कुछ करना हो कर. तुम्हारे मनोरथोंको यह प्रश्रय भी नहीं देता और कहीं दूसरे मार्गमें चले न जायें इस कारण टोकता भी नहीं. बहुत कम किसीको टोकता भी है. इसकेलिये शास्त्रमें बहुत सुंदर

कहा गया हैः **शास्त्रणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नराः. मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः..**अर्थात् शास्त्र तुम्हें कहां ले जाना चाहता है? जैसे कि शास्त्र कहता है कि देवद्रव्य नहीं खाना और हमें समझमें भी आ रहा है कि शास्त्र इसका निषेध कर रहा है; इसमें भी अगर भूखे मर रहे हो तो चलो खाओ! लेकिन घरमें खानेकेलिये भंडार भरे पड़े हैं तो भी जान बूझ कर देवद्रव्य खाना! तो ये शास्त्रके उल्लंघनका अपराध है. तत्पश्चात् मनघडंत बहाने बनाने कि श्रीकृष्ण तो देवही नहीं हैं. तो यह तो वानररायकी वृत्ति कहलाती है, यह मनुष्यवृत्ति नहीं है. क्योंकि नरको उस ही दिशामें जाना चाहिये जो कि शास्त्र बता रहा है. अगर जा नहीं सकता तो कमसे कम प्रयत्न तो कर सकता है. मैं तो कहता हूं कि प्रयास भी न करे परन्तु प्रयासका संकल्प तो करे कि नहीं? सत्य संकल्प, सच्चा मनोरथ मनमें करो. तत्पश्चात् तुम्हारा मन तुम्हें वानरकी तरह नहीं ले जा सकता. फिर तो तुम्हारे भीतर बैठा हुआ जो अनुमन्ता है वह तुम्हें कहेगा कि यह काम तुमसे होगा और यह नहीं.

पुरुषोत्तम इस प्रकार भी तुम्हारे अन्दर बैठा है. वह भीतर बैठकर अपने मनको शुभ प्रेरणा देता है. यह संबंध हम पुरुषोत्तमके साथ तब बांध सकते हैं जब अपना मन हम उसे सौंप दें. अब हम यह विचारें कि मन भगवानको सौंप दें तो बादमें मठड़ीका व्यापार नहीं चलेगा? तो भगवान पुरुषोत्तम कहेंगे कि **तू तेरी मठड़ीका व्यापार करता रह, मेरा इसमें क्या जाता है? जो जाता है वह तो तेरा जाता है.** यह तो अनुमन्ताका संबंध पुरुषोत्तमके साथ बांधनेकी पहली शर्त है कि पहले हम उसे अपना मन सौंप दें. अपना मन अपनी आजीविकाको देंगे तो भगवान पुरुषोत्तम तथास्तु कहेंगे. कारण कि यह तो अनुमन्ता है. इसका कुछ भी बिगड़ता नहीं. अगर तुम अपना मन पुरुषोत्तमको दोगे, कि नहीं यह मेरा मन घर

भरनेके लिये नहीं है; हे भगवान ! इसमें तू ही भर जा इसकेलिये मैंने अपना मन रखा है. इसकेलिये भक्तोंने कहा है **मनमोहनमें मन बसे तब मनमें मनमोहन.** अर्थात् मेरा मन मनमोहनमें बसा है इस कारण मनमोहन मेरे मनमें घुस गया है. एकबार इस प्रकार मनको मनमोहनमें लगाओ तो सही. तबही तो मनमोहन तुम्हारे मनमें पधारेंगे. तत्पश्चात् तुम्हारा मन तुम्हें भगवानकी ऐसी नौटंकी करनेकी इजाजत नहीं देगा. तुम्हारे भीतर बिराजा हुआ मनमोहन तुम्हें ऐसी गलत प्रेरणा कभी भी नहीं देगा. उसी समय पुरुषोत्तम तुम्हारा अनुमन्ता हो जायेगा. वैसे तो अभी भी वह तुम्हारा अनुमन्ता है. लेकिन जो वानर होता है उसकेलिये भगवान कहते हैं कि मेरा एक रूप जो है वह मन भी है और दूसरा एक रूप मनमोहनभी है. इस प्रकार भगवान पुरुषोत्तमके दो रूप हैं. इन दोनों रूपोंमें जिसके साथ तुम संबंध बनाओगे वह रूप वैसी ही अनुमति देगा. अंतर इसमें इतना पड़ जाता है कि एकके कारण हम वानर बन जाते हैं और दूसरेके कारण **वै नरः** निश्चित रूपसे नर बन जाते हैं. इसका तात्पर्य कि मनको अगर हम मनमोहनमें लगाते हैं तो मनमोहन अपने मनमें आयेगा. मनमें आया हुआ मनमोहन जब हमारा अनुमन्ता बन जायेगा तब ऐसे ऊटपटांग काम हमें नहीं सूझेंगे. हमें ऐसे ही कार्य सूझेंगे कि जिसकी यह प्रेरणा देगा. **शास्त्रणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नराः.**

सामान्य रीतिसे इस शरीरमें अपनी आत्माको जो जो उपकरण परमेश्वरने दिये हैं उदाहरणके तौर पर ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, मन, बुद्धि, अंहकार और चित्त; इन उपकरणोंके आधारको देखोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि आंखको रूपही देखनेको चाहिये, असुरकी तरह. अपनी इन्द्रियां आंख, नाक, कान, जीभ या त्वचा किसी भी प्रकारका सत् अथवा असत्का विवेक करनेको तैयार नहीं हैं. देवद्रव्य अथवा नैतिकद्रव्यका

अथवा सत् या असत्का, राजस अथवा तामसका, इस प्रकारका कोई भी विवेक करनेके लिये आंखको कहो तो यह आंखके लिये शक्य नहीं है. अगर आंखको विवेक होता तो संसारमें सबही संत होते, जो जीभको विवेक होता तो सभी संयमी होते. फिर किसीका ब्लडकोलेस्ट्रल नहीं बढ़ता. ढोकले खाते हैं, फाफड़ा खाते है; जाने दो न, एक बार तो खा ही लो, बादमें जो होगा सो होगा. अर्थात् इन्द्रियोंको इन सबका विवेक नहीं होता. तुम देखेगो कि असुरको जब भूख लगती है तो तुम मरो कि जीओ इसकी परवाह उसे नहीं होती. उसे तो बस खानेको चाहिये ही. इस प्रकार अपने शरीरमें इन्द्रियोंका व्यवहार असुरकी तरह है. इन्हें जो चाहिये वह चाहिये ही. दूसरा कोई विकल्प इन्द्रियोंके पास नहीं होता.

लेकिन इन असुरोंके बाद मन आता है. मनको कुछ भी नहीं चाहिये. मनकी सारी वृत्तियोंको देखोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि वास्तवमें आंखको अच्छा लगता रूप देखनेकेलिये मिले तो उससे मनको कुछ लाभ नहीं होता. मनको कुछ रूप देखनेको नहीं मिलता लेकिन मनमें दान देनेकी वृत्ति है. अतएव आंखको जो रूप अच्छा लगता है तो मन जाकर कहता है कि **ले ले रूपका दान. जीभको मठढ़ी अच्छी लगती है तो मन कह देता है अरी जीभ ! ले खा ले मठड़ी. जो होगा सो देखा जायेगा.** यह मनुष्यकी तरह दान देताही रहता है. यह मानव है. पहली जो असुर जैसी इन्द्रियां हैं इनके लिये उपदेश था कि **दया करो**. अर्थात् आंख, जीभ इत्यादि यह असुरकी तरह भूखी हैं. अगर यह सामने वालेकी परवाह करनेवाली होतीं तो सारी दुनियांमें कोई भी क्रिमिनल नहीं होता. जो कुछ भी गुनाह हम करते हैं या होते हैं वह अपनी विषयभोगकी ऐन्द्रिय वासनाओंके कारणही होते हैं. उसकेलिये ही भगवान यहां गीतामें आज्ञा करते हैं **इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः** अर्थात् इन्द्रियोंका आसुरावेश बहुत जबरदस्त

है. जिस समय इन्हें जो विषय चाहिये वह तो चाहिये ही. उसमें यह कोई समझौता करनेको तैयार नहीं. इस विषयावेशमें अपना मन घुस जाता है. ऐसी आसुरीवृत्ति कि सत्असत्का, योग्यायोग्यका, प्रमाण अप्रमाणका, नीतियुक्त या अनीतियुक्तका, कामका अकामका, अधिकार या अनधिकारका विवेक करना तो इन इन्द्रियोंको आता ही नहीं. मनको किसी भी प्रकारका लाभ नहीं मिलता तो भी मन बिचारा मनुष्य जैसा चंचल है. यह समर्थ नहीं है. किसी वस्तुके उपभोगकेलिये समर्थ नहीं है तो भी इन्द्रियोंके पीछे घिसटता रहता है. असुर समर्थ हैं इस कारण मनको घसीट कर ले जाते हैं. जैसे मैंने दो तीन बार चाय पीना छोड़ दिया कि चाय नहीं पीउंगा. लेकिन जब माथा दुखने लगता है तब चाय पीनेके बाद ही कामकाज चालू होता है! अर्थात् यह खाता ही खराब है.

तो मन चंचल होता है. और चंचल होनेके कारण एक बात पर स्थिर नहीं रह सकता . इसकेलिये ही गीतामें कहते हैं **तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्** वायुको रोकना चाहें तो वायु रोकी नहीं जा सकती. सूपमें से गेहूं जमीन पर गिर जायें तो बीन कर फिरसे डिब्बेमें रखे जा सकते हैं. लेकिन हवाको हम बीनकर डिब्बेमें नहीं रख सकते. मनका ऐसा विचित्र कामकाज है. ऐसी विचित्र स्थिति है मनकी कि यह बिखर गया तो इसका बीनना कठिन है. और कहीं हवाकी तरह बहता हो तो पकड़ना भी कठिन. यह होते हुये भी मनकी एक बात खास समझने जैसी है कि मन रूपको देख नहीं सकता लेकिन आंखोके रूप दर्शनका मजा जरूर लेता है. मन मठड़ीका स्वाद तो चख नहीं सकता लेकिन जीभ द्वारा मठड़ीके स्वादका मजा तो जरूर लेता है. मन अपने आप अच्छा गीत नहीं सुन सकता लेकिन कान द्वारा सुन्दर संगीत सुननेका मजा जरूर लेता है. मनको खुद कुछ भी लाभ नहीं मिलता तो भी इन्द्रियोंको विषयोपभोगका दान तो करता ही

रहता है. अनुमन्ता बनकर देता ही रहता है. पहले सरकारी अफसर कुछ लायसेन्स् देनेकेलिये कुर्सी पर जमे बैठे होते हैं उन्हें लायसेन्स प्राप्त करनेकेलिये घूस तो देनी ही पड़ती है! लेकिन इन इन्द्रियोंको किसी भी प्रकारकी घूस मनको नहीं देनी पड़ती.

मनरूपी भगवान अपना अनुमंता बनकर हमारेसे वानरों जैसी हरकतें करवाता रहता है. मनका, इस अर्थमें, स्वभाव मनुष्य जैसा है कि जिसे कहा गया कि दान करता रह. इसमें कुछ लाभ भी नहीं है तो भी देता ही रहता है. कोई कुछ देता है तो कुछ लेनेकेलिये; प्रत्युपकारकी भावनासे नहीं लेकिन सहज भावनासे जो कुछ मिल जाय, यह मनको मिलते जो दुःखसुख हैं वह भी मानवीय सुखदुःख जैसे हैं. मनुष्य कहो कि 'मन' वह दोनों शब्दोंमें 'मनु' यह एक ही धातु क्रियापद काम कर रही है.

वह मन जब हम प्रभुको समर्पित करते हैं... मैंने एक जगह पढ़ा था कि कोई व्यक्ति एक दिन मंदिर दर्शन करने गया. वहां इसने पूछा कि यहां कौनसा देवता बिराजता है? तो किसीने बताया कि फलाना देवता बिराजता है. इसने फिर पूछा कि मेरी फलानी मनोकामना पूरी नहीं होती तो तुम्हारे इस देवमें ऐसी सामर्थ्य है कि मेरी मनोकामना पूरी करदे? कुछ चमत्कार है? तुम्हारा देव सजीव है?

वहां जो पुजारी था उसने बहुत ही सुंदर जबाब दिया कि **हमारे मंदिरमें बिराजमान मूर्ति सजीवमूर्ति है और यह चमत्कार भी दिखाती है. लेकिन यह कुछ दूसरे ही प्रकारका चमत्कार दिखाती है. यह ऐसा चमत्कार नहीं दिखाती कि तुम्हारी मनोकामना यह पूरी करदे लेकिन तुम इसकी मनोकामना पूरी करो यह ऐसा चमत्कार दिखाती है!**

इसीलिये कहा **शास्त्रणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नराः** सच्चे नरका शौर्य इसमें रहा हुआ है!

यह वास्तवमें जीवनमें एक बहुत बड़ा चमत्कार है. अपनी मनोकामना भगवान पुरुषोत्तम पूरी करें यह तो बहुत छोटा चमत्कार है परन्तु जीवनमें जो कोई बड़ा चमत्कार है तो वह यह कि भगवान पुरुषोत्तमकी हमारे लिये जो कुछ मनोकामना हो कि हम कैसे हों? वैनरः हों या वानरराय हों. जो इसकी ऐसी अपेक्षा है कि हम वैनरराय हों तो हम यह चमत्कार करके दिखा सकते हैं. यह चाहता हो कि हम मानव हों तो हमें अपना मन उसे देना चाहिये कि **अब मेरे बारेमें तेरी जो मनोकामना है वह मैं पूरी करके दिखाता हूं** यह जीवनमें सबसे बड़ा चमत्कार है. भगवानके जो मनोरथ हैं वह बहुत दिव्य मनोरथ हैं. तुम्हें भक्तिके, ज्ञानके, कर्मके पथपर अग्रसर करनेके मनोरथ हैं. तुम्हारे मनोरथ तो बहुतही क्षुद्र मठड़ी, मोहनथाल खानेके, बेचनेके मनोरथ हैं. इसका मनोरथ तो यह है कि तुम इसके अंश हो इसकारण तुम दिव्यतासे भरा हुआ जीवन जीओ. लेकिन मठड़ी, मोहनथालको बेचने या उसका स्वाद लेनेके सिवाय दूसरी कोई आकांक्षा हमारे हृदयमें होती ही नहीं. तुम्हें होटलमें यह सब वस्तुऐं बड़ी आसानीसे मिल जायेंगी और तुम्हारे मनोरथ पूरे हो जायेंगे. किसी धंधेके द्वारा भी पैसे एकत्रित कर सकते हो. भगवानकी भगतीकी नौटंकी करनेकेलिये यह क्षुद्र हेतु बहुत जरूरी नहीं हैं. निष्काम भक्तिका चमत्कार जो सिद्ध न होता हो तो घर छोड़कर वानप्रस्थाश्रममें जाओगे तो वहांभी यह नौटंकी करते रहोगे. लेकिन भगवानके जो मनोरथ हमारे बारेमें हैं कि हम कैसे बनें, उन्हें अगर हम पूरा न कर सकते हों, तो सभी आश्रमोंमें यही जंजाल रहनेका है. इस कारण भागवतमें जो कहनेमें आया है उसके आधार पर कह सकते हैं कि घरमें भी जो भगवत् समर्पित मन हो तो भगवत्कार्य ही करेगा. और वनमें भी जो भगवत् समर्पित मन नहीं होगा तो गृहस्थ जैसे सच्चे गलत काम करेगा. यह मानस जीवनकी एक विडम्बना है.

अतएव अपना मन जो प्रभुने हमको दिया है उसे एक बार फिर प्रभुको समर्पित करें; और प्रभुसे विनती करें कि **प्रभु ! आपने अपना मन अपने भक्तोंको दिया है अतएव अब कदाचित आपके पास मन न रहा हो तो आप मेरे मनका प्रयोग करो** प्रभु अगर हमारा मन प्रयोग करें और प्रयोग करके अपने मनोरथ हमें जनायें कि तू इस प्रकार भक्ति कर **ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्** इससे बढ़कर तो कोई चमत्कार जीवनमें घटित हो ही नहीं सकता. अपना मन जब अपने प्रभुको समर्पित करते हैं तब ये समर्पित मन प्रभुको अनुमन्ता बनाता है और असमर्पित मन हो तो मनरूपी प्रभु अपना अनुमंता हो जाता है. इस प्रकार दोनों मानस अवस्थाओंमें एक बहुत बड़ा अंतर रहा हुवा है.

जो हमारा भर्ता है उसके ऊपर अपने रक्षक होनेका विश्वास रखोः

अनुमंताके बादमें **भर्ता**. भर्ता अर्थात् तुम्हारा जो भरण करता हो, तुम्हारी जो जिम्मेदारी लेता हो. सामान्य रीतिसे इस कुरुक्षेत्रमें जिम्मेदारी कौन लेता है उसका तुम विचार करो. **मुझे गुस्सा आ गया, मुझे जो शब्द नहीं बोलने चाहियें वैसे शब्द बोल गया, मुझे माफ कर दो** ऐसा तबही कहा जा सकता है कि जब भूलसे कुछ हो गया हो. लेकिन जो काम बुद्धिपूर्वक सभानतासे किया जाता है उसके लिये माफी नहीं मांगी जाती. जो गलत काम अबुद्धिपूर्वक अज्ञानपूर्वक प्रमादसे, आगे पीछेका विचार किये बिना हो जाता है उसकी माफी मांगी जाती है. और सुननेवालेमें दयालुता हो तो माफी भी मिल सकती है कि **मनुष्यसे ही गलती होती है**. कहावत भी है कि **जीभके कोई हड्डी थोड़ेही होती है!** हड्डी नहीं है इसलिये जो कुछभी बोल जाती है. लेकिन सभानतासे बुद्धिपूर्वक कुछ बोले और बादमें माफी मांगे तो तुम्हें ऐसा

लगेगा कि दिखावा कर रहा है. अर्थात् यह अपने शरीरकी जिम्मेदारी अपने भीतर रही हुई सभानता और बुद्धिके कारण होती है. अपनेसे जो अबुद्धिपूर्वक कोई कुकर्म हो जाये उसका प्रायश्चित्तभी शास्त्रेंमें अलग अलग है. शास्त्रेंने भी इसकी अलग व्यवस्था करी है और कानूनने भी इसकी अलग व्यवस्था करी है. जिसे **काग्नीजेबल क्राईम** और **नानकाग्नीजेबल क्राईम** कहते हैं. जो बुद्धिपूर्वक सोचसमझकर किया जाता है उसकेलिये सजा अधिक होती है और जो परिस्थितिके कारण, अज्ञानतासे, प्रमादसे, अनजानेमें हो जाता है उसकी जबाबदारी इतनी अधिक नहीं होती. अर्थात् इस शरीरमें जो कोई जबाबदार अंग है तो वह बुद्धि है. बुद्धि अपनी भर्ता है.

अब फिरसे वह ही बात आई कि अगर हम बुद्धिको भर्ता मानें तो भगवान् पुरुषोत्तम कहते हैं कि **ले तो तू तेरा संभाल. भर्ता तू अपनी बुद्धिको मानता है तो मैं तेरी बुद्धिसे तेरा भरण करूंगा.** और जो तू तेरी बुद्धि भगवानको समर्पित करदे तो सर्व बुद्धिप्रेरक परमेश्वर तेरा भर्ता बन जायेगा. हम जिस रीतिसे मन समर्पित करते हैं, उसी प्रकार जो बुद्धिभी भगवान पुरुषोत्तमको समर्पित करदें तो भगवान पुरुषोत्तम बुद्धिरूप नहीं होते; परन्तु अपनी बुद्धि भगवद्रूप हो जाती है. क्योंकि बुद्धि भगवान पुरुषोत्तममय बन जाती है. श्रीमहाप्रभुजी सिद्धान्त रहस्यमें आज्ञा करते हैं कि **गंगात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना गंगात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वदत्रपि चैव हि**. अर्थात् भले गटरही क्यों न हो लेकिन जब वह गंगामें मिलता है तो वह गटरभी गंगा बन जाता है. इस प्रकार अपनी बुद्धि सात्विक, राजस अथवा तामस हो लेकिन जब हम पारमात्मिक धारणाओंकी गंगामें इन बुद्धिवृत्तियोंको समर्पित कर देते हैं तब वह बुद्धि ब्राह्मिकी बुद्धि हो जाती है. और यह समर्पित अथवा तो ब्राह्मिक बुद्धिसे लिये गये सब निर्णय ब्राह्मिक निर्णय ही

होते हैं. उस समय भर्ता यह क्षुद्र बुद्धि नहीं रह जाती परन्तु भगवान पुरुषोत्तम अपना भर्ता बन जाता है. और भगवान पुरुषोत्तम अपना भर्ता दो रीतिसे बनता है. एक तो जब भगवान पुरुषोत्तम बुद्धि रूप हो गये तब और दूसरे जब बुद्धि भगवान पुरुषोत्तम रूप हो गई तब. जैसे भगवान जब मनरूप हो गये मनुष्य वानररूप हो गया और मन जब भगवन्मय हो जाता है तो वानरभी नर बन जाता है. तो बुद्धि जब भगवन्मय, भगवद्रूप हो गई तब उसकी बुद्धिसेलिये गये निर्णयोंके भर्ता भगवान स्वयं होते हैं. भगवान पुरुषोत्तमके साथ अपना यह संबंध बंध जाता है. लेकिन इसकी एक शर्त है कि बुद्धि भगवान पुरुषोत्तमको समर्पित होनी चाहिये. **धियो यो नः प्रचोदयात्** यह जैसे कहते हैं कि अपनी बुद्धिको प्रेरणा, बुद्धिके प्रेरककी तरह इसे समर्पित करनी चाहिये, कि ले यह मेरी बुद्धि और तू प्रेरित कर मुझे, तू जैसे कहेगा वैसे ही बुद्धिका प्रयोग करूंगा. तो भगवानको बुद्धि समर्पित करो, बादमें बुद्धि भगवान पुरुषोत्तम द्वारा चालित होगी. बादमें भर्ता बुद्धि नहीं रह जायेगी. भर्ता भगवान पुरुषोत्तमहो जाते हैं.

जो तुम्हारा भोक्ता है उसे सब कुछ समर्पित करनेकी चित्तवृत्ति विकसित करनी चाहियेः

अब इसके बाद बहुत नाजुक संबंध आ रहा हैः **भोक्ता** होनेका. जो कुछभी कार्य हम कर रहे हैं उस कार्यमें कुछ न कुछ सुख अथवा दुःखका भोग हमें होता है. सुख न मिलता हो अथवा दुःख न टलता हो तो हम कुछभी कार्य करनेमें प्रवृत्त नहीं होंगे. अब सुख किससे मिलता है? तो एक बात समझो कि सुख अपनी वासनाओंके अनुसार मिलता है. अगर तुम्हारे चित्तमें सात्विक वासनाऐं होंगी तो सात्विक वस्तुओंके संबंधमें व्यवहारोंमें तुम्हें सुख मिलेगा. तुम्हारे चित्तमें राजस अथवा तामस वासनाएं होंगी तो तुम्हें राजस अथवा तामस

वस्तुओंके व्यवहारमें सुख मिलेगा. क्योंकि सुखका जो मूल है वह तुम्हारे चित्तमें वासनाके रूप में छिपा रहता है.

जिस वस्तुकी हमें वासना होगी उस वासनाके निवृत्त होने पर तुम्हें सुख नहीं मिलेगा. इसके लिये एक सामान्य उदाहरण है कि दूध मीठा होता है इसे हम सब लोग जानते हैं. लेकिन इसमें चीनी डालते हैं अतः दूधकी जो मिठास मधुरता है उसके बारेमें हमारी वासना समाप्त हो जाती है. कारण कि बचपनसे हमने चीनी डला हुवा दूध पिया है अतएव चीनीकी वासना हमारे लिये दृढ़तर होती जाती है. अब हमें कोई बिना चीनी डाला हुआ दूध दे दे तो हमें फीका लगता है. मेरे एक बार टौन्सिल बढ़ गये अतएव अस्थमा हो गया. इसके लिये मुझे किसीने कहा कि चीनी डला दूध पीयोगे तो अस्थमा और बढ़ेगा. इस कारण मेरी पहली वासना जो थी वह तत्काल टूट गई कारण कि अस्थमामें बहुत तकलीफ होती है. सांस चलना मनुष्यको अभिलषित होता है लेकिन जब अधिक सांस चलने लगता है तो महान श्राप जैसा लगता है. उसके बाद मैंने चीनी छोड़ दी. और तुम विश्वास करो कि दस पंद्रह दिनोंके बाद मुझे दूधमें रही हुई मिठास मधुरता समझमें आने लगी. मुझे दस पंद्रह दिन तक तो दूध फीका लगा लेकिन बादमें ऐसा लगा कि नहीं, दूधमें अगर चीनी नहीं डालें तो भी दूध बहुत मीठा होता है. अतएव दूधकी जो स्वभाविक मिठास है वह तो हमें अनुभूत होती नहीं क्योंकि पहले चीनीसे हमारी जीभ ग्रस्त हो गई होती है. चीनीकी मिठासके अतिरिक्त हमें दूसरी कोई मिठास अच्छी नहीं लगती. यह वासना जीभकी नहीं है. क्योंकि जीभमें जो वासना होती तो पंद्रह दिन पीछे सुधर नहीं गई होती. लेकिन यह वासना चित्तमें भर गई होती है. बादमें तो मैंने टौन्सिल कटा डाले और उससे मेरा अस्थमा ठीक हो गया. उसके बाद फिरसे मैंने चीनी वाला दूध पीना शुरु कर दिया तो अब फिरसे वह फीका दूध अच्छा नहीं

लगता. तो यह चित्तमें रही हुई वासना फिरसे प्रबल हो गई. समझ में आया न? वासना इस प्रकारसे काम करती है.

तो इस चित्तको हमें प्रभुकी वासनासे वासित करना चाहिये. चित्तके कारण हमें जिन वस्तुओंका उपभोग अच्छा लगता है वह सब भगवदर्थ करने लगें तो अपनी विषयवासना भक्ति भावनामें परिवर्तित हो जायगी.

दो ढाई महीने पहलेही मैंने बाबरनामें में पढ़ा था कि जब बाबरने भारत में प्रवेश किया तब वहां सीमा पर कोई सरदार था, उसने बाबरको सपरिवार तथा अन्योंको भी दावत पर बुलाया. इस दावतमें उसने मुरब्बा और ऐसी बहुतसी मीठी चीजें परोसीं. यह सब लोग उस जगहसे आये थे जहां गन्ना नहीं होता था अतएव कदाचित् इन लोगोंने कभी मीठा नहीं खाया था. इन लोगोंने जब मीठेको चखा तो किसीको भी अच्छा नहीं लगा. फेंको, फेंको, फेंको. और हमारे यहांके एक शास्त्रीजी एक कप दूध या चायमें आठ चम्मच चीनी डालें तो भी उन्हें फीकाही लगता है. मैं बाबरकी अथवा शास्त्रीजी की बात नहीं समझा रहा हूं परन्तु वासनाकी बात समझा रहा हूं. तो यह बेगम लिखती है कि मुरब्बा चखतेही वितृष्णा हो गई कि इतना अधिक मीठा! और हमें तो मुरब्बा कितना अच्छा लगता है. हमारी अलग प्रकारकी वासना है और उनकी अलग. वस्तु एकही है लेकिन चित्तकी वासनाएं अलग अलग प्रकारसे गढ़ी गई होती हैं. अतएव वासनानुसार वस्तु हमें अच्छी या बुरी लगती है. उस चित्तको जब हम भगवानको समर्पित करते हैं तो प्रभुको समर्पित चित्तमें प्रभुकी वासना जागती हैं. और जब प्रभुकी वासना जागती है तो किसी भी वस्तुका भोक्ता अपना चित्त नहीं रह जाता. हरेक वस्तुका भोक्ता प्रभु बन जाता है.

अतएव अपने यहां तो ऐसे कहा जाता है कि कोई भी उत्तम वस्तुको देखकर हमारेमें उसे उपभोग करनेकी इच्छा

जगती हो तो उससे पहले **यह उत्तम वस्तु है यह तो मेरे प्रभुकेलिये है** ऐसा अनुसंधान जाग्रत रहे तो चित्तमें भगवद्वासना जाग गई माना जा सकता है. जैसे एक अच्छे गुलाबके फूलको देखकर हमें ऐसा लगे कि चलो सूंघ लें तो हमारे चित्तकी ऐसी वासना अभी प्रभुको समर्पित नहीं हुई. अभी तलक चित्त अपनेको ऐसी प्रेरणा दे रहा है कि जो भी अच्छी वस्तु दिखाई दे रही है वह अपने लिये है. कोई भी अच्छी वस्तु दिखाई दे और हमें ऐसा भाव जगे कि इतनी उत्तम वस्तु तो ठाकुरजीके लिये है तो यह चित्त भगवन्मय हो गया, ऐसा कहा जा सकता है. जिस वस्तुको तुम देखोगे उस वस्तुको देखतेही तुरन्त तुम्हें भगवानका स्मरण आ जायेगा, क्योंकि भगवान चित्तमें जो बिराज गये हैं! भगवान चित्तमें कब बिराजते हैं जब तुमने चित्त भगवानको समर्पित किया हो. चित्त अगर तुमने भगवानको समर्पित नहीं किया हो तो तुम्हारी सदसद् वस्तुओंका भोक्ता भगवान नहीं बनते. तुमही बनते हो. और एक बार चित्त प्रभुको समर्पित करो बादमें जो कोई भी अच्छी वस्तु, अच्छा घर, अच्छा वन उपवन, अच्छा पिकनिक प्लेस देखकर..... हम हिन्दुस्तानीओंमें एक आदत होती है कि अच्छा बाग या जंगल देखकर तुरन्त एक ढोकले फाफड़ेकी पिकनिक करनेका मन हो जाता है! लेकिन जो भक्त होता है वह जब अच्छा वन देखता है कि अच्छा स्थल देखता है तो उसे ऐसी इच्छा हो जाती है कि यहां तो प्रभुको पधराकर कोई मनोरथ करें तो! तो यह चित्तकी वासना बदल गई ना! तो चित्तको प्रभुको समर्पित करो तो तुम भोक्ता नहीं रह जाओगे. परन्तु तुम भोग धरनेवाले बन जाओगे. भोक्ता प्रभु बन जायेंगे. इसी कारण अपने यहां कहनेमें आता है कि उत्तम वस्तुके भोक्ता प्रभु हैं. यह प्रभुमय चित्तकी वासना है. और जो चित्त प्रभुको समर्पित नहीं है, प्रभुमय नहीं है तो उस चित्तकी वासना ऐसी ही होती है कि यह सब मेरे लियेही है.

जैसे मैंने तुम्हें एक वयोवृद्धकी बात कही थी कि मठड़ीकी बात चले तो उनकी लार टपकने लगती और कहते कि मठड़ी भोग धरे बगैर ठाकुरजीकी सेवा कैसे हो सकती है? मैंने कहा भाई मठड़ीका भोक्ता तू है कि ठाकुरजी? अगर ठाकुरजी भोक्ता हैं तो तुम्हारे मुंहमें से लार कैसे टपकती है? पोरबंदरवाले जीवनलालजी महाराजके जीवन प्रसंगमें मैंने एक बहुत सुंदर प्रसंग पढ़ा था कि एक समय इनके यहां मुखिया भीतरिया दूधघरियाओं में झगड़ा हो रहा था. वह सब अपने अपने भागके पेडाओं केलिये झगड़ा कर रहे थे कि दो पेडे मेरे लिये और एक तेरे लिये.... जीवनलालजी महाराज यह सब सुन रहे थे. आखिरमें उन्होंने वहां जाकर पूछा कि इनमें ठाकुरजीके लिये भी एकाध पेडा है कि नहीं? यह हम किसे भूल गये! जिसे भोग धरना है उनकेलिये तो एक भी पेडा नहीं बचा. सब मुखिया, भीतरिया, दूधघरिया इत्यादिमें ही बंट गये. भगवत्सेवा करने वाले नौकरोंमें भी वासना प्रभुके भोक्ता होनेकी नहीं होती, वासना अपने भोक्ता होनेकी होती है. इस कारण प्रभुका भाग था ही नहीं. जीवनलालजी महाराजकी जीवनीमें मैंने इसका उल्लेख पढ़ा है. हम अपनेको भोक्ता मानते हैं कि प्रभुको मानते हैं वह चित्तके समर्पण अथवा असमर्पण द्वारा तय होता है.

जो प्राणीमात्रका महेश्वर है उसके सामने दैन्यभाव प्रकट करना जरूरी है:

प्रत्येक प्राणीके साथ जुड़े हुये पुरुषोत्तम भगवानके षड्विध रूपोंमें उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ताके बाद उसके **महेश्वर** होनेका पहलू आता है. उसकेलिये अपनी इस कायाके भीतर मन, बुद्धि, चित्तके बाद **अंहकार**की बारी आती है. अंतःकरणकी जो चौथी ग्रंथि है वह अंहकार है. वह जब अपने भीतर प्रबल होती है तब अपनेको लगता है कि होगा कहीं

ईश्वर लेकिन मेरी काया अथवा हवेलीमें तो मैं ही पुरुषोत्तम हूं. अतएव गीतामें भगवान कहते हैंः **ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोहं बलवान् सुखी. आढयोभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया.. यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञान– विमोहिताः** अज्ञानविमोहित व्यक्ति ऐसा समझता है कि मैं ईश्वर हूं, मैं करता हूं, मुझे कर्म करना है, मुझे भोग भोगने हैं, मैं ऐसा हूं, हुं... हुं... हुं. **हुं करुं हुं करुं अेज अज्ञानता शकटनो भार जेम श्वान ताणे** इस हुंकारको, इस तुम्हारे अंहकारको, अगर तुम प्रभुको अर्पित कर दो तो बादमें प्रभु तुम्हारे साथ महेश्वरताका संबंध निभायेंगे. भगवान तुम्हें यह कहेंगे **हां, इस देहमें जो मैंने तुझे ईश्वर बनाया है, मैंने उस कारण तुझे अंहकार दिया है. अंहकारकी एक चाबी मैंने तेरेमें ऐसी भर दी है कि जिसके कारण तुझे ऐसा लगता है कि तू सोचे तो कर्म ज्ञान भक्ति या प्रपत्ति इत्यादि मार्गों पर चलनेमें सक्षम हो सकता है. इसमें तेरा कुछ नहीं परन्तु यह तो मेरी लीला है, ...अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिः.**

मैं जब छोटा था बात तबकी है. कोई एक संत हमारे घर हमारे पिताश्रीसे मिलने आये. वह सन्यासी थे. उन्होंने मुझसे पूछा कि **जीवनमें तुम्हारा क्या बननेका विचार है?** उस समय मैं पढ़ता था अतएव इस बातको तथा इस विषयको मैंने गंभीरतासे नहीं लिया था. और उस समय गंभीर होनेकी बुद्धि भी नहीं होती अतएव मैंने बालसुलभ रीतिसे कह दिया कि **मुझे क्या पता कि भगवानने मेरे बारेमें क्या विचार रखा है? भगवानको जो करना होगा वह करेगा.** वह कोई भक्तिके कारण कही गई बात नहीं थी. वह पूछ रहा था **तुम क्या बनना चाहते हो? क्या करना चाहता हूं?** इसका पता हो तो ही बताऊं न तुम्हें! भगवानके ऊपर डालकर पीछा छुड़ाना चाह रहा था. उन्होंने मुझे टोक दिया कि **इस प्रकार बोलनेका नहीं. तुम अपने अन्दर अपनी अस्मिता जगाओ. तुम संकल्प**

करो कि तुम्हें क्या बनना है. और तुम जो संकल्प करोगे तदानुसार तुम बन जाओगे. बादमें कहा कि संकल्प करो कि तुम्हें प्रेसीडेन्ट बनना है तो तीस दिनोंके अन्दर तुम हिन्दुस्तानके प्रेसीडेन्ट बन जाओगे. उस समय मैं पंद्रह सोलह सालका होऊंगा. मुझे मनमें लगा कि प्रेसीडेन्ट तो बीस पच्चीस सालके ऊपरके लोग ही होते होंगे. लेकिन बोले कौन? दादाजीके मेहमानके तौर पर आये संत. मैंने मनमें कहा कि अपनेको तो बेवकूफ बनकर बैठे रहनेमें ही सार लगता है. उस मामलेमें बोलने जैसा कुछ मुझे लगा नहीं. तुम लोग मानोगे नहीं, उसके बाद जब मैं अट्ठाईस सालका हुआ, उस समय उस संन्यासी संतने विवाह कर लिया! अब तो उसके बच्चे बच्चीयां भी हैं! मैं मनही मन विचारने लगा कि ऐसा उसने क्या संकल्प किया होगा?! मुझे तो कहता था कि तीस दिनोंमें तुम प्रेसीडेन्ट बन सकते हो और खुद संन्यासका संकल्प लेकर पीछे गृहस्थी बननेका विचार कर लिया! हो जाता है ऐसा, अंहकार ऐसी वस्तु है.

कोई महापुरुष हमें उपदेश दे तब ऐसा लगता है कि तीस दिनोंमें प्रेसीडेन्ट बननेके संकल्पसे प्रेसीडेन्ट बन सकते हैं कितना सरल कार्य है. स्वयं तो संन्यास लेनेके संकल्प करनेके बाद भी संन्यास निभा नहीं सके और विवाह भी कैसे कर लिया होगा? मेरे साथ पढ़ने वाली, जो तब उस सन्त की पड़ोसिन थी, वह कहती थी कि उसके बच्चे बहुत ही सुंदर हैं. मैंने कहा कि सुंदर तो संत भी था लेकिन ऐसी सुंदरतासे क्या लाभ?

मनुष्यका अंहकार काम नहीं आता. मुद्दा केवल इतना ही है **ईश्वरो अहम् अहम् भोगी**का. जैसे हम चाहें कितनेही संकल्प करें परन्तु ऐसे अंहकारको निभा नहीं सकते. इसकेलियेही भगवान गीताजीमें अर्जुन प्रति कह रहे हैं कि **मैं लडूंगा नहीं ऐसी तू खाली घोषणा कर रहा है. तेरे भीतर रही**

क्षात्रवासनाके कारण कोई तुझे यहां मारने आयेगा तो लड़नेकेलिये तेरे हाथ अपने आप उठ जायेंगे! भीतर रही वासना ऐसी होती है कि वह अपने अंहकारको भी कंट्रोलमें कर लेती है. हमें ऐसा लगता है कि हम अपने अंहकारसे सब वस्तुओंको कंट्रोलमें रखकर वशमें कर लेंगे लेकिन यह अहंकार कुछ न कुछ दूसरे ही प्रकारका होता है.

चित्तमें रही हुई वासनाएं कभी कभाक अहंकारको ऐसे बांध देती हैं कि हमें कुछ पता ही नहीं चलता.

जैमिनि ऋषिको एक बार अपने तेजका, तपका बहुत अहंकार हो गया. वह कुछ बात कर रहे थे तो व्यासजीने समझाया कि भाई अहंकार नहीं करते. जैमिनि ऋषिने भी कुछ अपनी संकल्पशक्तिके बारेमें ऐसा ही कुछ विधान किया होगा! इसके थोड़ेही समय बाद एक बहुतही सुन्दर स्त्री वहां आई. बस काम बन गया. जैमिनिने भान भूलकर इस स्त्रीके सामने प्रणयका प्रस्ताव रख दिया. सुन्दरीने कहा कि ऐसे काम नहीं चलेगा. तुम घोड़ा बनो और मैं तुम्हारे ऊपर सवार होंउ तो हम दोनोंका टिकाउ प्रणयसंबंध होगा. अब दाढ़ीवाले जैमिनि ऋषिको लगा कि ऐसी सुन्दर स्त्रीके साथ प्रेमसंबंध बंधता हो तो चलो घोड़ा भी बन जाते हैं! तत्पश्चात् वह घोड़ेकी तरह चलने लगे और सुन्दर स्त्री उनके ऊपर सवार हो गई. सवार होनेके बाद पता चला कि वह सुन्दर स्त्री तो स्वयं व्यासजी ही थे! तब व्यासजीने कहा कि देखो जीवनमें कैसे गड़बड़ होती है!

मनुष्य कितना भी सोचे, कितनीही साधना करे, कितनेही उपदेश दे; लेकिन कहीं न कहीं गोता खा ही जाता है और उसका उसे पता ही नहीं चलता. **अहम् ईश्वरो अहं भोगी अहं सिद्धो अहं बलवान्** यह सब कहनेकी बाते हैं. इससे जहां तलक अपना अहंकार हम भगवानको समर्पित नहीं करते, वहां तलक भगवान पुरुषोत्तम महेश्वर होनेका संबंध हमें प्रकट नहीं

जताते. है हमारेमें भी थोड़ा बहुत ऐश्वर्य. जैसे कि मैं चाहूं कि यह हाथ उठाऊं तो मैं उठा सकता हूं. एक विद्वानने ऐसे कहा है कि मनुष्यमें इतनी सामर्थ्य है कि पहले दांया पैर उठाना हो तो उठा सकता है; और बांया पैर उठाना हो तो बांया पैर भी उठा सकता है; लेकिन अगर उसने दांया पैर उठाया हुआ है तो वह चाहकर भी बांया पैर नहीं उठा सकता. वह गिर जायेगा. अतएव यह है अपनी असमर्थता. हम ईश्वर हैं लेकिन अल्प प्रमाणमें. **तिया गई घर सम्पति नासी. मूंड मुंडाये भये सन्यासी** अर्थात् जब पत्नी घर छोड़ कर भाग गई, घरको आग लग गई, तो बादमें मनुष्य संन्यास न ले तो क्या करे? इसकेलिये संन्यास ले लिया. फिर कहीं सुंदर स्त्री, बड़ा मकान, भेंट धरनेवाले धनिक अपनेमें रुचि दिखाने लगे तो बस! संन्यास तो खत्म हो गया! खाने पीनेके साधन हों, मनपसन्द बंधु बान्धव हों; बादमें किसको संन्यास लेने की पड़ी है? लाखोंमें एकाधको ही!

यह जो अहंकार हम करते हैं वह वास्तवमें ऐसा है कि जिन लोगोंकी भौतिकताकी संस्कृति है उसका अनुकरण हम करते हैं और जो हमारी आध्यात्मिकताकी संस्कृति है उसकी सच्चाईको यह लोग अपनाना चाहते हैं. अतएव यह लोग हमसे पूछते हैं कि भाई तुम्हारी सच्ची संस्कृति कौनसी है वह तो बताओ. इसमें प्रश्न देशका नहीं है, मनोवृत्तिका है प्रत्येक शरीरमें, चाहे यूरोप हो अथवा भारत हो. **त्रयाः हि प्राजापत्याः देवासुरमनुष्याः** वहां भी हैं और यहां भी. **आव भाई हरखा आपणे बेऊ सरखा** दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है. एक ही है. अब डिग्रीका कोई फर्क हो तो अलग बात है. न मिले तो क्या करे? **न मिले नारी तो बाबा सहज ब्रह्मचारी!**

अतएव अहंकारको उसके सच्चे परिप्रेक्ष्यमें समझो. उसे पुरुषोत्तमको समर्पित करना हो तो पुरुषोत्तमका महैश्वर्य स्वीकारो. उसके बाद तुम्हारा सारा नियमन तुम नहीं लेकिन

महेश्वर करने लगेगा. अर्थात् पुरुषोत्तम द्वारा हो रहा है ऐसा तुम्हें अनुभूत होगा. पुरुषोत्तमके ऐश्वर्यमें तुम विलस रहे हो. तुम्हारे इस कुत्ते जैसे क्षुद्र अहंकारमें तुम नहीं विलस सकते. यह एक बड़ा संबंध हम पुरुषोत्तमके साथ बांध सकते हैं.

परमात्माके सामने आत्मसमर्पण या आत्मनिवेदन आवश्यक है:

सबसे बादमें आता है जो कि पुरुषोत्तमके साथ बांध सकता है ऐसा छटा संबंध और वह है अपना **परमात्मा**. उसका अंशरूप शरीरमें जीवात्मा होता है. यह तुम्हें परमात्माके तौर पर कब अनुभूत होता है कि जब तुम इसे अपनी आत्मा सोंपो. तुम परमात्माके सामने आत्मनिवेदन करो. एकबार तुम परमात्माके बारेमें ऐसा विचार करो **हे परमात्मा मैं तेरा हूं** तो फिर परमात्मा कहेगा कि तू मेरा. भगवान अर्जुनको कह रहे हैं **इष्टोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्** तू मेरा इष्ट मित्र है, सखा है, इस कारण तुझे यह उत्तम रहस्य समझा रहा हूं.

गीतामें भगवान एक जगह अर्जुनको समझाना चाह रहे हैं कि **जीव दो प्रकारके होते हैं दैवी और आसुरी** वहां तो अर्जुनको मैं कैसा हूं ऐसी चिन्ता सताने लगी! उसके लिये भगवानको स्वयं गीतामें ही स्पष्टीकरण करना पड़ा कि **नहीं, नहीं, तेरे संबंधमें मैं यह बात नहीं कह रहा हूं, तू तो मेरा दोस्त है**. भगवानको अर्जुनका कितना अधिक ख्याल है कि घड़ी घड़ीमें उसे जता रहे हैं. गीतामें तुम देखो कि जहां जहां भक्तिका प्रश्न आया है वहां वहां भगवान अर्जुनको सावधान करके कहते हैं **तू मेरा दोस्त है इसकारण बहुत गूढ़ गंभीर बात तुझे कहना चाह रहा हूं. "राजविद्याराजगुह्यम्", "गुह्यात् गुह्यतरं", "सर्वगुह्यतमं भूयः श्रुणु मे परमं वचः इष्टोसि दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्".**

अर्जुनके साथ ऐसा संबंध किस कारण स्थापित किया? कारण कि अर्जुनने विषादयोगमें भगवान्के साथ यह संबंध

स्थापित किया है – **शिष्यस्तेऽहं साधि मां त्वां प्रपन्नं** अर्थात् मैं तेरी शरणागतिको स्वीकारता हूं, अब तू मुझे समझा कि मुझे क्या करना चाहिये? रथी अर्जुनने यह जिज्ञासा की तब सारथिरूप भगवान् बोले कि **अच्छा अब तुझे मैं समझाता हूं: सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज. अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच..** अर्थात् अरे तू क्यों धर्मकी चिन्ता करता है? तेरा परमात्मा, तेरा सारथि बनकर मैं बैठा हूं. मैं तुझे जहां ले जाऊंगा वहां तेरा अहित नहीं होने दूंगा. मेरे रहते हुये तेरा अहित हो यह तो संभवही नहीं है. इसीलिये कहा गया **यत्र योगेश्वरो कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः तत्र श्रीर्विजयोर्भूतिर्ध्रुवा नीतिः मतिर्मम.** परमात्मा स्वयं कह रहा है कि तू मेरा है: **अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि** धर्मकी चिंता तुझे नहीं करनी क्योंकि तेरे धर्मकी चिंता मुझे हो रही है. तेरेलिये क्या धर्म है और क्या अधर्म, उसकी आध्यात्मिक चिंता तू मत कर. तेरेलिये इस संबंधमें सारी सावधानियां मैं ले रहा हूं. यह प्रभुके साथ बांधा हुवा परमात्मसंबंध है.

आप जो पूछ रहे थे कि गीताका मुख्य संदेश क्या? तो एक बात समझो कि गीताका मुख्य उपदेश **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज** इतना ही हो और दूसरा कर्म ज्ञान संन्यास अथवा भक्तिका संदेश जो मुख्य न हो तो भगवदगीताका मुख्य तात्पर्य भक्ति नहीं रहा परन्तु प्रपत्ति हो गया. ओर जो केवल प्रपत्तिकेलिये ही मुख्य तात्पर्य हो और भक्तिके लिये मुख्य तात्पर्य न हो तो जब जब भक्तिकी चर्चा आई है तब तब भगवानने भक्तिके लिये इतने बड़े बड़े विशेषण किस कारण प्रयुक्त किये हैं **गुह्यतम् बता रहा हूं, तू मेरा दोस्त है, मैं तुझे कुछ बताना चाह रहा हूं.** जरा मुश्किल बात है. गीताको किसी भी एक साधनाके उपदेशके चौखटेमें बांधना अन्याय होगा, मुझे तो ऐसा लगता है. भगवानतो यह सब बातें समझा रहे हैं, जैसे एक औषधालयमें बहुतसी

औषधियां अनेक रोगोंके निदानकेलिये रखी होती हैं. अब इसमें निर्णय तो हमने लेना है कि हमें किस प्रकारका रोग है? जिस रोगका मरीज मैं होऊं उसी रोगकी दवाई मुझे लेनी चाहिये. अर्थात् गीता तो औषधालय है, गीताका कोई भी अध्याय नीमहकीमकी दवा नहीं है. **यस्य कस्य तर्रोमूलम्** जैसा नहीं है कि कि सबको कह दिया जाय कि **सर्वधर्मान् परित्यज्य** सब अपने अपने धर्मोंको छोड़कर केवल भगवानकी शरणागति स्वीकार लो. श्रीकृष्णःशरणं मम! श्रीकृष्णःशरणं मम!! श्रीकृष्णःशरणं मम!!! अरे ऐसा पहाड़ा नहीं पढ़ा जाता. भक्तिके भी अमुक अपरिहार्य सिद्धान्त गीतामें वर्णन करनेमें आये हें. अपनेको जो भक्ति करनी हो तो उसे अलग ही रखना पड़ेगा. भक्तिको अगर हम अलग नहीं रखेंगे तो कदाचित महाप्रभुजीके आशयसे विपरीत जानेकी अथवा अधःपतित होनेकी बारी आ जायेगी.

इस प्रकार जो ज्ञानमार्गका अधिकारी होगा उसकेलिये ज्ञानमार्गका उपदेश भगवानने गीतामें दिया है. उसे ज्ञानमार्गको अलग रखकर साधना करनी पड़ेगी. भक्तिको गुह्यतम, गुह्यतर कहा अतएव ज्ञानको छोड़कर भक्तिको करने जायेगा तो उसका तो पार ही नहीं पड़ेगा. इस प्रकार तो कितने सारे मार्ग गीतामें कहनेमें आये हैं. आखिरमें मुझे तो ऐसा लगता है कि अर्जुनविषादयोगकी तरह सबसे मुख्य सिद्धान्त गीताका यह ही होगा कि विषाद करते रहो भगवानके सामने!

एक समय एम.ए. की तरह संस्कृतमें जो आचार्य परीक्षा होती है उसके विद्यार्थियोंको वृहदारण्यकोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद्के ऊपर श्रीमहाप्रभुजी द्वारा लिखे भाष्योंके आधार पर परीक्षा देनी थी. वास्तवमें तो ऐसे कोई भाष्य श्रीमहाप्रभुजीने कभी लिखेही नहीं! अब 100 नम्बरोंकी परीक्षामें तीन परीक्षार्थीयोंमें से दो ने तो परीक्षा ही नहीं दी. एक

परीक्षार्थीने सारी उत्तरपुस्तिकामें एक ही जबाब लिखा **सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वतः पापपीनस्य दीनस्य श्रीकृष्णःशरणं मम** अर्थात् सबही साधनोंसे मैं हीन हूं; मेरे पास कोई साधन नहीं है. सारे प्रकारोंसे मैं पराधीन हूं; *मेरा मूल पाप यह है कि मैं परीक्षामें बैठा!* दैन्य भी आ गया! और तारनेवाला कौन? तो श्रीकृष्णःशरणंमम! ''**सर्वधर्मान् परित्यज्य....**''. मुझे ऐसा लगा कि गीताका अर्थ कोई अच्छी तरहसे समझा है तो वह यह परीक्षार्थी ही समझा है! सब कुछ छोड़कर भगवान्की शरण गया लेकिन प्रश्न अब यह है कि इस विद्यार्थीको पास करना कि नहीं करना. ऐसे विद्यार्थीको मैं तो पास नहीं करुंगा बोर्डवालोंने करना हो कर दें. कारण कि.. ...

तात्पर्य **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज** यह तो दो सखाओंके बीचका उपनिषद् है. जिन सिद्धान्तोंके कारण अर्जुन धर्माधर्मकी चिन्ताको छोड़ कर युद्धके दारुण कर्ममें परायण हो गया. गीताके उपसंहारमें, वह भी अतिशय प्रेमके कारण अथवा हितके कारण भगवान द्वारा अर्जुन प्रति कही गई यह बात है. इसका अर्थ, परन्तु, यह नहीं है कि प्रत्येक काम ऐसेही करना कि धनुषबाण लेकर धर्माधर्मकी चिन्ता करे बगैर जो सामने आये उसके ऊपर तीर छोड़ने चालू कर दें. अथवा तो श्रीठाकुरजीको जब जगानेका समय आये तो भी यह कह देना कि **सर्वसाधनहीनस्य श्रीकृष्णःशरणं मम** मैं आपको क्यों जगाउं? बात सच्ची है कि सर्वसाधनहीन हम हैं, पराधीन भी हैं, लेकिन सेवामें श्रीकृष्णःशरणंमम काममें नहीं आता, जहां काममें आता है वहीं आता है. कहावत है कि कपड़े सीनेमें तलवार काममें नहीं आती, वहां तो सुई ही काममें आती है. तलवार तो बहुत बड़ी है अगर तलवारसे कपड़ा सीने गये तो कपड़ा नहीं सिलेगा बल्कि फट और जायेगा. भगवत्सेवामें भी बहुतसी चिन्ताओंका हरण करनेवाली शरणागति काममें नहीं

आती लेकिन **दासोहम्**की सुई काममें आती है. साधनकी हमें अच्छी प्रकार समझ नहीं हो तो एक साधन अपने हाथमें आ गया तो उसे हर काममें लगा दो. यह पद्धति गीताकारको पसंद नहीं है. गीताकारने तो बहुतसे साधनोंका समाहृत उपदेश दिया है और इसी संदर्भमें गीताका अभ्यास करना चाहिये. उन सबमें से एक पुरुषोत्तमयोग स्वतंत्र योग है. उसका अभ्यास हम करेगें तो उसका सच्चा अभिप्राय समझमें आयेगा.

तात्पर्यतः सर्वसाधनरहित शरणागति यह गीताका चरमोपदेश है, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते. परन्तु भक्तिका उपदेश गीतामें बहुतही गुह्यतम उपदेश है इसमेंभी दो मत नहीं हो सकते. ज्ञानका उपदेश अतिशय दिव्य उपदेश है इसमेंभी कोई दो मत नहीं हो सकते. शास्त्रविहित स्वकर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये इसका उपदेशभी भगवान्ने अनिवार्य कर्तव्यरूप कह कर दिया है. कोई ज्ञानी हो कि भक्त हो या कर्मी हो लेकिन स्वकर्मका किसीके भी द्वारा त्याग नहीं हो सकता. इन सब उपदेशोंको देनेके बाद बड़ी सरलतासे अर्जुनको भगवान कह देते हैं कि तू चिंताको छोड़ दे; तेरी चिंता मैं कर रहा हूं. यह तो जिन्होंने अपनी चिंता करनी हो उनके लिये दिया गया उपदेश है. तेरेलिये तो ज्ञान अच्छा कि कर्म अच्छा कि भक्ति अच्छी, यह चिंता मैं कर रहा हूं. जो तेरेलिये अच्छा होगा वह मैं तेरे द्वारा करवाही लूंगा. मैं तेरा परमात्मा हूं, तू मेरे ऊपर विश्वास रख.

यह अर्जुनको परमसखा अथवा परमात्माके तौर पर कहा तो इसका कारण यह था कि भगवानका परमात्माके तौर पर अर्जुनने वरण किया था. क्या हमने एक बार भी अपने कर्तव्य अथवा अकर्तव्यके, अपनी विवेकशक्तिके, दंभ अथवा अंहकारके तीखे शस्त्र भगवानके चरणोंमें समर्पित किये हैं? अपने शरीरमें किसीभी दिन उस प्रकारका कम्पन हुवा है कि जो मैं करने

जा रहा हूं वह पहले **वेपथुश्य शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते.** किसी समय अच्छा बुरा काम करते समय अपनी चमड़ी जल्ती है क्या? नहीं जलती. इस कुरुक्षेत्रमें जो करनेका है वह तो हम अपने अहंकारानुसार करतेही रहते हैं ूीव बंतमे वित च्तउंजउंघ ऐसी अपनी वृत्ति है. हम परमात्माके सामने शरणागत नहीं होते. **शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** कह कर हमने शरणागति नहीं ली है. उसमें भी सब धर्मोंको छोड़नेका पाखण्ड करते हैं कि हम तो **श्रीकृष्णशरणं मम** हैं, तो बादमें, पहले बोर्डवाला पास करे भी तो, परमात्मा पास करे कि न करे इसे कौन जानता है! परमात्माकी इच्छा हो तो करे, न हो तो न करे, तुम्हारे साथ वह तुम्हारा परमात्मा होनेका संबंध प्रकट तैयार है कि नहीं इसका कोई नियामक नहीं हो सकता. यह तुम्हारे साथ जुड़नेके लिये तैयार है तो तुम्हारा भी उद्धार करेगा. वह अपना उद्धार जिस रीतिसे करना चाहता है करे; लेकिन उसकेलिये, हमें सर्वसाधनहीन होना जरूरी नहीं है.

एकबात स्पष्टतया समझो कि परमात्मा सर्वसाधनहीनोंका उद्धार करता है उससे हमको सर्वसाधनहीन बन जाना, वह कथा ठीक नहीं है. परमात्माने रावणको मोक्ष दिया अतएव श्रीरामकी सीताजीका हम हरण कर लें, यह कोई रामायणका बोधपाठ नहीं हो सकता. इसमेंसे कुछ दूसरा बोधपाठ निकालो. भगवानने विष पिलानेवाली पूतनाको मोक्षदान दिया अतएव संसारसे मुक्त होनेके लिये हररोज भगवानको भोगमें विष ही धरना कि किसलिये पूतनाको मोक्ष दान किया? अतएव विष ही आरोगो अब. दूध आरोगेगे तो काम नहीं चलेगा!! ऐसी पद्धति सम्यक नहीं हो सकती. परमात्मा तो बहुत कुछ करता है, इसे नहीं भूल जाना चाहिये. परमात्मा अपनी सामर्थ्यसे काम करता है उस सामर्थ्यको अपनी सामर्थ्य नहीं मान लेना चाहिये. परमात्माकी सामर्थ्य अपनेमें आती है लेकिन कब कि जब हमने अपना आत्मनिवेदन परमात्माके समक्ष किया हो.

जैसे अर्जुनने कहा था कि **शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** तो श्रीकृष्णने भी कहा कि **मयैवैते निहता पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव.** किसी समय अपनी त्वचामें भी, अर्जुनको जैसी हुई थी वैसी, घबराहट होती हो, अपनीभी आत्मा दुखती हो कि मैं जो काम करने जा रहा हूं वह ठीक है कि नहीं, उस समय अपने परमात्मासे ज्ञान मांगो कि **हे परमात्मा तू मुझे समझा कि मुझे क्या करना चाहिये?** तो कदाचित परमात्मा समझाये भी, परमात्मा होनेके कारण. हमसे ऐसा तो कुछ होता जाता नहीं. अर्जुनविषादयोग तो अपनेमें प्रगट हुआ नहीं और उसमें अगर हम सब धर्मका परित्यागपूर्वक शरणागति प्रकट करनेका पाखण्ड करेंगे तो उससे कुछ कार्य सरनेवाला नहीं है, जो कि गीताका चरमोपदेश है इसमें तो कोई दो राय नहीं है. अतएव अपने इष्ट सखा अर्जुनको दिये गये मुख्य उपदेशका हल्ला मचाकर अपन भी अर्जुनकी कक्षामें जबरदस्ती घुसकर उसको दिये गये अथवा दूसरे कुछ ऐसे उपदेशोंसे गीताको बांधे, यह गीताके मूलतः उपदेश करनेवाले परमात्माके साथ हमारा मूर्खतापूर्ण अन्याय होगा. अपने अधिकारानुसार गीताका अनुसरण करो. परमात्माकी आज्ञानुसार गीताका अनुसरण करो.

एक जंगलमें कोई सर्वसाधनहीन आदमी पहुंच गया. जंगलमें उसने देखा कि बाघ बकरी, हिरण जैसे दूसरे पशुओंको मारकर जितना खाना हो उतना खाता और बाकीको छोड़ कर चल देता. अब उस बाघ द्वारा छोड़े गये शिकारको सियार वगैरह खा लेते. इसको देखकर उस आदमीने सोचा **ओहो, परमात्मा कितना उदार है कि जो सियार खुद शिकार नहीं कर सकते उन्हें भी बाघ द्वारा मरवाकर खानेको देता है! परमात्माकी कृपालुताका क्या वर्णन किया जा सकता है!** बादमें यह तो जंगलमें जाकर बैठ गया कि मुझे भी ऐसी ही रीतिसे कोई दे तो मैं खाऊंगा नहीं तो नहीं खाऊंगा. भगवान सियार इत्यादिको सबको दे रहा है तो मुझे क्यों नहीं देगा?

इस प्रकार चार पांच दिन तक वह भूखा बैठा रहा और अब उसकी जान पर बन आई. इतनेमें कोई संत वहांसे गुजर रहे थे तो उन्होंने उससे पूछा कि भाई तुम्हें क्या तकलीफ है? तो उस आदमीने कहा **मैं तो परमात्मामें अनन्यनिष्ठा रखकर बैठा हूं और मैंने अपनी आंखोंसे साक्षात् भगवानकी सामर्थ्य देखी है कि भगवान सियार भेड़िये जैसे पशुओंको बिना प्रयत्न खानेको देता है. तो मैं तो परमात्माका भक्त हूं तो मुझे क्यों भूखा रखा है?** तो संतने कहा **भाई! तुमने उस उदाहरणका गलत मतलब निकाला है. परमात्मा तुझे समझाता है कि सिंहकी तरह तुझे शिकार करना चाहिये. तूने सियारका उदाहरण अपने बारेमें आदर्शकी तरह कैसे स्वीकार लिया? तू अपनी तुलना सिंहके साथ क्यों नहीं करता? "सर्वधर्मान् परित्यज्य"** में भी हमें दोनों चीजें मिलती हैं – सियारपना और शेरपना. अब तुम अपनी तुलना किसके साथ कर रहे हो उसे तुम विचार लो. जिसके साथ अपनी तुलना करोगे वह ही होगा.

मूलमें मुद्देकी बात इतनी कि परमात्मा छः प्रकारके संबंध बांधकर मात्र अर्जुनके रथमें सारथि नहीं है; यह अपने शरीरके रथमें भी अपना सारथि है. **उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः. परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः..** यह परमात्मा छहों छः रीतिसे अपने साथ संबंध बांधनेको तैयार है लेकिन संबंध कभी भी इकतरफा नहीं होता. संबंध हस्तमिलाप द्वारा होता है. अकेले एक हाथसे कभी भी हस्तमिलाप संबंध नहीं हो सकता. अतएव श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं **कन्याहि यथा वरं वृणीते** कन्या जिस प्रकारसे वरमाला पहराकर किसी पुरुषको अपना वर बनाती है इस प्रकार तुम्हें किसी प्रकारकी शरणागतिकी वरमाला भगवानको पहराकर किसी प्रकारका अपना वर भगवानको बनाना है. उसे उपद्रष्टा अथवा अनुमन्ता अथवा भर्ता अथवा भोक्ता अथवा महेश्वर अथवा परमात्मा बनाना है. जो बनाना हो; अथवा, सब कुछही उसे बनाना हो.

जैसे **त्वमेव माता च पिता त्वमेव .. त्वमेव सर्वं मम देवदेव!** इस प्रकार छःहों रीतिसे तू मेरा हो जा. तो तुम्हारी विषयासक्ति, मन, बुद्धि, अंहकार, चित्त, आत्मा अथवा सकल आत्मीय सामर्थ्योंको उसे समर्पित करो. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **भगवति समर्पिता सर्वा सामग्री भगवदीया.** इस प्रकार उसके साथ षड्विध संबंधोंके लिये षडविधा शरणागति अपेक्षित होती है – **अनूकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलविसर्जनम्. रक्षिष्यतीति विश्वासो भोक्तृत्वे वरणं तथा. आत्मनैवेद्य – कार्पण्ये षड्विधा शरणागति..**

उसको अगर तुमने **उपद्रष्टा**[1] बनाना हो तो उसके अनुरूप मैं सारे संकल्प करूंगा इस प्रकारकी शरणागति तुम्हें उसके सामने लेनी पड़ेगी. फिर तो यह तुम्हारा उपद्रष्टा बन सकता है. उसे जो स्वीकार्य न हो उस प्रकारका कोई कार्य मैं नहीं करूंगा, इस प्रकारकी शरणागति तुम्हें परमात्माकी लेनी होगी तो यह तुम्हारा **अनुमन्ता**[2] बन जायेगा. यह मेरी रक्षा करेगा ही ऐसे दृढ़तर विश्वास सहित तुम्हें चलना होगा तो उसके **भर्ता**[3]पनका भास तुम्हें होगा. जो उसे तुम भोक्ताकी तरह वरण करोगे तो यह तुम्हारा **भोक्ता**[4] बनेगा. उसे अगर तुम भोक्ताके तौर पर वरण नहीं कर रहे तो वह तुम्हारा भोक्ता नहीं बनेगा. उस **महेश्वर**[5]के सामने तुम्हें कार्पण्य अर्थात् दैन्य रखना पड़ेगा. उस **परमात्मा**[6]के सामने तुम्हें आत्मसमर्पण अथवा आत्मनिवेदन करना पड़ेगा. अतएव छः प्रकारका संबंध अपना पुरुषोत्तमके साथ है, इन छःहों संबंधमें अपनी भगवानके साथ बंधनेकी तैयारी हो तो षड्विधा शरणागति स्वीकारनी चाहिये.

जो इन छःहों प्रकारकी शरणागति तुम्हें अनुकूल न पड़ती हों तो तुम्हें जैसा अच्छा लगता हो वैसे कमसे कम एक पग तो परमात्माकी ओर धरो. दूसरा पग परमात्मा तुम्हारे पास दौड़कर धरनेकेलिये तैयार है. तुम्हारेमें भी वह तुम्हारे भीतरसे

ही गीताका उपदेश देना प्रारम्भ कर देगा. यह सारथि बनकर तुम्हें दिशाबोध देगा कि अब किस दिशाकी ओर तुम्हें बढ़ना चाहिये. वह कहेगा कि चल, तेरी काया अथवा मानस, जिसे कहे उसका, रथ हांकनेकेलिये मैं तैयार हूं.

पूर्वाध्यायके वचनके आधार पर हमने एक बात समझनेका प्रयास किया. इस देहमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूपी केवल पंचमहाभूतही नहीं हैं. पांच तन्मात्र अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द भी हैं. उन तन्मात्रओंको ग्रहण करनेवाली आंख, जीभ, नाक, त्वचा और कान रूपी पांच ज्ञानेन्द्रियां भी हैं. हाथ पैर वाणी वगैरह पांच कर्मेन्द्रियां भी हैं. इन सब दसों इन्द्रियोंको हम बाह्यकरण मानते हैं. अर्थात् ऐसा साधन कि जिसके कारण हम बाह्य जगतके जो रूप, रंग, इत्यादि हैं उनको ग्रहण कर सकें. बाह्य जगत है उसमें जो पंच कर्मेन्द्रियां हैं उन द्वारा हम सब कोई न कोई क्रिया करनेमें समर्थ हैं. जैसे कि चलनेकी, पकड़नेकी इत्यादि इत्यादि. तो कर्मेन्द्रियोंसे कर्म कर सकते हैं और ज्ञानेन्द्रियोंसे ज्ञान ले सकते हैं. इस शरीरमें भी यह बाह्य करण ही हैं ऐसा नहीं है, इनके अतिरिक्त कुछ अंतःकरण जैसा भी है. अंतःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, अंहकार और चित्त. इस संबंधमें विवेचन हमने कर लिया. इस शरीरमें भी उसी प्रकार प्राणापानादि पंचवायु भी हैं. और उन सबके मध्यमें एक जीवात्मा भी है, जोकि परमात्माका चिदंश है. इस जीवात्माकी बातके साथ सारी बात सम्पूर्ण नहीं हो जाती. उस जीवात्माके भीतर पुरुषोत्तमरूप भी बिराजमान है, जिसके साथ हम उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर एवं परमात्माके तौर पर संबंध बांध सकते हैं. उसकेलियेही **अनूकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलविसर्जनम्. रक्षिष्यतीति विश्वासो भोक्तृत्वे वरणं तथा. आत्मनेवेद्य – कार्पण्ये** इन छः प्रकारकी शरणागतियोंमें से कोई एक, दो, तीन, चार, पांच अथवा छः प्रकारकी शरणागति उस

पुरुषोत्तमको अनुलक्षित करें तो उस उस प्रकारका संबंध भगवान हमारे साथ जोड़ेगे.

000000000000000

।।पुरुषोत्तमको समझनेके लिये समर्थ बुद्धि।।

पुरुषोत्तमकी धारणाको धारण करनेमें समर्थ एवं असमर्थ बुद्धिके दो प्रकारः

अब हम आगे बढ़ते हैं. परमात्माके प्रति अपनी छः प्रकारकी शरणागतियोंका हमनें जो विचार किया उसीके साथ साथ हमारे लिये एक और मुद्दा विचारणीय रह गया है. यद्यपि वह पंद्रहवें अध्यायका विषय नहीं है लेकिन बहुत मूल मुद्दा है, अर्थात इस मुद्देको भी हमें समझना पड़ेगा. पुरुषोत्तमयोगकी विवेचनाके द्वारा अन्तमें तो वास्तविक पुरुषोत्तमज्ञान प्राप्ति ही है, तो भी किस प्रकारकी बुद्धि हमारेमें हो तो हमें पुरुषोत्तमका वास्तविक ज्ञान मिल सकता है, यह भी एक मूलभूत विषय है. तो इसे भी हम लोग समझनेका थोड़ा प्रयत्न सावधानीसे करेंगे. यह बात अट्ठारहवें अध्यायमें कहनेमें आई हैः

> **सर्वभूतेषु येनैकं भावम् अव्ययम् ईक्षते. अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्.. पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्. वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्.. यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम्. अतत्वार्थवद् अल्पं च तत्तामसम् उदाहृतम्..**

यह जो श्लोक कहे गये हैं उनमें तीन प्रकारके ज्ञानकी बात कहनेमें आई हैः 1. सात्विकज्ञान; 2. राजसज्ञान; और 3. तामसज्ञान. कोई ज्ञान सात्विक, राजस अथवा तामस किस प्रकार हो जाता है उसकी कसौटी इस बात द्वारा होती है कि हमें अनुभूत होती उत्पत्ति–नाशवान् पदार्थोकी; उत्पत्ति –नाशरहित अव्यय ब्रह्मके साथ एकतामें अनुभूत हो रही है कि अनेकतामें ?

ज्ञानके एक प्रकारको भगवान राजस् कहते हैं. अर्थात् अस्थिर अथवा चंचल प्रकारका ज्ञान राजस होता है, देखो बहुत विचित्र स्थिति हो गई. कोई बेचारा स्थिर होने जाये तो भगवान कहते हैं कि तामस हो गया! चंचल होने जाये तो कहते हैं कि राजस हो गया! तो फिर प्रश्न खड़ा होता है कि किस प्रकारके ज्ञानको सात्विक ज्ञान कहना?

केवल इन्द्रियों द्वारा होते ज्ञानके आधार पर पुरुषोत्तम समझा नहीं जा सकताः

पहले कही गई बातके संदर्भको अगर हम देखेंगे तो अच्छी तरह समझमें आयेगा कि आंख रूपको देखती है, शब्दको नहीं समझा सकती. कान शब्द अथवा ध्वनिको ही सुनता है, रूपको नहीं देख सकता. जीभ केवल स्वादको समझ सकती है रूपको अथवा ध्वनिको नहीं समझ सकती. हम किसी वस्तुको हाथ लगाकर उसकी सुगंध अथवा दुर्गंधको नहीं समझ सकते. तो पंच ज्ञानेन्द्रियोंके स्वभाव या स्वरूप पर अगर हम दृष्टि डालें तो समझमें आयेगा कि **यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहैतुकम् अतत्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम्.** यह जो तामसज्ञानका लक्षण है कि वस्तुके किसी एक पहलूको पकड़ लेता है, दूसरा कुछ भी उसे समझमें नहीं आता.

अब मेरा एक प्रिय विषय है, इसे कहे बगैर मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता. क्योंकि जैसे भैंस यह एक ऐसा प्राणी है कि जब यह मुंह उठाकर चलती है तब पीछेसे कितनाही हार्न बजता हो अथवा कोई आता हो, इसे पीछे देखनेकी इच्छाही नहीं होती. इसका नाम **तामस अर्थात् चली सो चली.** हमारी सारी इन्द्रियां भैंस जैसी होती हैं कि जिस विषयमें गईं उसीमें लगी रहती हैं. उस विषयके सिवाय आगे पीछेकी इन्द्रियोंको कुछ समझमें नहीं आती.

केवल मनके द्वारा होते ज्ञानके आधार पर पुरुषोत्तम समझमें नहीं आता

जबकि मन ऐसा नहीं होता वह तो बहुत ही चंचल होता है. एक प्रयोग करके देखो. किसी एक विषयको आंखसे सतत देखना शुरु करो. थोड़ी देरतक तो मन इस विषयमें पुरा रहेगा, तीन चार अथवा पांच मिनटके बाद तो मन वहांसे गायब होना चालू हो जायेगा. आंख जहां है उस विषयको देखती रहेगी और मन किसी दूसरे ठिकाने पर होगा. मन राजस ज्ञान जैसा है. एकमें बंधे रहना उसे पसन्द नहीं है. बंधकर जो रहे उसका नाम मन नहीं. यह योगसाधनाकी बात मैं नहीं कर रहा. यह तो अपने भीतर रही जो चंचलता है कि घड़ीमें यहां और घड़ीमें वहां, ऐसी चंचलता जो जरा भी खत्म हो जाय तो मन मर ही जायेगा. मूलतः मनकी घड़नमें **तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करं** इस प्रकारका चंचल राजस स्वभाव रहा हुवा है. इन्द्रियोंकी बनावटमें ऐसा कुछ तामसभाव रहा हुआ है कि **यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन्...** अर्थात् कि एक एक इन्द्रिय एक एक विषयको कृत्स्न मानकर उसीमें लगी रहती है. कानको ध्वनि मिली तो बस, आंखको रूप मिला तो संतोष. बाकीकी पंचायत इन्हें नहीं होती. लेकिन मनको किसी भी दिन ऐसा संतोष नहीं होता. आंख अगर देख रही है तो इसे सुननेकी इच्छा हो जाती है. हम यहां भगवद्गीता सुन रहे होते हैं और कुछ कठिन विषय आया नहीं कि घरमें क्या चल रहा है, क्रिकेटमें कौन जीता होगा, ऐसे बहुत सारे विचार आने चालू हो जाते हैं. जबकि क्रिकेट तो जहां चल रही है वहांही चल रही होगी यहां जूनागढ़में तो नहीं! तो यह किस कारण होता है? यह कानके कारण तो नहीं होता. कानसे क्रिकेट तो नहीं सुनी जाती लेकिन यहां तो श्यामुबाबाके बोल सुने जा रहे हैं, बौलिंग नहीं सुनी जाती. लेकिन मनको तो बोलकी

जगह बौल (गैंद) को सुनना अच्छा लगता है! ऐसा है मनका माहात्म्य, कानका नहीं! मन ऐसा है कि इन्द्रियोंको उन उन विषयके साथ ब्याह कर गौर महाराजकी तरह दूसरे स्थान पर जाते रहना. किसी स्थानपर स्थिर रहना यह मनका काम नहीं. मनके द्वारा जो काम सिद्ध हो तो राजसज्ञानका लक्षण जो प्रभुने बताया है वैसाही होता है. पुराने कुरुक्षेत्रकी बात मैं नही करता क्योंकि उस कुरुक्षेत्रमें जो महाभारत चली वह तो कबकी समाप्त हो गई. इस मनके कुरुक्षेत्रकी जो महाभारत सतत चलती रहती है वह कभी समाप्त नहीं होती. यहां अगर हम इस परमेश्वरको सारथि नहीं बनाते तो अपना सत्यानाश हुये बिना रहेगा नहीं. क्योंकि इस मनोरथके रथको अर्जुन हांक नहीं सकता.

केवल अहंकारके कारण प्रकट होते ज्ञानमें भी पुरुषोत्तम भान अधूरा

अब देखो **अहंकार** आता है. इस अहंकारकी एक विशेषता यह है कि जो कुछ ज्ञान तुम्हें प्राप्त होता है, मनसे, आंखसे, अथवा कानसे वह सब ज्ञान, अहंकारमें फिरसे **यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम् अतत्वार्थवद् अल्पं च** का स्वभाव प्राप्त कर लेता है. दिखाई देता है अथवा सुनाई देता है आंखके कारण अथवा कानके कारण, कुछ अहंकारके कारण नहीं. यह होते हुये भी आंखसे कौन देखता है अथवा कानसे कौन सुनता है? उसका जबाब अहंकार देगा : मैं! हरेक बातमें मैं ऐसे पुर जाता है कि जैसे मैं मैं नहीं होकर ब्रह्म ही ना हो! ऐसे तो हम एक मिनी ब्रह्म हैं ही. ब्रह्मके बहुतसे लक्षण मैं में घटित हो जाते हैं. अंतर खाली एक ही है कि यह सब लक्षण घटित होते हैं परन्तु उसके साथ टिकते नहीं. लेकिन ब्रह्ममें यह सब लक्षण घटित भी होते हैं और साथ साथ टिकते भी हैं. अहंकारमें घटित हो जाते हैं लेकिन

टिकते नहीं. जैसे **परम् ब्रह्म कर्तुं अकुर्तं अन्यथाकर्तुं** समर्थ होता है; अर्थात् कुछ करनेके लिये, नहीं करनेके लिये और कुछ अन्य प्रकारसे भी कुछ काम करनेके लिये परमेश्वर समर्थ होता है. यह सब सामर्थ्य तुम्हारे अहंकारमें भी है. तुम अपने अहंकारसे निर्णय करो कि तुम्हें देखना है तो तुम देख सकते हो, नहीं देखना हो तो आंखे भी मीच सकते हो. किसी वस्तुको आगेसे नहीं पीछेसे देखना हो तो वह भी कर सकते हो. तो इस प्रकार अपना अहंकार सारी इन्द्रियोंके ऊपर एक कन्ट्रोलिंग फैक्टरकी तरह है. अतएव भगवानकी तरह ईश्वर भी है. अर्थात् किसीके दुर्वचन या दुर्व्यवहार बुरे लगते हों तो इन्द्रियोंको नहीं, केवल अहंकारको ही. अपनी आंखकी तरफ कोई कंकर फेंके तो आंख जैसी इन्द्रियको दुःख होता है परन्तु बुरा नहीं लगता. बुरा जो लगता है वह तो केवल अहंकारको ही. तो इस अहंकारमें ऐश्वर्यके बहुतसे गुण रहे हुये हैं. मिनी ब्रह्म होनेके कारण टिकते नहीं, यह एक दूसरी कथा है. इससे वास्तविक पुरुषोत्तमको समझनेका प्रयास हम करें तो मानवी पुरुषोत्तमोंको डर लगने लगता है कि हमारे सेवकोंको श्याममनोहरजी बहिर्मुख बना रहे हैं. क्योंकि मानवी पुरुषोत्तमोंका अहंकार वास्तविक पुरुषोत्तमकी वास्तविकताको समझनेमें मुसीबत खड़ी करता है. ऐसी मुसीबत पू.पा. पुरुषोत्तमोंको ही सताती है ऐसा नहीं है परन्तु सार्वजनिक मन्दिरोंमें रेडीमेड भगवत्सेवा खरीदनेके शौकीन बहुत सारे प.भ. वैष्णवोंको भी सताती है. इस कारण अहंकार यहां उपयोगी नहीं होता.

पुरुषोत्तमकी वास्तविकताको समझनेके लिये बुद्धि उपयोगी होती है

चित्त तो अलग अवस्थाका विषय है, जिसे हम नहीं ले रहे हैं. कारण कि इस चर्चामें चित्तका उपयोग बहुत नहीं है.

बुद्धिको हम अगर पकड़ें तो इस चर्चाकी बहुत सारी बातें समझमें आ जायेंगी. आंखसे जो प्रत्यक्षमें दिखाई दे रहा है, मनसे जो दिखती वस्तुके बारेमें हम संकल्प विकल्प कर सकते हैं, उन सबका अहंकारमें फिरसे हम एकत्वानुगम कर सकते हैं. वह होते हुये भी अगर थोड़ी बुद्धि हम प्रयोगमें लायें तो हमें समझमें आयेगा कि जो... उदाहरणार्थ एक किताब मैं अगर तुम्हारे सामने रखूं तो आंखके सामने किताबका जो हिस्सा होगा वहही तुम्हें दिखाई देगा, दूसरा हिस्सा तो दिखाई नहीं देगा. मन तो संकल्प विकल्प करेगा कि इस किताबके दूसरी तरफ जो हिस्सा तुम्हें दिखाई दे रहा है वैसा है कि दूसरी तरहका. इससे कुछ अधिक काम मन नहीं कर सकता. एक बार देखेगा और बादमें संकल्प होगा कि इसे फिरसे देखूं तो फिरसे देख सकता हूं. विकल्प होने पर इसके पीछेका हिस्सा कैसा होगा? तो यह इच्छा मन पूरी नहीं कर सकता. अहंकारके कारण तुम्हें समझमें आ सकता है कि आगेसे किताबका हिस्सा कैसा है जिसे कि तुम जानते हो.

लेकिन पीछेसे? जैसा कि लाल पुट्ठा यहां है वैसा ही लाल पुट्ठा पीछेके हिस्सेमें है कि नहीं वह तो आंखसे दिखता नहीं, मन अथवा अहंकारसे भी समझमें नहीं आता. जो तुम यह कहो कि तुम समझते हो तो उस समझके लिये तुम्हें बुद्धिका सहारा लेना पड़ेगा. क्योंकि जब इस किताबके ऊपर चढ़ा हुआ पुट्ठा आगेकी तरफसे लाल रंगका है तो सामान्य बुद्धिसे हम समझ सकते हैं कि पीछेका हिस्सा भी लाल रंगका ही होगा. इसे आंख नहीं समझा सकती, इसे मन भी नहीं समझा सकता लेकिन इसे बुद्धि समझाती है. तो वस्तुका जो भाग दिखाई दे रहा था वह और जो हिस्सा नहीं दिखाई दे रहा था वह, इन्द्रिय अथवा मनद्वारा दिखनेसे भिन्न लगेगा. क्योंकि जो भाग दिखाई देता है उसे तुम जान सकते हो परन्तु जो भाग दिखाई नहीं दे रहा उसे तुम जान नहीं सकते.

एक समय छोटे बच्चोंसे एक मनोवैज्ञानिकने पूछा कि **जंगलमें पांच पक्षी थे. वहां किसीने बन्दूकका धमाका किया तो पांचमें से तीन उड़ गये तो कितने पक्षी बाकी रहे?** बच्चोंने जबाब दिया कि **जंगलके पक्षी हमने देखेही नहीं हैं तो उनकी हमें क्या खबर? हमें तो पक्षी दिखाओ तो हम बतायें**.

अब छोटे मासूम बच्चे इस प्रश्नका जबाब नहीं दे पाये कारण कि इन्होंने बुद्धिका पूरापूरा उपयोग करना नहीं सीखा. अतएव न दिखती वस्तुको तुम परोक्ष रीतिसे समझ या जान सकते हो यह समझ बुद्धिके विकासके साथही आती है.

इस प्रश्नमें हमें हंसी आती है कारण कि हम बुद्धिका प्रयोग कर रहे हैं. बाकी तो जगतमें ऐसी बहुतसी वस्तुयें हैं कि जिनके बारेमें हम बच्चोंकी तरह ही दलील करते रहते हैं कि **इसका हमें किस प्रकार ज्ञान हो कि यह ऐसी है?** अरे भाई! अगर आगेकी तरफ ऐसा है तो पीछे की तरफ ऐसा ही होगा न! अगर पांच पक्षियोंमें से तीन उड़ गये तो दो ही तो बचे न! इसमें कुछ जंगलमें जाकर पक्षियोंको देखनेकी जरूरत नहीं है. लेकिन छोटे बच्चोंको यह समझमें नहीं आता. कारण कि अभी ये बुद्धिका भली प्रकारसे प्रयोग नहीं सीखे. संख्या संबंधी संबंधोंको ग्रहण करनेमें जैसी बुद्धि होने चाहिये वैसी. लेकिन आंखसे ये सबकुछ देख सकते हैं अतएव देखकर कहेंगे ऐसा मान लेते हैं. इसी प्रकार कितनीही गंभीर बातोंके बारे में हमभी बच्चोंकी तरहही करते हैं. जैसे हमारे एक भाईने मुझे कहा कि **सिद्धान्तवचनावलीमें जो वचन आपने दिये हैं यह वचन सही हैं या गलत अथवा तो इनका अनुवाद सही है या गलत यह तो मैं बादमें निर्णीत करूंगा. लेकिन उससे पहले विवादास्पद मुद्दोंके बारेमें, यह वचन मुख्य वचन हैं कि गौण, इसका निर्णय हम किस प्रकार कर सकते हैं?** अतएव जहां हमें पता ही न हो वहां हम भी बच्चों जैसाही व्यवहार करते हैं. किस कारण हमें पता नहीं है कि वचन गौण हैं कि

मुख्य हैं? यह तो ग्रन्थोंको देखोगे तब ही पता चलेगा न! ठीक बात है. खाली यह भाई ही कह रहा है ऐसा नहीं है, (कुछ) गोस्वामी बालकभी ऐसाही कहते हैं. ऐसे तो आखिरमें हैं सभी बालक ही.! चार पांच बच्चोंके बाप बन गये लेकिन महाप्रभुजीके वचनोंको देखनेकी फुरसत नहीं मिली हो तो इसे किसकी बाललीला समझनी! देखाही नहीं वचनोंको कि कहांसेलिये और कहांसे लाकर सिद्धान्तवचनावलीमें रखे गये हैं! हमें कैसे पता चले कि यह किस अर्थमें वचन कहे गये हैं? जिस अभिप्रायके साथ रखे गये हैं वह अर्थ गौण है कि मुख्य? लो पूरीहो गई बात. तीन पक्षी उड़ गये और कितने बचे यह तो देखकरही पता चलेगा ना! देखे बगैर कैसे पता चलेगा? यह तो समझनेकी बात है! अगर तीन और दो पांच इस संख्याके गुणधर्मकी वास्तविकता समझमें आती हो तो देखे बगैर भी बात समझमें आ जायेगी. और जो पांचकी ही बात समझमें नहीं आती हो तो देखनेके बादभी हमें समझमें नहीं आयेगी. अर्थात् यह हम पू.पा.गो. बालकोंकी बात हो रही है, छोटे बच्चोंकी नहीं. यह तो कितनाही बड़ा हो तो भी बालक, ऐसी बात है!

पुरुषोत्तमको समझनेकी योग्यता सात्विकज्ञानवाली बुद्धिमें ही संभव

तो बुद्धिके प्रयोगसे ही कुछ बातें समझमें आती हैं. इन्द्रियोंके प्रयोगसे अथवा मनके प्रयोगसे अथवा अहंकारके प्रयोगसे बहुतसी बातें समझमें नहीं आती. अपने अंतःकरणकी बनावटही इस प्रकारकी है. अतएव सात्विक ज्ञानकी परिभाषामें भगवानने जो बात कही है कि **अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्** जो विभक्त वस्तुएं दिखाई दे रही हैं, उनमें एक अविभक्त वस्तुको तुम समझ सकते हो तो, तुम्हें सात्विक ज्ञान प्राप्त है. जैसे हम जूनागढ़की हवेलीमें बैठे हैं तो जूनागढ़में हैं

कि नहीं? यह बात अब किसी बच्चेसे पूछें तो कदाचित उसकी समझमें न आये परन्तु जो हम बुद्धिका प्रयोग करके इस प्रश्नका उत्तर खोजें तो समझेंगे कि जूनागढ़की हवेली तो जूनागढ़में ही आयेगी ना! तो जो व्यक्ति जूनागढ़की हवेलीमें है तो वह जूनागढ़में तो है ही. यह वास्तविकता भले ही दिखती न हो लेकिन बुद्धिका प्रयोग करके समझ सकते हैं. **हमें जूनागढ़ नहीं दिखता केवल जूनागढ़की हवेली दिखाई देती है. अतएव यह प्रश्न विचारणीय है. 'अतएव हवेलीमें जो लोग बैठे हैं वह सब जूनागढ़में भी बैठे हैं' इस विधानके ऊपर करो अन्डरलाईन! इसकी उपपत्ति बादमें तटस्थ मध्यस्थके सामने दे देगें.** – जो बच्चा होगा वह तो ऐसेही कहेगा! लेकिन इसमें बुद्धिका प्रयोग करें तो ही समझमें आयेगा कि जो हवेली जूनागढ़में है उस हवेलीमें अगर हम बैठे हैं तो जूनागढ़में भी हम हैं ही. अर्थात् हवेलीके विभागमें अविभक्त जूनागढ़को जो देख सकता है उसकी समझ सात्विकज्ञानके स्वभाव वाली है.

उसमेंसे प्रकट हुये नामरूप विभागोमें उस पुरुषोत्तमको समझ सकनेकी योग्यता तामसज्ञानवाली बुद्धिमें संभवित नहीं

विभक्त अर्थात् विभाग. समझो कि जूनागढ़में जूनागढ़की हवेली यह इसका एक भाग है. उसी प्रकार हवेलीका चौक यह हवेलीका एक भाग है. अब कोई ऐसे कहे कि श्याममनोहरजी हवेलीके चौकमें प्रवचन कर रहे हैं लेकिन उस हवेलीमें कर रहे हैं कि नहीं यह कह सकें ऐसा नहीं है. कारण कि हवेलीके हर कमरेमें तो वह प्रवचन नहीं कर रहे ना! कोई ऐसी दलील देता है तो इसका कारण यह है कि अविभक्तका ज्ञान नहीं है, विभक्तका ही ज्ञान है. चौक यह हवेलीका ही एक भाग है उससे जो चौकमें है वह हवेलीमें तो है ही ना! कारण कि यह अविभक्तका एक विभाग है. **यत्तु कृत्स्नवद्**

एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम्. अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम्.. जो अल्पको ही जाननेमें अटक जाता है, समग्रताको नहीं जान सकता वह है तामसज्ञान. एक बात समझो कि पुरुषोत्तमने स्वयं अपनी सत्ता एवं चेतनामें इन जड़जीवोंके विभाग उत्पन्न किये हैं. जैसेकि —— **भूमिरापोनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च. अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा. अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्. जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्..** सत्–चित्–आनन्दात्मक पुरुषोत्तमने अपने दो विभाग किये. अपने सदंशमेंसे उसने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार इत्यादि विभाग उत्पन्न किये. अपने चिदंशमेंसे उसने अनेकिविधि जीवोंके विभाग प्रकट किये. इन जड़ और जीवके विभागोंको अपनेमें से उत्पन्न करनेसे पहले पुरुषोत्तमने अपनेमें से कुछ और भी विभाग उत्पन्न किये हैं और वे विभाग हैं प्रकृति एवं पुरुषके. प्रकृति एवं पुरुष रूपी विभागोंमें यह सब छोटे छोटे विभाग उत्पन्न हुये और उस प्रकृति एवं पुरुष रूपी विभागोंको पुरुषोत्तमने अपने जिस भागमें से उत्पन्न किया उस भागको अपने यहां अक्षरब्रह्म कहते हैं. अर्थात् पुरुषोत्तमने अपनेमें से एक विभाग ऐसा उत्पन्न किया कि एकमें तो स्वयं पुरुषोत्तमही रहा और दूसरेमें वह अक्षरब्रह्म बन गया. इस अक्षरब्रह्म वाले विभागके हिस्सेमें समस्त जड–जीवात्मक क्षर जगत् आता है. जबकि जीव अपने आपमें क्षर नहीं है परन्तु क्षराभिमानी होनेके कारण उसे क्षरपुरुष कहा जाता है. अर्थात् जीव मरता नहीं लेकिन जीव जिसे अपना स्वरूप मान बैठा है वह स्वरूप बारंबार जन्मता एवं मरता रहता है. इस कारण जीवको भी क्षरपुरुष कहा जाता है, ऐसा कुछ लोगोंका कहना है. दूसरे कितनोंका कहना है कि जीव अक्षरका अंश है अर्थात् इसे पुरुषका अंश मानो. व्याख्यानोंके भेदोंसे हमें इन भेदोंको समझ लेना चाहिये. विस्तारमें जानेकी हमें आवश्यकता नहीं है.

इस क्षर अक्षरके विभागमें अविभक्त एक पुरुषोत्तमको जो कोई देख समझ सकता है उसका ज्ञान सात्विक. जिसका ज्ञान केवल क्षरको अथवा केवल अक्षरको ही देखता है, पुरुषोत्तमको समग्रतासे नहीं देखता उसका ज्ञान तामसज्ञान. इसकेलिये पुरुषोत्तमकी एक अविभक्ततामें क्षर एवं अक्षर ऐसे दो विभाग समझने हैं. जड़ यह चेतन नहीं है और चेतन यह जड़ नहीं है परन्तु यह दोनों पुरुषोत्तम द्वारा प्रकटकी गई अपनी दो प्रकृति हैं. वह पुरुषोत्तम कहता है कि **भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहंकार इतीयं मे प्रकृतिः** अर्थात् यह तो मेरी प्रकृति है अतएव मैं इन रूपोंमें विलस रहा हूं. और **अपरा इयम् इतस्तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां** अर्थात् मेरी पराप्रकृतिरूप द्वारा मैं चेतन बनकर विलस रहा हूं. अतएव दोनोंही पुरुषोत्तमकी प्रकृतिही हैं.

यहां किसीके मनमें ऐसी शंका उठे कि जड़ एवं चेतन दोनों पुरुषोत्तमकी प्रकृति कैसे हो सकती हैं? कारण कि जो जड़ है वह चेतन नहीं है, जो चेतन है वह जड़ नहीं है. तो दोनों जड़ एवं चेतन तो पुरुषोत्तम हो नहीं सकता. अतएव भगवान द्वारा कही गई बातमें विरोधाभास आ रहा है! सात्विकज्ञानयुक्त बुद्धिमें भगवद्गीतामें ऐसे विरोधाभासका अवकाश ही नहीं है. कारण कि भगवद्गीतामें जो भगवान् स्वयं ही कहते हैं कि **यह दोनों मेरी ही प्रकृति हैं** प्रकृति अर्थात् भगवान्का स्वभाव. यह पुरुषोत्तमकी प्रकृतियां ही हैं अर्थात् दोनों रूप पुरुषोत्तमने धारण किये हैं. उसके लियेही उपनिषद् ऐसा कहता है : **सो अकामयत् बहुस्यां प्रजायेय इति. स... इदं सर्वम् असृजत्. यदिदं किंच तत् सृष्टवा तदेव अनुप्राविशत्. तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यच्च अभवत्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च.** अर्थात् उसने कामना करी कि वह बहुतसे रूप धारण करे. उसने स्वयंको इन बहुत रूपोंमें प्रकट किया. वह स्वयं जो

कुछ है उसे प्रकट करके उन उन नामरूपोंमें प्रविष्ट हो गया. वह स्वयं प्रविष्ट होकर कहीं तो प्रत्यक्षरूप तो कहीं परोक्ष रूपमें बन गया, कहीं वाणी तो कहीं नामसे निरूपित हुआ, तो कहीं वाणीसे अगोचर या नामविहीन भी बन गया, कहीं आधार या तो कहीं निराधारभी बन गया, वह स्वयं ही जीवचेतनामें कहीं अज्ञान तो कहीं विज्ञानभी बन गया. सबही विविधरूपोंको लेनेवाला तत्व यह पुरुषोत्तम है. अब जो सबही पुरुषोत्तम है और अनेक विरोधाभासी रूपोंमें भी पुरुषोत्तमही है तो यह जो विरोधाभासी विभाग हैं इनमें इस अविभक्त पुरुषोत्तमका जहां तलक हमें दर्शन न हो वहां तलक अपना ज्ञान सात्विकज्ञान नहीं कहलायेगा.

मूलमें तो समझनेकी बात इतनी ही है कि जो हमें पुरुषोत्तमको समझना हो तो बुद्धिको सात्विक अवस्थाकी अपेक्षा है. बुद्धिमें ऐसी सात्विकता हो तो कोई कठिनाई नहीं है. नहीं तो बहुत बार कान होनेके बाबजूद, आंख होनेके बाबजूद, बुद्धि होनेके बाबजूद विभागोंमें ही हम अटक जाते हैं. जिसके कारण दूसरी बात समझमें आनी बंद हो जाती है. अतएव क्षर एवं अक्षरके जो विरोधाभासी गुण हैं कि एक मूर्त है और दूसरा अमूर्त है, एक नश्वर है और दूसरा अनश्वर है, एकका वर्णन हो सकता है तो दूसरेका अच्छी तरह वर्णन नहीं हो सकता – इन दोनों विरोधाभासी स्वभावोंका कोई आधार तो होना चाहिये ना! एक तराजूके समान क्षर एवं अक्षरके दोनों पलड़ोंका तुलादंड पुरुषोत्तम है. पुरुषोत्तम एक ओर साकार जगत है और दूसरी ओर निराकार अक्षर है.

यह साकार या निराकार, नश्वर या अनश्वरके विभागोंमें **यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम्** प्रकारसे अटके बिना या विभागोंको मिथ्या माने बिना एक अविभक्त पुरुषोत्तमको हम समझ लें तो ही हमारी बुद्धिमें से तामस अवस्था निवृत्त हुई कहलायेगी.

जो कुछ साकार है वह नश्वर है. जैसे किसी पत्थरको हवाके झोके बारबार लगते रहें तो पत्थर भी घिस अथवा कट जाता है. यह प्रक्रिया है कालकी. कालमें यह सामर्थ्य है कि वह हवा जैसी हल्कीमें हल्की वस्तुके उपकरणसे पत्थर जैसी कठोरसे कठोर वस्तुको भी काट देता है. तो इस प्रकार कालकी सामर्थ्यमें जो बंधा हुवा है वह क्षर होता है. कालकी सामर्थ्यमें जो इस प्रकार बंधा हुवा नहीं होता वह अक्षर होता है. पुरुषोत्तममें ऐसे दोनों विरोधाभासी गुण धर्म होते हैं. ऐसे अनेक विरोधी गुणोंको अपनेमें रखने वाले ऐसे किसी एक तत्वको गीता और उपनिषद् **पुरुषोत्तम एवं परब्रह्म** कहते हैं. जिसमें क्षर एवं अक्षर एकीकृत हो जाते हैं, जिसमें साकार एवं निराकार एकीकृत हो जाते हैं, जिसमें नश्वर एवं अनश्वर, प्रयत्न एवं अप्रयत्न, ज्ञान एवं अज्ञान एकीकृत हो जाते हैं, उसका नाम पुरुषोत्तम. ऐसे पुरुषोत्तमका वर्णन गीताका यह पंद्रहवां अध्याय करना चाहता है. अक्षर क्षर नहीं हो सकता और न ही क्षर अक्षर हो सकता है. कारण कि उन दोनोंके परस्पर विरोधी स्वभाव हैं. यह सब होते हुये भी कोई ऐसी व्यापक वस्तु है कि जो क्षर एवं अक्षर दोनोंमें व्याप रही है, वह क्षर एवं अक्षर रूपी विभक्त या विभागोंमें अविभक्तरूपमें रह सकता है. अर्थात् जैसे बाग एवं हवेली इन दोनों अलग अलग विभागोंको जूनागढ़ अविभक्त रूपमें रख सकता है. अतएव जूनागढ़ वह शास्त्रेक्त पुरुषोत्तम जैसे हो सकता है. इसीलिये ही भगवान आगे जाकर कहेगें कि – **यस्मात् क्षरमतीतोहम् अक्षरादपि चोत्तमः. अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः.** अर्थात् मैं क्षर पुरुष एवं अक्षर पुरुष इन दोनोंसे अलग एवं उत्तम हूं अतएव लोक एवं वेदमें मैं पुरुषोत्तम रूपसे प्रसिद्ध हूं.

अब अगर हम फिरसे तामस बुद्धिका प्रयोग करें तो हमको लगेगा कि जो पुरुषोत्तम है वह तो पुरुष हो ही नहीं

सकता. बहुतसे गोस्वामी बालक तो इस प्रकार कह रहे हैं कि देवाधिदेव तो देव है ही नहीं. ऐसा हो सकता है?! मानो कि कोई मनुष्यमें उत्तम मनुष्य है तो क्या वह मनुष्य नहीं है? है ही. लेकिन बालक बुद्धिसे लगेगा कि जो देवाधिदेव है वह देव नहीं है. जो पुरुषोत्तम है वह पुरुष नहीं हो सकता! यह तो बड़ी मुश्किल हो गई. बुद्धिका प्रयोग न करें तो ऐसा हो जाता है. अतएव सात्विकबुद्धिकी अति आवश्यकता है. जो पुरुषोत्तमको समझना हो तो सात्विक बुद्धि, यह सबसे पहली शर्त है. जो हम तामस बुद्धिका प्रयोग करेंगे तो जो देवाधिदेव है वह तो देव नहीं हो सकता तथा जो विद्वानोंमें उत्तम है वह तो विद्वान ही नहीं रह जायगा! इसमें कहना था कुछ परन्तु कहा कुछ दूसरा ही गया! तामसबुद्धिसे जो बात समझमें नहीं आती तो नहीं ही आयेगी, यह कथा कुछ दूसरी ही है.

अतएव जो पुरुषोत्तमको समझना हो तो गीताका यह सूत्र भली प्रकार समझना पड़ेगा कि **अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्** अर्थात् जो अविभक्त तत्व है वह विभक्तमें विभक्त प्रकारसे स्थित हो सकता है. इस अविभक्तको जो बुद्धि जान सकती है उसे विभागोंका इन्कार करनेकी जरूरत नहीं है. इन विभागोंमें केवल अविभक्तके अद्वैतको जो स्वीकार सकता है वह ही व्यक्ति पुरुषोत्तमको समझने योग्य बुद्धि रखता है. जो इस अद्वैतको स्वीकार नहीं सकता वह पुरुषोत्तमको समझने लायक बौद्धिक योग्यता नहीं रखता. उसकी बुद्धिमें तामसगुण भरा हुआ है. उसीकेलिये ही हमारे यहां एक बहुत प्रसिद्ध श्लोक है – **यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो बौद्धाः इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः. अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः सोऽव्याद् वः वांछितार्थफलदो त्रैलोक्यनाथो हरिः..** अर्थात् उस तत्वको शैव लोग देखते हैं तो उनको लगता है कि यह शिव है. वेदान्ती जो उसके ऊपर विचार करते हैं तो उन्हें ब्रह्म

लगता है. बौद्ध विचारते हैं तो उन्हें वह बुद्ध लगता है. नैयायिकोंको जगत्कर्ता लगता है. जैनियोंको वह ऋषभदेव या महावीर लगता है, मीमांसकोंको वह कर्मनियम जैसा लगता है. यह तत्व, ऐसा त्रैलोक्यनाथ हरि, तुम्हारा वांछित फल तुम्हें दे. प्रस्तुत संदर्भमें विभक्तमें अविभक्तका जो छिपा ज्ञान है वह तुम्हें दे. हमें ज्ञान दे तो हमें पता चलेगा कि वह एक ही तत्व बहुतसे विभागोंमें स्वयंही विभक्त हुआ है. इसमें झगड़ेका कोई हेतु संभव हो ही नहीं सकता. इसमें एक दूसरेको नीचा ऊंचा करनेका हेतु संभवही नहीं है. **एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति तस्य धीराः परिजनन्ति योनिम्** अर्थात् सत्यतो एकही है लेकिन विद्वान, साधक, आराधक अलग अलग प्रकारसे इसकी आराधना करते हैं. विद्वान अलग अलग प्रकारसे इसका वर्णन करते हैं. भक्त अलग अलग प्रकारसे इसकी भक्ति करते हैं. तत्व तो एक ही है लेकिन उसके रूप अनेक हैं. यह बात हमारी समझमें आये तो हमें पुरुषोत्तमका भली प्रकारसे ज्ञान हो, नहीं तो पुरुषोत्तमका भली प्रकारसे ज्ञान हमें किसी भी दिन नहीं हो सकता. यह पहली मूल मुद्देकी बात है. यह जो हमारी समझमें आये तो पुरुषोत्तमयोग आगे बढ़ेगा. जो यह ज्ञानही हमारे भीतर न हो तो पुरुषोत्तमयोग आगे नहीं बढ़ सकता. क्योंकि पुरुषोत्तमयोग, सात्विकज्ञानको प्राथमिक भूमिकाके रूपमें स्वीकारनेपर ही आगे चलता है. अतएव यह सात्विकज्ञानकी भूमिका समझ लेनी अतिशय आवश्यक है.

000000000000

।।अनन्यभक्तिसे ही पुरुषोत्तमको जाना जा सकता है।।

अनन्यभक्तिसे ही पुरुषोत्तमका अनुभव और भान होता है और तब ही अनन्य भक्ति खिलती हैः

उसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण मैं तुमको बताता हूं कि इस पंद्रहवें अध्यायके पहले चौदहवें अध्यायकी समाप्तिमें भगवानने कहा हैः— **मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते. स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयोऽयाकल्पते.. ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च.शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च.** यह दो श्लोक अतिशय मधुर श्लोक हैं. इनका अर्थ है कि अव्यभिचारी भक्तियोगसे; अर्थात् जिस भक्तियोगमें किसीभी समय, किसीभी प्रकारका व्यभिचार न हो. आज इसकी भक्ति, कल उसकी भक्ति, तीसरे दिन तीसरेकी भक्ति, यह भक्ति लप्पुपंडेकी. लप्पुपंडेके विषयमें कहावत है कि — **लप्पुपंडाकी लगन ज्यों नदीतरनकों सेतु. रहत न चित इत उत फिरत परिचय संचय हेतु..** ऐसी लप्पुपंडे जैसी नहीं परन्तु अव्यभिचारिणी जिसकी भक्ति हो **स गुणान् समतीत्य एतान्** इस जगतमें त्रिविध गुणोंके भेदके कारण तीन प्रकारकी जाति, तीन प्रकारकी भावनाएं, कृति एवं परिणामोंके बहुतसे विभाग प्रभुने वर्णन किये हैं. इन सब विभागोंसे ऊपर उठनेवाला **ब्रह्मभूयस्** बन जाता है. एक बात समझो कि जो जूनागढ़के चौकमें हम बैठे हैं तो जूनागढ़ नहीं दिखता; थोड़े ऊपर जाओ, छतपर, तो जूनागढ़भी दीखेगा. अतएव जब समग्रताको देखना समझना हो तो जो विभाग हैं उनसे थोड़ा ऊपर तो उठना पड़ेगा. इन विभागोंसे ऊपर उठेंगे तो समग्रता समझमें आयेगी; विभागोंमें ही रचेपचे रहेंगे तो विभागही समझमें आयेंगे.

भक्तिमें एकाग्रता एवं अव्यभिचारिताके बीचमें रहा हुआ सूक्ष्म अंतरः

एक बात सावधानीसे समझनी चाहिये – सोचो कि एक व्यक्ति इस चौकके विभागमें प्रवचन सुन रहा हो और वहां कोई एक अविभागवादी आकर उसे कहे कि **तुम जूनागढ़के चौकमें ही बैठे हो, जूनागढ़में नहीं बैठे. अतएव तुम थोड़ा ऊपर उठो** तो क्या कबूतर या पक्षी की तरह ऊपर उठकर छप्पर पर बैठकर प्रवचन सुनना है! अरे भाई मुद्दा इस प्रकार ऊपर उठनेका नहीं है! मुद्दा यह है कि जूनागढ़की हवेलीके चौकमें बैठकर प्रवचन सुनलो. इसमें किसी पक्षीकी भांति ऊपर उठकर .... अभी और ऊपर उठो.... अभी और ऊपर उठो और आखिरमें नीचे गिरो धड़ाम! ऐसी अपेक्षा नहीं है. हमें तो जमीनके ऊपर ही बैठकर बात समझनी है. ऊपर उठनेकी बात इस अर्थमें नहीं है कि कबूतरकी तरह ऊपर उठो. कबूतरके तो पंख हैं अतएव वह उड़ सकता है लेकिन हम जो ऊपर उड़नेकी बात करेंगे तो नीचे ही गिरेंगे. यह तो बौद्धिक रूपसे ऊपर उठनेकी बात है. अपनी बुद्धि जो विभागोंमें ही अटकी हुई है इससे केवल थोड़ासा ऊपर उठकर हम देखें तो यहीं बैठे हुवे भी जो जूनागढ़ नहीं दिखता तो भी बुद्धिकी दृष्टिसे समझेंगे तो चौकमें बैठे बैठे भी हमें सारा जूनागढ़ बुद्धिदृष्टिसे दीखेगा, जोकि आंखसे नहीं दीख रहा. जैसे झरोखेमें जाकर एक दृष्टिमें तुम समझ जाओगे कि सारे जूनागढ़के भीतरही जूनागढ़की एक हवेली है. उसी प्रकार बौद्धिक दृष्टिसे अर्थात् बुद्धिको सात्विकतया व्यवस्थित करें तो पुरुषोत्तम हमारी समझमें आ सकता है.

नहीं तो अपनी बुद्धि अगर क्षरमें अटक गई तो क्षर समझमें आयेगा और अक्षरमें अटक गई तो अक्षर ही समझमें आयेगा. अतएव साधनाकी दृष्टिसे एकाग्रताका बहुत महत्व है लेकिन एकाग्रता जैसे साधनामें सहायक होती है वैसै विचार या वस्तुकी समग्रताकी अवधारणामें कभी यह बाधक भी हो जाती है.

क्योंकि तुम्हारी एकाग्रता तुम्हारे पक्षमें कैद हो गई तो अब तुम दूसरेको तो सुनोगे ही नहीं, उसे कहा करो कि **कैसेट लाओ! कैसेट लाओ!** बस. यह बादमें विचारमें बाधक हो जाती है. भाई कह तो दिया कि कैसेट दे दूंगा लेकिन तुम विस्तृत विवरण क्यों नहीं पढ़ लेते? तो कहेंगे कि **नहीं, कैसेट बिना कैसे पता चलेगा कि विस्तृत विवरणमें हमारे मुंहसे ही यह बात कही गई थी या किसी और के मुंहसे! अतएव कैसेट लाओ.** इससे सिद्ध होता है कि कभी एकाग्रता विचारशक्तिमें बाधकभी हो जाती है, जिस प्रकार साधनामें सहायक होती है. एकाग्रताका कहां सदुपयोग और कहां दुरुपयोग, उसका विवेक करना हमें आना चाहिये.

उसी प्रकार चंचलताका भी कहां सदुपयोग एवं कहां दुरुपयोग, यह भी हमें आना चाहिये. क्रिकेटके मैदानमें तुम खेलने जाओ और बादमें एकाग्र हो जाओ और बस बौलके ऊपरही ध्यान लगाकर योगीकी तरह बैठ जाओ. अरे भाई! फील्डिंग करो, दौड़ो, यहां वहां सब जगह दौड़ो. वहां एकाग्रता मत करो, नहीं तो सारी क्रिकेटका सत्यानाश हो जायेगा.

कहां एकाग्रता सहायक है कहां एकाग्रता बाधक. हमें किसीने कह दिया कि एकाग्र हो जाओ और हम एकाग्र हो गये **लो अब हरेक बातमें एकाग्रता**! ऐसे नहीं होता. किसी बातमें एकाग्रता सहायक होती है. जैसे अपनेको गानेकेलिये कहा जाय कि गाना गाओ. अब हमने एक सुर **सा** लगाया वहांतो एकाग्रता हो गई और बादमें गाना आगे बढ़ेही नहीं तो ऐसा गायन गायन ही नहीं रह जायगा. रैंकने जैसे हो जायेगा. अरे भाई दूसरा सुर निकालो ना इसमेंसे. तो कहेंगे कि अपनी तो एकाग्रता हो गई, कारण कि एकाग्रताका बहुत माहात्म्य है यहां. योगमें तो चित्तके एकाग्र होनेसे बहुतसी सिद्धियां वर्णितकी गई हैं. तो भाई यह तो योगमें वर्णित की गई हैं, गायनमें तो वर्णित नहीं की गई ना? बुद्धिको थोड़ा चंचल

करो. बातको समझो. लेकिन बुद्धिप्रयोगसे इस बातको समझनेके लिये तैयारही नहीं हैं, क्योंकि बुद्धिमें ऐसे किसी प्रकारकी जड़ता आ जाती है. अतएव एकाग्रताका एवं चंचलताका, इन दोनोंका प्रयोग कि सदुपयोग तो वही कर सकता है कि जिसकी सात्विक बुद्धि हो.

सात्विक बुद्धि ऐसी अपेक्षा नहीं रखती कि विभाग या अविभाग में केवल किसी एकको ही देखना बल्कि **अविभक्तं विभक्तेषु** विभक्तको जब देख रहे हो तब अविभक्तको भूल न जाओ और अविभक्तको जब देख रहे हो तो विभक्तको मत भूलो. किसी समय किसी बातको अविभागसे समझना, किसी समय एकाग्रताका प्रयोग करना, किसी समय बुद्धिको थोड़ा चंचल करके अपेक्षित सबही विभागोंके लिये सर्वग्राहिताका प्रयोग करना, ऐसा विवेक आवश्यक होता है.

सर्वग्राहिता कभी बाधक भी हो सकती है. उदाहरणार्थ अगर हमें दवा लेनीहो तो पहले मलेरियाकी ली, बादमें न्यूमोनीया, टाइफाइड, टी.बी. कैन्सर, सब रोगोंकी दवाएं लेना चालू कर दें तो ऐसा करनेसे रोग तो मिटेगा नहीं, परन्तु बढ़ ही जायेगा. हम ऐसा कहें कि नहीं, सर्वग्राहिता होनी चाहिये. सांप्रदायिकता नहीं होनी चाहिये. दवाके बारेमें सांप्रदायिकता नहीं बरतो, सब दवाएं लो! अरे भाई यह पेट है कि मैडीकल स्टोर?! यह तो पूछना ही पड़ेगा. ऐसे ही बुद्धिमें सब संप्रदायोंको घुसेड़ दो. क्योंकि **सर्वधर्मसमभाव;** सबही धर्मोंकी दवा तुम्हारे दिमागमें डालो. ऐसा करनेसे तो तुम्हारा दिमाग ही फट जायेगा. क्योंकि सब धर्मोंको पचानेकी शक्ति तुम्हारे दिमाग में कहां है? एक धर्मतो मनुष्यको पचता नहीं तो सारे धर्म मनुष्यको कहांसे पच सकते हैं?

एक स्पष्ट बात कह रहा हूं, आरोप या आक्षेपकी बात नहीं है. प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय पर हाथ रखकर पूछे कि जो तुम्हारा धर्म है वह शतप्रतिशत तुम पाल रहे हो? ना, नहीं

पलता. यह बात हम वैष्णवोंका ही दुर्भाग्य है ऐसा नहीं लेकिन जैन, मुसलमान, ईसाई किसीसे भी यह बात पूछो. वह पाखंड करता हो तो ठीक, बाकी प्रत्येक ऐसा कबूल करेगा कि शतप्रतिशत नहीं ही पल रहा. **आओ भाई हरखा, हम दोउ सरखा!** हरेक मनुष्यकी एक ही हालत है कि किसीसे भी अपना एक धर्म पूर्ण रीतिसे नहीं पलता. तत्पश्चात् हम सबही धर्मोंकी खिचड़ी पकाने जायें अथवा साधना करने जायें तो कुछभी नहीं पलेगा, सबही चौपट हो जायेगा. जैसे कि एक शायरने कहा है कि : **शेखने मस्जिद बनाकर साफ बुतखाना किया. पहले एक सूरत तो थी अब और वीराना किया..** ऐसा हो जाता है. अतएव प्रत्येक जगह खिचड़ी करना ठीक नहीं. लेकिन किसी जगह खिचड़ी करनाभी ठीक होता है. जहां दालचावल न पचते हों, बीमारी आ गई हो, दालचावल, ढोकले फाफड़े खाकर तबियत बिगड़ जाती हो, अपच हो जाती हो, उससे तो हल्की खिचड़ी खा लो. हल्की खुराक है तो फायदा भी होता है. यह विभागसंबंधी या अविभागसंबंधी जो जड़ता है वह सत्यानाशकी जड़ है. बाकी विभाग एवं अविभागका सदुपयोग तुम करो तो विभागभी इतनी ही अच्छी वस्तु है और अविभाग भी उतनी ही अच्छी.

अपना हिन्दुस्तान जब आजाद नहीं था तो तब हिन्दुस्तानका कोई नेता इंगलैंड गया था. वहां हिन्दुस्तानका मजाक उड़ानेकेलिये किसी अंग्रेजने ऐसा कहा कि **क्या कारण है, भाई साहब, कि हमारे यहां सब एक ही रंगके होते हैं और तुम्हारे यहां कोई काला है तो कोई गोरा?** यह कहकर वह हमारा मजाक उड़ाना चाहता था. मुद्दा यह कि **अलग अलग रंगके हिन्दुस्तानियोंको आजादी किस प्रकार दी जाये?** तो हमारे नेताने बहुत अच्छी बात कही कि **आपकी बात एकदम ठीक है कि सब गधे एकही रंगके होते हैं; घोड़ोके रंग अलग अलग होते हैं**. तो विविधता कोई खराब नहीं है. विविधता भी

अच्छी होती है. यह तो हमारी विशेषता है. बुरा माननेकी जरूरत नहीं है. जो वस्तु जहां जरूरी है वह वस्तु वहां अच्छी है. जो वस्तु जहां जरूरी नहीं है वह वहां बेकार है.

अतएव मूल मुद्देकी बात समझो कि जहां एकाग्रताकी जरूरत है वहां एकाग्रता उत्तम है और जहां सर्वग्राहिताकी जरूरत है वहां सर्वाग्रता उत्तम है. तुम्हें पता होना चाहिये कि कब एकाग्रताकी अपेक्षा है, किस समय सर्वग्राहिणी बुद्धि बनानी चाहिये. इसी प्रकार किस समय विभागको देखकर तुम्हारा व्यवहार, विचार एवं निरूपण होना चाहिये और किस समय अविभागको देखकर विचार वगैरह होना चाहिये. यह अगर हम समझ लें तो हमने पुरुषोत्तमके चरण पकड़े. और ऐसा अगर न समझ पाये तो पुरुषोत्तमकी ओर हाथ बढ़ानेके बाद भी विभाग या अविभागको विवेकपूर्वक पकड़नेकी, झेलनेकी, समझनेकी शक्ति हम खो बैठते हैं. उस समय हमें पुरुषोत्तम नहीं मिलता.

इसका बहुत सुंदर प्रमाण मैं तुम्हें दूं कि यहां ही गीतामें **मां च योऽव्यभिचारेण** कहा है. यह हमने गीताके प्रारम्भमें ही पढ़ा है. **कृष्णार्जुनसंवादे** प्रत्येक अध्यायके अंतमें लिखा भी है. और इस गीताके ऊपर ही काश्मीरमें अभिनवगुप्त नामका एक शैव आचार्य हुआ है, जो महाप्रभुजीकी भांति ही शुद्धाद्वैती था, उसने बहुतही सुंदर व्याख्या गीता पर लिखी है, एवं अत्यंत हृदयग्राही, खासकर तुम्हें सुनानेकेलिये इस श्लोककी झैरॉक्स कापी यहां लाया हूं : **मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते. स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते..** अर्थात् अव्यभिचारी भक्तिसे जो मेरा सेवन करता है कि यह त्रिगुणोंकी जो विविधता है इससे ऊपर उठकर स्वयं ब्रह्मभूय हो जाता है. अर्थात् स्वयं ब्रह्मात्मक हो जाता है. यह ब्रह्मात्मक होनेका कारण भगवान देते हैं कि **ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठा अहं अमृतस्य अव्ययस्य च.** अर्थात् जो अक्षरब्रह्म है उसकी प्रतिष्ठा मैं हूं. जो

अमृत है उसकी, जो अव्यय है उसकी, शाश्वत् जो धर्म है उसकी प्रतिष्ठा मैं हूं ऐसे भगवान् कह रहे हैं. अब कॉमनसेन्स्का प्रयोग करो कि गीताका उपदेश देने वाले भगवान् यहां **अहम्** शब्दसे किसको कहना चाह रहे हैं? कृष्ण स्वयं अपनेलिये ही कह रहे हैं. यह श्लोक **यं शैवा समुपासते शिव इति**की तरह समझाया उस प्रकार जिसकी शैव लोग शिवकी तरह उपासना करते हैं वैसे इन अभिनवगुप्ताचार्यने एक अतिशय मधुर देखने लायक व्याख्यान किया है. वह श्लोक व्याख्यान इस प्रकार हैः **अनेन मूलभूतम् उपायम् उपदिशति** अर्थात् यह तो मूलभूत उपाय भगवानने समझा दिया शिवको जाननेका. देखो कितनी सुंदर बात वह कहना चाह रहा हैः मेरा जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे सेवन करता है. **मां च सेवते** इसमें **च** न समझो लेकिन **मामेव** समझो. अर्थात कि मुझे ही. भगवानने तो **च** कहा है. इसके बहुत से अर्थ हो सकते हैं 1. और मुझे 2. मुझे भी 3. मुझे ही.

लेकिन अभिनवगुप्तकी दृष्टिमें शिवके सिवाय दूसरा कोई आता ही नहीं. अतएव कितनी मस्तीसे यह कहता है कि **मामेव सेवते;** मेराही जो सेवन करता है उसकी यह बात कर रहा हूं.

अब पूछो कि **एव** क्यों लगा दिया? तो उसकी व्याख्या करता हुआ कहता है कि **अनेन फलादिसांकाक्षो माम् अंगत्वेन आश्रयति फलं प्रधानतया इति निरस्तः** अर्थात् जो कोई कुछ फल प्राप्त करनेकेलिये मेरी उपासना करता है उसकेलिये वह फल मुख्य हो गया और मैं गौण हो गया. वह वास्तवमें मेरा सेवन करना नहीं चाह रहा. यह तो फलका सेवन करना चाह रहा है. (अपने यहां गोस्वामी बालक भी कहते हैं कि भगवत्सेवा वृत्यर्थ हो सकती है!) तो यह अव्यभिचार भक्तियोग नहीं रह गया. यह अभिनवगुप्त कहना चाह रहा है कि जो दूसरे फलकी आकांक्षासे भगवानका सेवन करता है तो फल मुख्य और भगवान गौण बन गये. **फलं प्रधानतया इति निरस्तः.**

अतएव नास्य अव्यभिचारिणी भक्तिः. यह तो व्यभिचारिणी भक्ति है.

आज कृष्णोपासना कर ली क्योंकि कृष्णसे पैसा मिलता है, कल शिवकी पूजा चालू कर देंगे अगर शिवसे पैसा मिलेगा, बादमें गणपतिको पूज लेंगे. ऐसी भक्ति अव्यभिचारिणी नहीं होती. अभिनवगुप्त कहता है कि यहां तो शिवातिरिक्त दूसरे कोईभी फलकी इच्छा जब तुम्हारे मनमें न हो तब ही तुम्हारी भक्ति अव्यभिचारिणी भक्ति कहलायेगी. (यह हमारे पुष्टिमार्गकी बात नहीं है शैवाचार्यकी बात है) और ऐसे अव्यभिचारिभक्तियोगसे जो शिवका पूजन करे तो इन त्रिगुणोंके भेदसे ऊपर उठकर ब्रह्मभूय हो जाता है. परन्तु अन्य लोगोंका क्या होता है? उत्तर देते हैं **फलं प्रति हि असौ आस्थावानिति न अस्य अव्यभिचारिणी भक्तिः** इनकी भक्ति अव्यभिचारिणी नहीं है. कारण कि इनकी आस्था भक्तिमें नहीं है, फलमें है. (ऐसी भक्ति करनेसे धन तो मिलता नहीं. अतएव **मौन धर्युं छे सिद्धान्त शीखववा मठडी धरी छे, भगवान्ने नहि, मनोरथीने रीझववा!**) यह फलके प्रति आस्थावान हैं मेरे शिवके प्रति आस्थावान नहीं. **यस्तु फलं किंचिदपि अनभिलष्यन्** अर्थात् जिन्हें किसीभी फलकी आशा नहीं है उनसे किसी समय जाकर दूसरा कोई पूछे कि.....

थोडा धीरज रखकर सुनो तो पंक्तिका आनंद ले सकोगे. महाप्रभुजी, शंकराचार्यजी, मध्वाचार्यजी, रामानुजाचार्यजी, क्या कहते हैं इनकी पुस्तक साथमें ही लेकर आया हूं. इनमेंसे सब निकल आता है लेकिन मुंबईसे निकल रहा था तब ऐसा मुझे लगा कि देखो अभिनवगुप्त क्या कहता है वह भी देख लें. यह जब मैंने देखा तब वास्तवमें मुझे रोमांच हो आया कि इसका नाम आस्था. यह हमने कही हो अथवा किसी दूसरेने कही हो, जिसनेभी अच्छी बात कही वह तो अच्छी ही है. किसने कहा कि यह देखने जैसी नहीं है. अच्छी है ना? **बालादपि सुभाषितं**

ग्राह्यम् अर्थात् छोटा बच्चा भी अगर अच्छी बात कहे तो उसमें गुरुबुद्धि रखकर सुन लेनी चाहिये. हम शैव नहीं हैं तो क्या हुआ लेकिन इसने बात बहुतही उत्तम कही है. मुझे रोमांच हो आया अतएव खासकरके यह वचन लेकर यहां आया हूं.

....ऐसे किसी फलकी आकांक्षा जिसे न हो उसका सब मजाक उड़ाते हैं कि: **किम् एतद् अलीकम् अनुतिष्ठसि इति पर्यनुयुज्यमानोऽपि** इस शिवकी भक्तिमें समयकी बरबादी क्यों करता है? तो जिसे शिवही चाहिये, शिवकी भक्ति सिवाय कुछ और नहीं चाहिये, ऐसा शिव भक्त क्या कहेगा? वह अभिनव कहता है कि : **निरन्तर–भगवद्भक्ति–वेध–विद्रुतान्तःकरणतया कंटकित–रोमवान् वेपमाननुः विस्फारित– नयनयुगल– परिवर्तमान –सलिलसंपातः तूष्णींभावेनैव उत्तरं प्रयच्छति.** ऐसे आक्षेपका शिवभक्त जबाब भी नहीं देगा समझे! उसे परवाह ही नहीं है जबाब देनेकी. उसे तो इस बातसे अपने शिवकी फिरसे याद आ जायेगी. ओ हो हो, शिवकी कोई बात तो चली ना! पहले कहनेवाला तो कहता रहेगा कि **इस शिवभजनमें क्यों समय बरबाद कर रहे हो** लेकिन इस शिवभक्तको तो शिवका नाम आतेही शिवकी याद आ जाती है. शिवकी याद आते ही सारे रोम खड़े हो गये, हृदय भर गया एवं आंखमेंसे प्रेमाश्रु आने लगे और बादमें यह चुप रहता है, कोई उत्तर नहीं दे सकता. शिवकी यादमें खो गया. इसे उत्तर देनेकी कोई दरकार नहीं है!

एक कहावत है **हाथी जाय बाजारमें भूंकत राखे श्वान** –ूीव बंतमे वित लवन . तुम्हारी दरकार किसको है? तू खुद ऐसे प्रश्न करके किस कारण अपना समय खराब कर रहा है? ऐसी तन्मयता होनी चाहिये. अतएव अभिनवगुप्त कहता है कि इसका नाम **ब्रह्मभूयस्ता** कि इसे जबाब देनेकी कोई दरकार नहीं है. इसने तो शिवका नाम सुना और मस्ती आ गई. ऐसा शिवजीका अनन्य भक्त अभिनवगुप्त कृष्ण द्वारा कही गई गीता

पढ़ता है तो भी इसके चित्तमें से शिवजी निकल नहीं जाते. यहांभी शिवजीकी याद आ जाती है. इसका नाम निष्ठा, इसे सच्ची शिवभक्ति कहते हैं. शिवजीका ऐसा भक्त गीताकी व्याख्या कर रहा है तो इसे कृष्ण द्वारा कहा गया **मां च** सुनते सुनते भी शिवही याद आते हैं, अतएव और मुझको का अर्थ **मुझे (शिवको) ही** निकालता है. यह अव्यभिचारिणीभक्तिका सच्चा उदाहरण!

जैसे छोटे बच्चेसे पूछो कि यह मम्मी किसकी है? तो वह कहेगा कि मेरी है. अब इसका पिता ऐसा कहे कि यह तो मेरी है तो बच्चेको गुस्सा आ जाता है कि नहीं यह तो मेरी है तुम्हारी नहीं. मेरी ही है. ठीक है तेरी मम्मी लेकिन मेरी तो पत्नी है. लेकिन इस बच्चेको मम्मीके प्रति ऐसा आग्रह होता है कि यह मेरे सिवाय किसी दूसरेकी नहीं. अव्यभिचारी भक्तियोगकी बात जब चलती है अभिनव गुप्तको लगता है कि शिवजीकी बात चल रही है; हां, अव्यभिचारिणी भक्ति ना? यह तो फलाकांक्षा बिना, शिवभक्ति.

इसी प्रकार जब कोई शैव सुने तब उसे ऐसा ही लगे. अब कोई विष्णुभक्त अव्यभिचारी भक्तियोग सुने तो उसे शिव नहीं लेकिन विष्णु याद आयेगा कि फलाकांक्षाबिनाकी विष्णुकी भक्ति. गणपतिका भक्त सुने तो उसे तुरंत स्फुरित हो जाना चाहिये कि कोईभी फलाकांक्षा बिनाकी गणपतिकी भक्ति. अल्लाहका भक्त सुने तो उसे ऐसा लगना चाहिये कि कोईभी फलाकांक्षा बिनाकी अल्लाहकी भक्ति. ऐसा भक्त ब्रह्मभूय हो जाता है. वही बात आ गई ना! मम्मी किसकी? मेरी. मुझे मेरी मम्मीकी खबर है, दूसरे किसीके साथ कुछ लेनादेना नहीं. जो शिवको अव्यभिचारी भक्तियोगसे देखता होगा उसके लिये शिव पुरुषोत्तम बन जायेगा. जो गणपतिका भक्त होगा उसकेलिये गणपति पुरुषोत्तम है. जो कृष्णकेलिये ऐसा अव्यभिचारी भक्तियोग करता है उसकेलिये कृष्ण, कृष्ण और

कृष्णही पुरुषोत्तम है. उसकेलिये कृष्ण सिवाय दूसरा कोई भी या कुछ भी पुरुषोत्तम हो नहीं सकता.

श्रीमध्वाचार्यजी बहुत सुंदर कहते हैं: **न ततोऽस्त्यपरं जगतीड्यतमं परमात् परतः पुरुषोत्तमः. तदलं बहुलोकविचिन्तनया प्रवणं कुरु मानसमीशपदे.. श्रुणुतामलसत्यवचः परमं शपथेरितमुच्छ्रितबाहुयुगम्. न हरेः परमो न हरेः सदृशः परमः स तु सर्वचिदात्मगणात्..**

अरे, सुनो मेरी बात. हाथ उठाकर, शपथ खाकर कह रहा हूं कि कृष्णसे बढ़कर कोई है ही नहीं.

मधुसूदन सरस्वती भी ऐसा ही कहते हैं: **प्रमाणतोपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यम् अद्भुतं न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढाः निरयंगताः** कृष्णके तो प्रमाणसिद्ध अनेक माहात्म्य हैं. जो मूढ़ ज्ञानमार्गी जन अपने **अहं ब्रह्मास्मि**के कारण कृष्णका माहात्म्य नहीं जान सकता वह तो वास्तवमें नरकमें ही पड़नेवाला है. अव्यभिचारी भक्तियोगकी मस्ती इसका नाम है. एक सुंदर शेर है – **दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार. जब जरा गर्दन झुकाई देखली..** गर्दन झुके तो एकही तस्वीर दिखे. दूसरी तस्वीर आये कहांसे? इसमें कोई जगह हो तो दूसरी तस्वीर आये ना! तो इसका नाम अव्यभिचारी भक्तियोग.

पुरुषोत्तमकी कृपा पानेकेलिये नहीं परन्तु उसकी कृपा मिली हो तो पुष्टिभक्ति प्रकट होः

श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण पुष्टिभक्तिका निरूपण करते हुये कहते हैं: **तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिं नुमः** अर्थात् पुष्टिभक्तितो केवल भगवदनुग्रहके कारणही प्रकट हो सकती है. इस सन्दर्भमें अभिनव गुप्तका भी दूसरा एक सुंदर वचन इस अध्यायमें मिलता है:

सएव अव्यभिचारिण्या भगवतो महेश्वरस्य अग्रशक्त्या भक्त्या पवित्रीकृतो नान्यः अर्थात् यह कहता है कि जो कोई

साधक शिवमें इस प्रकार तन्मय हो सके तो ये महेश्वरकी अग्रशक्तिरूपा भक्ति है (अपनी शुद्धाद्वैतकी भाषा है यह, काकाजी!). ऐसी भक्ति करनेकी शक्ति हमारेमें हो ही नहीं सकती. यह तो परमात्माकी शक्ति हो सकती है. वह शक्ति अपनेमें संक्रान्त हो तो हम ऐसी निष्काम भक्ति कर सकते हैं. जैसे मेरे चेहरेके ऊपर जो रोशनी दिखाई दे रही है वह मेरी तेजस्विता नहीं है. यह तो फ्लैशकी रोशनी मेरे ऊपर पड़ रही है. ऐसे ही अपनी अव्यभिचारिणी भक्तिके बारेमें भी समझ लेना चाहिये. व्यभिचारिणी भक्तिके बारेमें ऐसा हम नहीं कह सकते. यह तो केवल अपनीही मनोवृत्ति होती है, यह भगवानकी अग्रशक्ति नहीं होती. अभिनव कहता है कि महेश्वर अपनी शक्ति अपने ऊपर प्रयोग करता है. जैसे इस फ्लैश लाइटके मेरे चेहरेके ऊपर पड़नेसे मेरा चेहरा चमकता लगता है. मुझे तो यह दिखाई देता नहीं, यह तो आपकोही पता चलता होगा. चमक रहा होगा ऐसी बुद्धि प्रयोग करने पर लगता है. अन्डरलाइन मत करा लेना. इस फ्लैशसे जैसे मेरा चेहरा चमकता है वह मेरा प्रकाश नहीं है परन्तु फ्लैशका प्रकाश है. उसी प्रकार ऐसी अव्यभिचारिणी भक्ति यह मेरे हृदयकी शक्ति नहीं है, उसकी परम शक्ति है. महादेवकी ऐसी अग्रशक्तिके कारण ऐसा साधक पवित्र कैसे हो गया इसका कारण भी बताते हैं कि अरे! जो शिवमें प्रतिष्ठित है, शिवकी उपासना करता है, वैसा जीव तो शिव ही हो जाता है ना!

कैसी तन्मयता है अभिनवकी! जड़रूपतया कोई भगवानकी उपासना करे और उसे मोक्ष मिले तो वह मोक्ष भी जड़रूप होगी. वह कदाचित पत्थर बन जाता होगा. क्यों शिवरूपसे मेरी उपासना नहीं करी? कैसी तन्मयता है! मस्तराम होगा यह व्यक्ति. वास्तवमें शिवजीने पूरी अपनी कृपा इस पर बरसाई होगी तभी तो ऐसा भाव इसे स्फुरित हुआ,

नहीं तो स्फुरायमान ही न हो. तो यह बात हमें समझनी चाहिये.

हमारे यहां ऐसा नहीं कहा गया ऐसा नहीं है. देखो इस बात पर मेरी दृष्टि गई अतएव मुझे ऐसा लगा कि अपने यहां भी ऐसा बहुत कुछ कहा गया है. हमलोग इसका आनन्द नहीं लेते अतएव हमारे ध्यान में नहीं आता. हमारे यहां भी कहा गया हैः **सखीरी हौं जीवति हरिमुख हेरे. कोऊ मेरो सग्यो न हौं काहू की कहत सबनसों टेरे.. जोई यह हठ सोई भले करिहों कहा भयो काहू मुख मोरे. परमानन्द हिलगकी बातें निवरत नाहि निवेरे..**

हमारे यहां भी भक्तोंने यही बात कही है कि मैं किसी दूसरेका मुंह देखना ही नहीं चाहती. तुम मेरे ऊपर आरोप लगाओ कि तुम बाड़ावादी हो, सम्प्रदायवादी हो, तुम्हारा मन संकीर्ण है. अच्छा भाई अच्छा हम हठवादी हैं, बाड़ावादी हैं, और संप्रदायवादी हैं. तुम कहते हो ना कि हम बाड़ावादी हैं तो हां, हम इस गोपालके बाड़ेकी ढोर हैं. और कुछ कहना है? **दोग्धा गोपालनंदनः** हम इस गोपालनंदनके बाड़ेकी गाय हैं. बोल ना यार! जो कुछ कहना है कहता जा. अरे किसे डर लगता है? जिसे लोगोंकी परवाह हो उसे डर लगे. हम तो बाड़ेमें बंद रहेंगे. **जोई यह हठ सोई करिहों कहा भयो काहू मुख मोरे? परमानन्द हिलगकी बाते निवरत नाहि निवेरे!** तुम्हारे कहनेसे मुझे क्या फरक पड़ेगा? कुछ भी फरक नहीं पड़ेगा. यह तो दिल लगनेकी बात है. किसीके कहनेसे नहीं टूटेगी. तुमने कह दिया कि हम बाड़ावादी हैं अतएव बाड़ा तोड़कर कृष्णके बदले शिवको भजने बैठ जायें और आखिरमें एक दिन सर्वधर्मनिरपेक्ष बनकर लप्पुपंडाकी तरह चर्च, दरगाह, मस्जिद सब जगह जाने लग जायें... यह सब बातें हिलगकी बातें नहीं हैं.

ऊपर कहे अनुसार जो अव्यभिचारिणी भक्ति हो तो भाईसाहब तुम्हें समझमें आयेगा और नहीं हो तो जाने दो ना सब बातोंको. तुम्हारे जैसेके साथ पुरुषोत्तमकी बात करनेसे कोई लाभ होने वाला नहीं है. क्योंकि बादमें तो पूछनेकी बात एक ही रह जायेगी कि हम पुरुष हैं कि नहीं? हम पुरुष हैं कि ढोर ही हैं इस मुद्दे पर विचार करना हमारे योग्य होगा. इसलिये यह पुरुषोत्तम अगर समझना हो तो **मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते** वचनको शिरोधार्य करना होगा. इस पुरुषोत्तमको समझेंगे तो हमें पता चलेगा कि **ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्य अव्ययस्य च शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्य एकान्तिकस्य च** यह पुरुषोत्तम कैसा? तब हमें अमृतका, अव्ययका, शाश्वतधर्मका, एवं एकान्तिकसुखके आधारके साथ सम्पर्क साधनेका लाभ मिलेगा. इसका स्पंदन हमें अनुभूत होगा. अमृतका, अव्ययका, एकान्तिक सुखका स्पंदन हमारे हृदयमें भी होने लगेगा.

यह पुरुषोत्तमको जानने माननेकी पहली शर्त है **अविभक्तं विभक्तेषु** ऐसी सात्विकबुद्धि एवं अव्यभिचारिणी भक्ति. यह दोनों हों तो पंद्रहवें अध्यायका पहला श्लोक समझोगे कि **ऊर्ध्वमूलमधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुः अव्ययं छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्** अर्थात् क्या?

0000000000

।।सात्विक बुद्धि + अव्यभिचारीभक्ति = पुष्टिभक्ति।।

हमने देखा कि पुरुषोत्तमज्ञान जाननेके लिये अनेक प्रकारके विभक्तोंमें एक अविभक्तको ढूंढनेकी योग्यता एवं अव्यभिचारिणी भक्ति – यह दो प्रमुख तत्व हैं. उस प्रसंगमें मैंने मेरी बुद्धि अनुसार समझानेका प्रयास किया. इसमें जिसे कुछ अधूरा लगता हो वह सवाल पूछ सकता है. यहां ऐसा नहीं है कि मुंह बांधकर केवल सुननाही है. मुझे पता नहीं चलता कि आपको क्या समझमें आया और क्या नहीं. ऐसा होनेके कारण फिरसे एक बार संक्षेपमें इस विषयका पुनरार्वतन कर लेते हैं.

इन्द्रियजन्य विषयबोध सात्विक ही हो ऐसा आवश्यक नहीं है

जो लोग चश्मा पहनते हैं वह लोग मेरी बात अच्छी प्रकार समझ पायेंगे. मैंने पहना हुआ है अतएव अपने निजी अनुभवकी बात कर रहा हूं. उदाहरणके तौर पर नम्बरका चश्मा हो या खाली चश्मा हो, उसे पहली पहलीबार हम आंख पर चढ़ायें तो कांच तो पारदर्शी होता है अतएव सबकुछ दिखता ही है लेकिन आंख पर रखा हुआ चश्मा भी दिखाई देता है, दृश्य नहीं. क्योंकि नया नया चश्मा हमने पहरा होता है अतएव पहले चश्मा और बादमें दृश्य दिखाई देता है. अब चश्मा दो प्रकारका लगानेका होता हैः दूरकी वस्तुको देखनेका और पासका पढ़नेकेलिये. यह दोनों कांच अब चश्मेंके फ्रेममें भी लगा सकते हैं. मैंने पहली बार जब चश्मा चढ़ाया तब ऐसी अजीब स्थिति हो गई कि पहले कांचके साथ दूसरी कांचकी जुड़ती लकीर नजर आती थी. दूसरा जो कुछ दिखे उसमें व्यवधानरूप हो जाये. मुझे लगा कि यह तो बड़ी मुसीबत हो गई. क्योंकि चश्मा मैंने जो लिया था वह दूर और पासकी वस्तुओंको एक साथ देख सकूं इसलिये लिया था. बार बार बदलनेकी मुसीबत न हो. दूर और पासके शीशोंमें कुछ दीखे

उससे पहले दोनों शीशोंके जोड़की लकीर दिखाई दे. मैंने चश्मेवालेसे शिकायत की तो उसने मुझे कहा कि **आप चिंता मत करो. आप जिस प्रकार देखते हो उसी प्रकार देखते रहो. एक दिन लकीर अपने आप दीखनी बंद हो जायेगी.** और वास्तवमें थोड़े दिनों बाद लकीर अपने आप दीखनी बंद हो गई और दूर और पासकी दोनों वस्तुऐं दीखनी चालू हो गईं. ऐसे बहुत दिनों तलक हम जो चश्मा पहनते हैं तो उससे जो कुछ दीखे उसमें खुद चश्मा दीखना बंद हो जाता है. मेरा निजी अनुभव है कि भागवतके पाठ करते समय छोटे छोटे अक्षर दीखने बंद तो नहीं हुये लेकिन उन्हें देखनेमें थोड़ी तकलीफ होती थी. अतएव मैंने डाक्टरसे पूछा कि छोटे अक्षर देखनेमें तकलीफ क्यों आती है? तो डाक्टरने कहा **अब आपको चश्मा लगा लेना चाहिये.** उसके बाद चश्मा पहन लिया. तो उस समय जो अक्षर देखनेमें केवल तकलीफ होती थी, चश्मा लगानेके बाद तो वह अक्षर दीखनेही बंद हो गये. और पढ़ना तो ठीक, चश्मा पहरे बगैर ठाकुरजीके शृंगार भी ठीक तरहसे धराने दीखने बंद हो गये. क्योंकि चश्मेंके लिये आंखोंको ऐसा तदात्म्याध्यास हो गया कि चश्मा हो तो आंख देखें, नहीं तो कुछ भी दीखे नहीं.

यह तो एक समझने की बात है कि अपनी आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, अंहकार, मन, बुद्धि, चित्त इत्यादि सबही अपनी आत्माके ऊपर चश्मेकी तरह हैं. प्रारम्भमें जब चेतना उसका प्रयोग करती है तब दृश्यके अतिरिक्त वह भी चेतनाको दिखता है लेकिन प्रयोग करते करते बादमें हमें यह आंतर – बाह्यका भेद दीखना बंद हो जाता है और आंख कान नाक इत्यादि द्वारा विषयोंका उपभोग होता है वैसे ही आत्मचेतनाको भी अनुभूत होता है. आंख बंद करनेके बादभी परमात्मसत्ता अथवा आत्मचेतना जैसा कुछ भी दीखता नहीं. कान बंद करनेके बादभी भीतर बैठा हुआ अन्तर्यामी अगर गीता सुनना

चाहता हो तो वह नहीं सुन सकता. जबकि हर अवस्थामें देखने वाली तो आंखही होती है. आंख ऐसा कहे कि मैं चश्मेके बगैर नहीं देखूं तब भी देखने वाली तो वह स्वयं ही है और चश्मेंके बादभी देखने वाली तो वह ही है. उसी प्रकार यह पांचोंकी पांच ज्ञानेन्द्रियोंसे, अंतःकरणसे, देखनेवाली शक्ति जो है वह तो आत्मशक्ति है. अब आत्मशक्तिके ऊपर इन चश्मोंके चढ़े होनेके कारण इन चश्मोंका माहात्म्य इतना बढ़ गया कि वह बाह्याभ्यन्तर करणोंके बिना स्वयं न तो कुछ देख सके, न विचार सके और न ही सुन सके. जैसे आंखोंने यह जो देखना बंद कर दिया. जो अक्षर चश्मा पहरे बगैर दिखाई देते थे, पढ़े जाते थे, अब बहुत बड़े अक्षर भी चश्मेंके बगैर दिखाई एवं पढ़ाई नहीं आते. फैक्टरींमें जैसे मजदूर बोनसके बगैर हड़ताल कर देते हैं, ऐसेही आंखका काम हो गया. हर जगह ऐसा ही होता है. कानमें भी ऐसी मशीन लगायें तो थोड़े समय बाद ऐसा ही हो जायेगा. अतएव बाह्य जगतको देखनेकेलिये जो बाह्यकरण आंख नाक कान इत्यादि हैं इन द्वाराही देखनेमें अपनी आत्मा लगी रहती है. इसमें इतनी भी सामर्थ्य नहीं रह जाती कि बाह्य जगतके रूप, रस, गंध, स्पर्श देखने वाली आंख वगैरहको अपनी आत्मा देख सके. थोड़ा छूटना पड़ेगा. जैसे चश्मेंसे थोड़ा छूटें तो अपनेको मालूम पड़ेगा कि चश्मेंसे देखनेवाली आखिरमें है तो आंख ही, चश्मा तो नहीं देख सकता. उसी प्रकार हम थोड़े अलग हों कि आंखसे नहीं दीखता, आंखसे देखनेवाली तो आत्मा है. आंखसे रूपको देखनेके बजाय रूपको देखने वाली आंखको आत्मा देखने लगे तो इन विषयोंके बंधनसे आत्मा थोड़ी अलग हो. तो जिस प्रकार हमारी सारी यात्र बाहरकी ओर आ रही है वैसे ही अंतर्मुखी प्रारम्भ हो जायगी.

अगर चेतनाकी अंतर्मुखी यात्र प्रारम्भ हो जाये तो जो रूप, स्पर्श अथवा गन्धके जो विभाग हैं उदाहरणतया आंखसे

पुस्तक दीखती है, उस पुस्तकका पुट्ठा मुलायम है कि कठोर है वह तो स्पर्श करे बगैर पता नहीं चलेगा. तो यह आंख पुट्ठेके रूपरंगको ही देखती है और स्पर्श करें तो ही हमें पता चलेगा कि पुट्ठा मुलायम है कि कठोर है. अब मुलायम है कि कठोर वह तो स्पर्शेन्द्रिय अनुभव कर रही है तो वह तो एक विभाग और आंख जो उसका रूपरंग देख रही है वह दूसरा विभाग. खाली आंख पुट्ठेकी मुलायमता अथवा खुरदुरेपनको नहीं देख सकती. और आंख बंद करके केवल स्पर्श करो तो उसका रंग या आकार नहीं जाना जा सकता. इस प्रकार दो विभाग हो जाते हैं. अब बुद्धिका प्रयोग करें तो इन दोनों विभागोंमें अनुभूत पुस्तक तो आखिरमें एक ही हैं, अर्थात् पुस्तककी ओर ध्यान गया. अगर रूप या स्पर्शमें तन्मयता आ जाये तो वह अनुभूत नहीं होगी लेकिन पुस्तक देखनेवाली आंख और स्पर्श करनेवाली त्वचा दोनोंको बुद्धि एकत्रित देखती है कि यह दोनों एकही ठिकाने पर जा रही हैं कि अलग अलग. और अगर दोनों एकही दिशामें व्यापार करती हों तो बुद्धिको समझमें आ जाता है कि जो वस्तु दीख रही है उसीका स्पर्श भी करनेमें आ रहा है. इस प्रकार रूप तथा स्पर्शके जो विभाग हुये उनमें एक अविभक्त पुस्तकका ज्ञान हमें मिला. जो आंख तथा त्वचा अथवा कानसे नहीं मिलता वह तो बुद्धिसे ही मिलता है.

बुद्धि अगर तामसिक अवस्थाग्रस्त हो तो उससे सात्विक बोध नहीं हो सकता

अगर बुद्धि स्वयं तामस हो जाये, रूपरंग देखनेमें इतनी तल्लीन हो जाये तो बुद्धि द्वारा भी मुलायम अथवा खुरदुरेपनका ज्ञान नहीं होगा.

तुमने सुना होगा कि तुलसीदासजी, सांप लटकता था उसे रस्सीकी तरह पकड़कर अपनी प्रियतमासे मिलने घरके

ऊपर चढ़ गये थे. ऐसा कैसे हो सकता है? संभव है, चढ़ सकते हैं. क्योंकि बुद्धि **यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन कार्ये सक्तम् अहैतुकम्** अर्थात् बुद्धि किसीभी एक इन्द्रियमें तल्लीन हो जाये तो बादमें इसे दूसरे किसी अविभक्तका ज्ञान नहीं होता. बुद्धि अगर चारों तरफसे सावधान रहे तो अलग अलग इन्द्रिय द्वारा मिलते सब विवरणोंको एकत्रित करके एक अविभक्त विवरणको स्वयंमें प्राप्त कर सकती है. जैसे तुम्हारी दस जगह दुकानें हों और उनमेंसे कुछमें नफा और कुछमें नुक्सान हो रहा हो तो जहां तुम्हारा हैड आफिस होगा वहां सभी दुकानोंका विवरण प्राप्त करके, तुम्हें कुल मिलाकर फायदा हुआ या नुक्सान उसका पता चल जायेगा. जिस दुकानमें नफा हुआ वहां नुक्सानका पता नहीं चलता और जिसमें नुक्सान हुआ वहां नफेका पता नहीं चलता, लेकिन हैड आफिसमें सब विवरण एकत्रित करके, सब मिलाकर नुक्सान या फायदेका पता चल जाता है. उसी प्रकार बुद्धि द्वारा हमें पता चलता है कि अलग अलग जो विभाग हैं उसमें वह वस्तु अनुभूत हो रही हैं उनमें एक अविभक्त नफा या नुक्सान कैसा है?

विभक्तोंमें अविभक्तको जानना यह पुरुषोत्तमको पहचाननेकी मुख्य शर्त है. इसका मूल कारण यह है कि अलग अलग विभाग रूपके, नामके, कर्मके जो जगतमें प्रकट हुये हैं उन नाम, रूप, कर्मके विभागको प्रकट करनेवाला परमात्मा तो एकही है. इसके लिये ही गीतामें यहीं भगवान एक बहुत सुंदर बात कहते हैं कि **यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा** अर्थात् भूत अर्थात् कोई भी पदार्थ; प्रत्येक एक दूसरेसे अलग अलग अनुभवमें आता है. कोई भी एक वस्तु दूसरी वस्तु जैसी नहीं है. जैसे गाय, भैंस और हाथी तीनों अलग ही लगते हैं. सब भूतोंमें जल और पत्थरमें भी भेद अनुभूत होता है. ऐसे ही प्रत्येक वस्तुमें भेद नजर आता है. यह भूतोंमें रहा हुआ पृथग्भाव है. उस पृथक्

भावको कोई एक ऐसा आधार मिला रहे कि एकमें से ही ऐसा जाननेको मिले कि यह जो कुछ अलग अलग नाम रूप अथवा कर्म हैं वह इस तत्वके ही अलग अलग हुये नाम रूप कर्म हैं. उदाहरणार्थ एक रुमालको मुट्ठीमें बंद कर दो तो यह एक विभाग हो गया. खोलकर फैलादो तो दूसरा विभाग हो गया. इसी प्रकार अगर हम ब्रह्म परमात्मा भगवानका अनुभव करें तो जैसे मुट्ठीमें बंद यह रुमाल संकुचित रूपमें हुआ लेकिन खोलकर फैलाने पर बड़ा रुमाल हो जाता है. अब इतना बड़ा रुमाल इस मुट्ठीमें तो आ नहीं सकता लेकिन इसको संकुचित करदें तो इस मुट्ठीमें आ जायेगा. उसी प्रकार अलग अलग नाम रूप कर्म रूपी इन्द्रिय विषयानुभूतिकी मुट्ठीको सात्विक बुद्धि द्वारा खोलकर एक ब्रह्म द्वारा लिये गये अनेकविध नाम रूप कर्मको देखना प्रारम्भ करेंगे तो ब्राह्मिक विस्तार इन नाम रूप कर्मोंके विभागमें अनुभूत होगा.

अलग अलग नाम रूप कर्मोंके विभागोंमें एक अविभक्त ब्रह्म परमात्माका हमें अनुभव हो तो प्रत्येक वस्तुमें अपना जो संकोच है कि संकुचित मर्यादा है, इसे छोड़कर वस्तु विस्तारको पा सकती है. तुरतही तुम्हें ब्रह्म तरीके इसका विस्तार लगेगा.

जिस प्रकार गिरनारके ऊपर रेवतीकुंड और दामोदरकुंड ऐसे दो विभाग हैं. सोचो कि जोरदार बरसात पड़े और दोनो कुंड भर जायें और दोनों कुंडोका पानी किनारोंसे ऊपर आ जाये तो दोनों कुंडोके विभागोंका एकीकरण होकर एक सरोवर बन जायेगा. जो कुंड है वह तो कुंडही रहेंगे, यह भूलना नहीं चाहिये, कुंड मिट नहीं जाते लेकिन इनमें समाया हुआ पानी एक दूसरेमें आता जाता रहेगा. लेकिन प्रत्यक्षमें ऐसा अनुभूत होगा कि प्रत्येक कुंडमें एक ही पानी भरा हुआ है. इस प्रकार एक सरोवरका हमें अनुभव होने लगेगा, छोटे छोटे कुंडोकी

अनुभूति होनी बंद हो जायेगी. अथवा अनुभूति हो भी तो इसके एकत्वमें बाधक नहीं होगी, ऐसा भगवान कहते हैं.

सात्विक बुद्धि होनेके उपरान्त भी अव्यभिचारिणी भक्ति न हो तो भी पुरुषोत्तमको नहीं जाना जा सकता.

अर्थात् पुरुषोत्तमका अनुभव करना हो तो इसके विस्तारको ग्रहण करनेवाली दृष्टि चाहिये, सात्विक बुद्धि चाहिये. और केवल सात्विक बुद्धिसे ही काम नहीं चलेगा साथमें अव्यभिचारिणी भक्ति भी चाहिये. क्योंकि सात्विक बुद्धि द्वारा अविभाग जाना जायेगा लेकिन पुरुषोत्तम अभी थोड़ी ऊपरकी वस्तु है. इस कारण हमें फिरसे थोड़ा समझना पड़ेगा. **उत्तम** शब्द **उत्** एवं **तम्** शब्द द्वारा घडित है. **उत्** अर्थात् ऊपर एवं **तम्** अर्थात् सबसे श्रेष्ठ अथवा ऊंचा. अर्थात् उत्तम कहने पर ऊंचेमें ऊंचा ऐसा अर्थ होता है. कुछ वस्तु ऊपर कुछ वस्तु नीचे और कुछ बीचमें? चालू खातेकी भाषामें हम ऐसे ही समझते हैं कि कबूतर ऊपर है और हम नीचे हैं. लेकिन सावधानीसे इन शब्दोंके प्रयोगको देखोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि स्टेशनोंके ऊपर जो ट्रेन आती हैं उनमें किसीको अप कहते हैं और किसीको डाउन. सभी ट्रेन सीधीही चलती हैं. इनमें अप या डाउन किस प्रकार हो गया? अप अर्थात् ऊपर और डाउन अर्थात् नीचे. ऐसा कैसे हो सकता है? तुम कहां हो और कहांसे कौनसी बातको देख रहे हो, वहांसे ऊपरपना और नीचेपना निर्धारित होता है. नदीके बारेमें भी ऐसा ही है. नदी किनारे गांव बसा हो तो जिस स्थानसे नदी आ रही है, उस स्थान पर बाढ़ आई हो तो कहनेमें आता है कि **ऊपरसे बाढ़ आई है इसलिये यहां भी पानी बढ़ गया है.** बांधसे पानी छोड़ा जाये तो हम कहते हैं कि ऊपरसे पानी छोड़ा है उस कारण नीचे पानी बढ़ गया है. अब नदी ऐसे तो सपाट है इसमें ऊपर नीचे कहांसे हुआ? होता है. अर्थात् नीचे

होनेका अर्थ इतना संकुचित भी नहीं समझ लेना कि ऊपर अर्थात् पक्षी जैसे ऊपर हैं और हम नीचे हैं. वह एकही अर्थ है. ऊपर नीचेके बहुतसे अर्थ हैं. शास्त्रमें कहनेमें आया है कि **न हायनैः न पलीतैः न कुलैः बंधु बांधवैः ऋषयो नियमं चक्रे योनूचानो स वै महान्** जो महान शब्द यहां है अगर उसकी जगह ऊंचा भी कहा होता तो भी अर्थ तो यही होता. ऋषियोंने ऐसा नियम घढ़ा कि जो वेदको अच्छी तरहसे समझ सकता हो वह महान अथवा ऊंचा. अब कौन बूढ़ा और कौन जवान है, किसके पास धन अधिक है, किसके सगे संबंधी अधिक हैं, उन कारणोंसे ब्राह्मण ऊंचा नहीं होता. ब्राह्मण तो तभी ऊंचा होता है जब वह वेदको अच्छी प्रकार समझ सकता हो. ऐसेही कोई छोटा हो तो वह बड़ा हो जाता है और कोई बड़ा हो तो वह छोटा हो जाता है. तो यह ऊंच नीचका जो भाव है वह ऊपर नीचेके भावमें ही नहीं लेकिन बहुत सारे भावोंमें संभव है.

मुझे मेरे बचपनकी याद आ रही है. मैं स्कूल तो जाता नहीं था. तो हमारा फूफेरा भाई जो स्कूल जाता था उसने एक दिन मेरे पास आकर यह बताया कि पृथ्वी गोल है. मैं तो एकदम सकतेमें आ गया कि अगर पृथ्वी गोल है तो हम फिसलकर गिर क्यों नहीं जाते? तो उसने कहा कि **तू तो कुछ समझता नहीं है. फिसलकर गिरने जैसी कोई बात नहीं है. पृथ्वी तो गोलही है.** मुझे विश्वास नहीं आया और लगा कि यह तो खाली गप्प हांक रहा है. बादमें वह मेरे पास ग्लोब लेकर आया और कहा **देख इसमें.** उसने मुझे भारतका नक्शा दिखाया. मैंने बड़ी गम्भीरतासे उसका अध्ययन किया. उसने मुझे दिखाया कि भारतके ठीक नीचे अमरीका है. मुझे ऐसा लगा कि अगर हम ऊपर इस तरह खड़े होकर चल रहे हैं तो अमरीका वाले तो उल्टे छिपकली की तरह चलते होंगे. अतएव उससे मैंने कहा **तेरी बात तो ठीक लेकिन इसका मतलब यह**

हुआ कि वहांके लोग छिपकलीकी तरह उल्टे होकर चलते होंगे? तो उसने कहा **तू तो बिल्कुल मूरख है. कुछ समझता ही नहीं. यह लोग भी पृथ्वी पर ही चल रहे हैं**. मैंने कहा ऐसा सम्भव ही नहीं है. बादमें मैंने कहा **अच्छा हम एक काम करते हैं. इसमें एक छेद करते हैं और एक पेन्सिल डालते हैं. क्या वह सिरसे निकलेगी या पैरसे?** मेरी इस दलीलका उसे कुछ उत्तर समझमें नहीं आया. अतएव मुझे ऐसा लगा कि यह तो खाली गप्प ही हांक रहा है! एक बात समझने जैसी है कि छिपकली जो ऊपर चलती है और हमें देखती है तो कदाचित उसे भी ऐसा लगता होगा कि मनुष्य कितना ऊंचा है और उल्टा भी चल रहा है! जहां तुम चल रहे हो वहां तुम्हें सीधा लगता है बाकी दुनियां उल्टी लगती है. तुमने चांदकी बात सुनी होगी कि जो लोग चन्द्रमा पर गये थे उनको पृथ्वी आकाशमें उगती दिखाई देती थी, नीचे नहीं दिखाई देती थी. यहांसे चन्द्रमा आकाशमें ऊपर दिखाई देता है और चन्द्रमा पर जो लोग गये थे उन्होंने फोटो खींचकर बताये कि पृथ्वी सूर्यकी तरह उगती है और डूबती है. अब वहां पृथ्वी ऊंची हो जाती है और चन्द्रमा नीचे. अब वास्तवमें पृथ्वी ऊंची कि चन्द्रमा? तो यह ऊंच नीचका जो भाव है वह कोई ऐसा भाव नहीं कि जो ऊंचा है वह ऊंचा ही है. वह नीचे भी हो सकता है. उसी प्रकार नीचेकी वस्तु ऊंची भी हो सकती है.

उसी प्रकार पुरुषोत्तमको समझनेके मुद्देका यह एक पहलू है कि किस मुद्देसे तुम पुरुषोत्तमको समझना चाहते हो. अगर हम केवल सात्विक बुद्धिका प्रयोग करेंगे तो हमारा भी ऐसा ब्राह्मिक विस्तार हो जायेगा कि क्या ऊंचा और क्या नीचा? दोनों एक हो गये. अब दोनों एकसे हो गये तो पुरुषोत्तम कैसे ऊंचा हो गया? यह भक्तिका कमाल है कि वह ब्रह्मको पुरुषोत्तम बना रही है. तुम्हारे हृदयकी भक्ति तुम्हें ऐसा कहेगी कि ना भाई वह ऊंचा –

निगाहोंने देखी मौहब्बतने मानी. तेरी बेमिसाली तेरी लाजबाबी. उन आंखोका आलम गुलाबी गुलाबी. मेरे दिलकी हालत शराबी शराबी..

हमारे हृदयमें रहा हुआ भक्तिका नशा अथवा नशीली निगाहें ही हमें समझा सकती हैं कि यह पुरुषोत्तम है. जो कि जीवात्मा और परमात्मा दोनोंमें एकही ब्रह्मका विस्तार हो गया हो तो भी अगर तुम्हारे हृदयमें भक्तिरस छलकता हो तो वह स्वयंही कहेगा कि वह पुरुषोत्तम है और तू पुरुष है. क्योंकि जिसे चाहा जा रहा है वह चाहनेवालेसे हमेशा उत्तम होता है. हमतो परमात्माको चाह रहे हैं अतएव वह उत्तम है, पुरुषोत्तम है. हम उसके चाहनेवाले हैं अतएव नीचे हैं, भक्त हैं. तो यह जो पुरुषोत्तमता है वह केवल अविभक्तताके ज्ञानसे नहीं आती लेकिन अव्यभिचारिणी भक्तिका भी इसमें बहुत बड़ा हिस्सा है. यह समझ लेना चाहिये. अतएव जिसमें भक्ति नहीं होती उसे यह बात वास्तवमें समझमें नहीं आती.

उसी प्रकार जिसमें गाढ़ भक्ति हो लेकिन यह सात्विक बुद्धिजन्य तादात्म्य भाव न हो, उसे भी पुरुषोत्तमकी बात भली भांति समझमें नहीं आती. एक बहुत बड़े भक्त हुये हैं. इसे निन्दा रूपमें मत लेना, केवल दृष्टान्त द्वारा समझा रहा हूं. उन्होंने एक जगह पर अपने इष्टदेवकी स्तुति करते हुये ऐसा कहा – **भवन्तमेवानुचरन् निरन्तरं प्रशांत – निःशेष – मनोरथान्तरम्. कदाहमेकान्तिक – नित्यकिंकरः प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितम्..** अर्थात् हे प्रभु, आपकी और केवल आपकीही सेवा करते दूसरी कोई भी बातमें मेरा मन न जाये, दूसरा कोई मनोरथ मेरे मनमें न आये, ऐसा एकान्तिक किंकर आप मुझे कब बनाओगे? आपका नित्य किंकर अर्थात् सर्वदा सर्वदाकेलिये ही आपका सेवक, आप मुझे कब बनाओगे?

अब इनकी परमात्माके बारेमें दृष्टि इस प्रकारकी है कि परमात्मा अलग है और जीवात्मा अलग. ऐसी भेदवादी दृष्टि

है. बात इतनी सुंदर; अर्थात् जो तुम यह बात सुनो तो तुम्हें लगे कि यह बात तो पुष्टिमार्गीय है. अपनीही वाणी है. वास्तवमें शतप्रतिशत हर पुष्टिमार्गीयके हृदयमें स्वभाविक रूपमें यह मनोरथ रहता है. लेकिन यह होते हुये भी विभाग दृष्टिके कारण, दूसरेही श्लोकमें इन भगवदीयको कहना पड़ा कि – **धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं परम पुरुष योहं योगिवर्याग्रगण्यैः विधिशिव सनकाद्यैः ध्यातुमत्यन्त दूरं तव परिजनभावं कामये कामवृत्तम्..** अर्थात् मैं अपवित्र, अविनयी, निष्ठुर और निर्लज्ज हूं. मुझे धिक्कार है कि मैंने बड़ाई पानेकेलिये बेकारकी इच्छाएं आपके सामने प्रस्तुत कर दी. आप तो अग्रगण्य योगियोंके ध्यानमें भी नहीं पधारते, ब्रह्मा शिव सनकादि ऋषि भी आपसे मिल नहीं सकते, हे सबको दुर्लभ, मैं आपका नित्य सेवक बनना मांगता हूं. ऐसी अनुचित मांग मैंने आपके सामने रखदी अतएव मुझे धिक्कार है.

इस स्तोत्रका दादाजी मुझे बचपनमें पाठ करवाया करते थे. यह विष्णु स्तुतिका श्लोक है. इन दो श्लोकों पर जब भी मेरा ध्यान जाता है तभी मुझे तुरन्त श्रीमहाप्रभुजी याद आ जाते हैं कि ''**सूर व्हैके काहे घिघियात है, कछु भगवल्लीला गा**'' अरे! परमात्मासे इतनी सुंदर विनतीके बाद काहेको अपनेको धिक्कारना? अगर यह बात श्रीमहाप्रभुजीके सामने हो तो आप तुरन्त आज्ञा कर देंगे कि ''**सूर व्हैके घिघियात है**'' काहेको इतना रोता है, भगवत्लीला गा ना! तुम्हें समझमें आ जायेगा कि दुर्लभ भी है और अतिशय सुलभ भी. श्रीमहाप्रभुजीने शायद इसीकेलिये लिखा है – **सकृत् स्मृत्वा कुंभी यमिह परमं लोकमगमत्, चिरं ध्यात्वा धाता समधिगतवान् यं न तपसा. हिहिहीहिंकारान् प्रतिपशुवने कुर्वति सदा, नमद्ब्रह्मेशेन्द्रप्रभृतिषु च मौनं धृतवति..**

जिसका केवल एक बार स्मरण करनेसे अजामिल इत्यादि अनेक नरकपाती नरकमें गिरनेसे बच गये और बहुत

लम्बे समय तक ध्यान धरनेके उपरान्त ब्रह्माजी जिसे पा न सके; व्रजमें तो मूक गायों जैसे पशुओंके साथ बोलता फिरता है लेकिन ब्रह्मा शिव इन्द्र इत्यादि देवताओंके प्रणामको स्वीकारनेकी जरा भी परवाह नहीं है.

रसखानजी भी कहते हैं – **शेष महेश दिनेश गणेश सुरेशहु जाहि निरन्तर ध्यावे. जाहि अनादि अखण्ड अनन्त अभेद अछेद सुवेद बतावें.. नारद से मुनि व्यास रटें पचिहारें तऊ पुनि पार न पावें.. ताहि अहीरकी छोहरियां छछिया भर छाछ पै नाच नचावें..**

यह तो परमात्मा है. तुम्हारे पास केवल भक्तिसे, प्रसाद बेचनेकी जघन्य मनोविकृतिके कारण नहीं हों, इसे आरोगनेकेलिये छाछ या माखन हो तो ब्रह्मा शिव इन्द्र नारद व्यास इसका गुणगान करते रह जायेंगे लेकिन यह तो तुम्हारे पास माखनके लोभमें नाचनेको तैयार बैठा है. इसे कोई मुश्किल नहीं लगती.

इस भगवत्स्वरूपको हम तब समझ सकते हैं कि जब **अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्** ऐसी तत्वदृष्टि हो. अतएव खाली भक्ति इस बारेमें काम नहीं आती और न ही खाली सात्विक बुद्धि ही. दोनोंका सुयोग सुमेल हो तो ही श्रीमहाप्रभुजी जैसी दृष्टि आये कि वह ही पुरुषोत्तम है और उसके सिवाय दूसरा कोई पुरुषोत्तम नहीं. अतएव श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं – **प्राकृताः सकला देवाः गणितानंदकं वृहत्. पूर्णानन्दो हरिः तस्मात् कृष्णएव गतिर्मम..** बादमें ऐसा भी कहते हैं कि अनुभवमें आता प्रत्येक पदार्थ और कृष्ण यह दो अलग हैं अथवा एक? तो कहते हैं कि नहीं, एकही. इसके लिये श्रीमहाप्रभुजी सिद्धान्तमुक्तावलीमें आज्ञा करते हैं – **आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्.** कृष्णका विचिंतन हमें कहां करना है? इस आत्माके भीतर कृष्णरूपी आनन्दका जो सागर भरा हुआ है उसमें नित्य विहार करते कृष्णको खोजो.

यह कोई तुमसे बहुत अलग नहीं है. यह ऐसा कृष्ण नहीं है कि जो तुम्हें ऊपरही मिलेगा नीचे नहीं अथवा तो हवेलीमें ही सेवा करोगे तो ही मिलेगा घरमें सेवा करने पर नहीं मिलेगा, ऐसा विभाग कृष्णमें नहीं है. कृष्ण तो आत्मानंदसमुद्रस्थ है. यह तुम्हारे भीतर भरपूर बिराजा हुआ है. सब जगह बिराजा हुआ है, कणकणमें बिराजा हुआ है. तुम तो बस इसका भजन चालू करदो और कृष्ण तुम्हें आनन्द देना चालू कर देगा. यह जो श्रीमहाप्रभुजीका भाव है इसको जानने माननेकी दो शर्ते हैं – एक भक्ति होनी चाहिये और दूसरा सात्विक बुद्धि होनी चाहिये. सात्विक बुद्धि हो और भक्ति न हो तो परमात्माका और तुम्हारा अभेद तुम्हें समझमें आ जायेगा लेकिन इसकी पुरुषोत्तमता स्फुरित नहीं होगी और केवल भक्ति हो तो पुरुषोत्तमता स्फुरित होगी लेकिन पुरुषोत्तम तुम्हारा आत्मानन्दसमुद्रस्थ परमात्मा है, ऐसा तुम्हें स्फुरित नहीं होगा. यह दोनों जो जटिल बाते हैं उन दोनोंको एक साथ लानेकेलिये यह दोनों योग्यतायें हमारे भीतर होनी चाहिये.

श्रीशंकराचार्यजी इस बारेमें बहुत सुंदर कहते हैं कि – **सत्यपि भेदापिगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्तवम्. सामुद्रोहि तरंगः क्वच न समुद्रः तारंग इति..** हे नाथ! आपमें और मेरेमें कोई भेद नहीं है, अतएव ब्राह्मिक विस्तार हो गया, जैसे रेवतीकुंड एवं दामोदरकुंड जो दो कुंड थे वह जल बढ़नेके कारण एकही सरोवर बन गये. दोनोंमें पानी बढ़नेके कारण पानी एक दूसरे कुंडमें मिल गया. अतएव इन दोनों कुंडोका अब एक सरोवर बननेसे ब्राह्मिक विस्तार हो गया. यहां तलक तो सात्विक बुद्धिकी बात आई. उसके बाद शंकराचार्यजी कहते हैं – **हे नाथ मैं तेरा हूं, तू मेरा नहीं. क्योंकि समुद्रमें तरंग उठती हैं तरंगोका समुद्र नहीं बनता**. यह मर्यादा भक्तिका भाव है. अतएव इसके आगे एक पग और बढ़ना है. और एक पग आगे बढ़के पुष्टिभक्ति हमें प्राप्त हो तो हम यह

भी कह सकते हैं कि तू मेरा ही है, मेरे सिवाय किसी दूसरेका नहीं. लेकिन यह बात तो हम तब ही कह सकते हैं कि जब अपनेमें अव्यभिचारिणी भक्ति हो. अव्यभिचारिणी भक्ति हो तो ही तो कह सकेंगे – **अनत न जइये हो पिय रहिये मेरे ही महल. जोई जोई कहोगे लाल सोई सोई करोंगी टहल.. शैया सामग्री वसन आभूषण सब विधि कर राखोंगी पहल. चतुरबिहारी गिरिधारी पियाकी रावरी यही सहल..** अरे आप किसकारण कहीं और जाते हो. चुपचाप यहीं घरमें बैठे रहो न! जो आपको चाहिये वह मैं आपको देता हूं, ये लो. भक्त जब भगवानको यह कहता है ना, तब यह विक्रयवृत्ति ओछी पड़ जाती है और अव्यभिचारिणी पुष्टिभक्ति अपने भीतर पूर्णरूपेण खिल जाती है. जिसदिन तुम ठाकुरजीको कह दोगे कि क्यों दूसरी जगह जाते हो प्रभु! मेरे ही घरमें क्यों नहीं चुपचाप बिराजते? **चतुरबिहारी गिरधारी पियाकी रावरी यही सहल** तुम्हें क्या कमी लगती है मेरे यहां जो कि आपको दूसरी जगह जाना पड़ता है? परमेश्वरको भी ऐसा कहनेकी सामर्थ्य किसीने दी है तो अपने श्रीमहाप्रभुजीने दी है. स्वमार्गीय भक्तोंको ऐसे कई भावोंसे मंडित किया है.

आज अपने भीतर यह भाव खंडित किया जा रहा है. आज हम ऐसा गाना गाना चाहते हैं कि मेरे घरमें मत पधारो क्योंकि हमसे मरजाद नहीं पलती, मैं मठड़ी नहीं खिला सकता, सखड़ीकी बात तो बहुत दूर रही क्योंकि हमारे यहां मरजाद नहीं पलती. और मठढ़ी खानी हो तो – **मेरे घर मत आवो रहीये हवेलीमें जाय. मठड़ी बूंदी मोहनथार अरु पूरी तहां धरेंगे बनाय. चतुरबिहारी गिरधारी पिया सों इतनो ही नेह निभाय..**

तुम्हारी सारी ही टहल, शैया सामग्री वसन आभूषन इत्यादिकी सब विधि टहल वहां रखनेमें आयेगी. मेहरबानी करके मेरे घर मत पधारना! हम ऐसा गान कर रहे हैं. जबकि

श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट भक्तिसे अनुप्रेरित भक्त तो दमखमसे छाती ठोक कर कहते हैं कि **रहीये मेरे ही महल अनत न जइये** कौन जाने कि गाने वालेका महल था कि झोंपड़ा, लेकिन हमारे यहां श्रीमहाप्रभुजीने गजबकी सामर्थ्य हमें प्रदानकी है. महाप्रभुजी एक जगह आज्ञा करते हैं कि **जब अपने घरमें भक्त भगवानकी सेवा शुरु कर देता है तब उस समय वह घर लौकिक नहीं रह जाता, वैकुण्ठ बन जाता है.** तुम एक बार इस वैकुण्ठनाथको तुम्हारे घरमें पधराओ और सेवा शुरु करदो, फिर तुम्हारा घर घर नहीं, वैकुण्ठ ही बन जायेगा.

वैकुण्ठ शब्दका अर्थ हमें उस शोकसभाके अर्थमें प्रयुक्त नहीं लेना है कि **इस द्वारा सूचित किया जाता है कि प.भ. का वैकुण्ठवास हो गया है अतएव हार्दिक शोकप्रस्ताव पारित करनेके लिये एक सार्वजनिक सभा बुलाई गई है**. ऐसा शोकजनक वैकुण्ठ नहीं समझना. कुंठा अर्थात् मनके दुःख – कि मरजाद नहीं पलती, परिवारजन साथ नहीं देते, हवेली जैसी स्वादिष्ट मठढी घरमें नहीं बन सकती, केसरके झूलेमें हिंडोला झुलानेकेलिये गांठमें पैसे नहीं है; इस प्रकारकी मनमें भरगई दीनता हीनताके जो भाव. **हौं पतितनको टीको, मो सम कौन कुटिल खलकामी.** यह कुंठा कहलाती है. जिनमें ऐसी कुंठा न हो वह विकुंठ, और विकुंठ होना उसका नाम वैकुण्ठ. भगवान ऐसे वैकुण्ठमें बिराजते हैं. तुम उसे एक बार तुम्हारे घरमें पधरावो तो तुम्हें पता चलेगा कि तुम्हारा घर वास्तवमें वैकुण्ठ है कि नहीं. कोई कुंठा तुममें रह नहीं जाये. वह होगा जगतका सर्जनहार, पालनहार, संहारक, महान शुद्ध, महान पवित्र, महान ज्ञानी... सबमें महानता लगाते जाओ ना! कोई मुश्किल नहीं, लेकिन जो यह तुम्हारी आत्मामें भरा हुवा है तो बाहर भी तुम्हारे घरमें बिराज सकता है. **ताहि अहीरकी**

छोहरियां छछिया भर छाछ पे नाच नचावें एक थोड़ी छाछ भरकेलिये तुम्हारे घरमें नाचनेको तैयार है.

यह महान होगा तो हो लेकिन तुम्हारे घरमें तो तुम इसे जगाओ तो जागेगा, तुम मंगलभोग धरोगे तो यह उसे आरोगनेकेलिये जागेगा, तुम स्नान कराकर शृंगार धराओ तो शृंगार धरवायेगा, तुम इसे दर्पण दिखाओ तो प्रसन्न होगा, तुम्हारे घरमें तुम खानेकेलिये जो पकाते हो उसे राजभोग समझकर आरोगभी लेगा, तुम सुलाओ तो सोयेगा नहीं तो परिश्रांत रहेगा. यह जो भाव है, ऐसा जो आत्मविश्वास है वह आत्मानंदसमुद्रस्थताका भाव है. जो कुछ भी मैं करूंगा यह मेरे मनोरथके आनन्दमें विहार करनेवाला, आत्माके मनोरथके आनन्दमें विहार करनेवाला यह परमात्मा है. ऐसे कुछ भाव श्रीमहाप्रभुजीने हमें प्रदान किये हैं.

भगतीकी व्यवसायिक नौटंकीकी साजिशके कारण आज ऐसे भाव अपने हृदयमें नहीं रहे, यह एक अलग कथा है, लेकिन इस बारेमें सिद्धान्त तो यह ही है. इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता. अब किसीकी स्वयंकी खराब आर्थिक स्थितिके कारण यह कबूल करनेमें मुश्किल आती हो तो उसका कारण एक ही है कि भगवत्सेवा आजीविका बनायी गई है. किसीकी भक्ति ही उसका व्यापार बन गई हो, तो कबूल करनेमें संकोच होता है कि इस बातको हम कैसे कबूल करें? स्वाभाविक बात है लेकिन ऐसे लोग अपनेको पुरुषोत्तमके तौर पर घोषित करें – **हमारे चरणोंमें तो लक्ष्मी बरसती है ऐसा दंभ करें, इससे अधिक विस्मयजनक दूसरा और क्या हो सकता है! मियांजी गिरे पर टंगडी ऊंची!!**

कोई मुश्किल नहीं चलने दो इस कथा को भी. आखिरमें यह भी लीलाकी कथा है. इसमें दुःख माननेकी जरूरत नहीं है. सिद्धान्तकी कथाको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि **आत्मानंदसमुद्रस्थं**

कृष्णमेव विचिन्तयेत् और उसके साथही श्रीमहाप्रभुजी यह भी आज्ञा करते हैं कि **सर्वेन्द्रियैः तथा चान्तःकरणैरात्मनापिहि. ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते.**

पुष्टिभक्तिमें पुष्टिभक्त द्वारा पुष्टि प्रभुको कहां भजना है वह बताते हैं कि अपनी जितनी भी इन्द्रियां हैं उन इन्द्रियोंको भगवानके सम्पर्कमें लाना है. खाली दर्शन करलेना अथवा मठड़ीके स्वाद ले लेना, इन दो इन्द्रियोंका ही पुष्टिमार्गमें काम या व्यापार नहीं है. सारीही इन्द्रियोंसे : हाथसे सेवा करनी, वाणीसे कीर्तन करने, नयनोंसे अपने माथे बिराजते प्रभुको निरखना, कानसे गुण सुनने, नाकसे इनकी प्रसादी पुष्पकी या तुलसीकी सुगन्ध सूंघनी, इस प्रकार अपनी जितनी भी इन्द्रियां हैं उन सबही इन्द्रियोंका प्रभुमें विनियोग करवाना. अपनी आत्मा अंतःकरण परिवार घर इत्यादि सकल पदार्थोंको इनकी सेवामें लगा देना है.

श्रीमहाप्रभुजी एक बहुत ही गजबकी बात कहते हैं, जो किसीने नहीं कही, तुम देख पढ़लो सब सम्प्रदायोंके ग्रंथोंको. यह दूसरी सम्प्रदायोंको नीचा दिखानेकेलिये नहीं कह रहा लेकिन अपनी सम्प्रदायके बारेमें हमें किस प्रकारकी अस्मिता होनी चाहिये उसकेलिये कह रहा हूं कि श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं – **जो जीव मुक्त होते हैं वह लोग कभी भी देह, इन्द्रियके साथ मुक्त नहीं होते. अतएव जब भी वह मुक्त होते हैं तो उन्हें देह और इन्द्रियोंको यहीं छोड़ना पड़ता है. आत्मा भगवानमें मिल जाती है. पुष्टि भक्तिमें तो इससे ऊंची कक्षाकी कथा है कि सभी इन्द्रियोंमें तुम्हें ब्राह्मिक विस्तार प्रकट करना है.** अर्थात् आंखसे प्रभुके दर्शन करूं, हाथसे प्रभुको शृंगार धराऊं, जागूं तो प्रभुके साथ जागूं, सोऊं तो प्रभुको सुला कर सोऊं, भोजन करूं तो प्रभुको भोगधरकर. जो कुछभी अपना व्यापार है अपनी देहके साथ ही नहीं बल्कि अपने परिवारके समस्त सदस्य, लड़का लड़की पत्नी पति माता पिता इत्यादि

सबके साथ मिलजुलकर अपने घरमें सेवा करनी. इस प्रकारकी सेवा जब तुम शुरु करोगे तब तुम्हें लगेगा कि तुम्हारे संसारके जितने भी पुरुष या स्त्रीजन हैं उन सबके बीचमें, केन्द्रमें पुरुषोत्तम भी परिवारके सदस्यकी तरह बिराज रहा है. जब सब मिलजुलकर इसकी सेवा करोगे तो सबमें ऐसा ब्राह्मिक विस्तार हो जायेगा. सोना जागना इत्यादि जितनी भी जो भी क्रियायें हैं वह सबही क्रियायें प्रभुकी सेवाकेलिये हो जायेंगी. और प्रभुकी सेवाकेलिये जब जीवनको उपयोगमें लाओगे तब तुम्हें पता चलेगा कि तुम्हारे घरमें पुरुषोत्तम बिराजता है, कोई दूसरा नहीं. वह लोग तुम्हें उलटा पढ़ाते हैं जो लोग कहते हैं कि तुम्हारे घरमें पुरुषोत्तम नहीं बिराजते. पुरुषोत्तम कोई हवेलीकी मोनोपोली एकाधिकार नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त किसीभी दिन ऐसा नहीं हो सकता. श्रीमहाप्रभुजीने तो हर वैष्णवके घर पुरुषोत्तमही बिराजमान किये थे और हर वैष्णव अपने घरमें पुरुषोत्तमकी सेवा करता था. इसकेलिये ही श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि ऐसा ब्राह्मिक विस्तार हो तो तुम्हारा घर वैकुण्ठ बन जाता है क्योंकि ऐसा होने पर तुम्हें किसीभी प्रकारकी कुण्ठा नहीं रह जाती. तुम्हें किसी दूसरे व्यक्तिके माथे बिराजते ठाकुरजीकी इस व्यक्ति द्वारा सेवा करवानेकी अपेक्षा नहीं रह जायेगी क्योंकि तुम्हारे आत्मानंदमें विहार करता तुम्हारा पुरुषोत्तम तुम्हारे घरमें ही बिराजता है. तुम्हारे आधीन होकर बिराजता है. यह बात श्रीमहाप्रभुजी हमको समझाते हैं.

पुरुषोत्तमके बारेमें इस धारणाका आधार गीतामें भगवान स्वयं समझा रहे हैं कि अविभक्तका ज्ञान होना चाहिये और केवल विभागोंके ज्ञानमें बुद्धि अटक नहीं जानी चाहिये. तुम्हारे घर परिवारके विभागमें ठाकुरजी नहीं बिराजते वह तो हवेलीके ही विभागमें बिराजते हैं, यह मान्यता गीतोपदेशसे बिल्कुल अलग है. पुरुषोत्तम कहां नहीं बिराजते? वह तो सर्वत्रही

बिराजते हैं और भक्तिपूर्वक जो कुछ पत्र पुष्प जल या फल उसे भक्त समर्पित करता है उसे वह स्वीकारता है. इसमें पू. पा. महाराजश्री या मुखिया भीतरियाकी दरकार उसे नहीं है.

गुरु नानककी जीवनीमें इस बारेमें एक सुंदर प्रसंग है. गुरु नानक अरब देशमें मक्का मदीना गये थे. वहां मस्जिदकी तरफ पैर रख कर सो गये. वहांके लोगोंने हल्ला मचाया कि अरे मस्जिदकी तरफ पैर रख कर तुम कैसे सो रहे हो? तुम्हें शरम आनी चाहिये. तो गुरु नानकने कहा कि **भाई, एक काम करो. मैं बहुत थका हुआ हूं. मेरे पैर उठाकर तुम उस दिशामें रख दो जिस दिशामें अल्लाह न हो.** ऐसी कोईभी दिशा नहीं है, ऐसा कोईभी स्थल नहीं है कि जहां पर अल्लाह न हो. हर स्थान पर अल्लाह है. बहुत छोटी बात है नानककी लेकिन समझो तो बहुत बड़ी बात है. नानककी सुननेमें तो बहुत छोटी है लेकिन इसका असर अगर तुम झेल सको तो बहुत बड़ी महान बात है कि वह दिशा बताओ कि जिस दिशामें अल्लाह न हो! तो इस प्रमाणसे वह दिशा बताओ कि जिस दिशामें ब्रह्म न हो. वह स्थल बताओ जहां ब्रह्म न हो.

जैसे सात्विक बुद्धिसे सर्वत्र विद्यमान ब्रह्म जाना जाता है वैसेही अव्यभिचारिणी भक्ति हो तो अपने भक्तोंके आधीन होकर पुरुषोत्तम भी प्रकट होता है और उसका ब्राह्मिक विस्तार भी अनुभूत होता है. इस प्रकार हवेलियोंमें बेकार रखड़पट्टी करनेसे हमें न तो ब्राह्मिक विस्तार अनुभूत होता है और न ही अव्यभिचारिणी भक्ति हृदयमें प्रकट होती है.

श्रीचैतन्यमहाप्रभु और अपने महाप्रभुकी कथामें एक बहुत सुंदर प्रसंग आता है कि वह दोनों जगदीश पधार रहे थे. चैतन्य महाप्रभुने कहा **मुझे तो इस राजमार्गकी अपेक्षा वन उपवनोंकी यात्र करना अच्छा लगता है. इसलिये मैं तो जंगलमेंकी यात्र करूंगा.** हमारे श्रीमहाप्रभुजीने कहा **मैं तो राजमार्गसे ही यात्र करूंगा, जंगलकी यात्र नहीं करूंगा.** बादमें

दोनों वहां एक स्थल पर मिले तब चैतन्य महाप्रभुने श्रीमहाप्रभुजीसे पूछा कि **क्या आपको जंगलमें डर लगता है?** तो श्रीमहाप्रभुजीने बहुत सुंदर बात कही कि **आप अपने पीछे तो देखो, आपको जंगलमें कुछ हानि न हो जाये उसकेलिये कृष्ण आपके पीछे पीछे आ रहा है.**

कितने गजबकी बात है! कैसेतो भक्तिरसमें छके निर्भीक श्रीचैतन्य महाप्रभु और कैसेतो भीरु अपने श्रीमहाप्रभुजी कि स्वयंके कारण श्रीकृष्णको किसी प्रकारका कष्ट न हो जाये! अतएव उनको चिन्ता हो रही है कि चैतन्यमहाप्रभुके कारण श्रीठाकुरजीको कितना कष्ट झेलना पड़ा!

दोनोंके भाव अपनी अपनी दृष्टिसे आनन्द लेने लायक भाव हैं. अपने महाप्रभुजीको, परन्तु, ब्राह्मिक विस्तारके माहात्म्यज्ञानके साथों साथ अपने घरमें, अपने परिवारजनोंके साथ मिलजुल कर अपने तनमनधनसे भगवत्सेवा करनेका सुदृढ़ सर्वतोधिक भक्तिके राजमार्ग द्वारा जाना अधिक अच्छा लगता है. कारणकि वहां कोई मनोरथके नाम पर पैसा लेनेवाला कि प्रभुके सुखका लालच दिखाकर भक्तिका दम्भ करनेवाला कोई क्रूर पशु आ नहीं सकता. वहां ठगने वाला कोई धूर्त नहीं आ सकता. अज्ञानकी रात्रिके अंधकारमें सिद्धान्तोंके गलत अर्थघटनका छुरा दिखाकर पैसा लूट लेनेवाला सरलतासे प्रविष्ट नहीं हो सकता, अगर तुम खुद उसे आमंत्रित न करते हो तो. जहां भी जाओगे वहां कोई न कोई तो तुम्हें मूर्ख बनायेगा ही, अतएव भगवत्सेवा अथवा भगवत्भक्तिकेलिये तुम्हारा घर सबसे अच्छी जगह है. वहां तुम्हें ठगने कोई नहीं आ सकता, अगर तुम खुद अपनेको ठगवाना नहीं चाहते हो तो.

पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा – भगवल्लीलात्मक जगतमें लीलाभावसे जीनेकी कला है:

श्रीमहाप्रभुजीने जो मार्ग हमें समझाया है कि **ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते** अतएव तुम अपने घरमें सेवा प्रारम्भ करो, तुमने ब्रह्मसंबंध लिया है, तुमने सारी इन्द्रियां परमात्माको निवेदन करी है, अपनी देहको, परिवारको, धनको, इष्टजनोंको सबकोही जब तुमने परमात्माको निवेदित समर्पित किया है तब परमात्माकेलिये उन सबका प्रयोग करनेकी शैली भी तुम्हें आनी चाहिये. और इस प्रकारकी भक्ति, जब तुम प्रकट करोगे तब धीरे धीरे तुम्हें पता चलेगा कि परमात्मा किस प्रकार लीला कर रहा है. उसकी लीलाके अनुभाव तुम्हारेमें प्रकट होंगे.

एक बात समझो कि यह सम्पूर्ण जगत परमात्माकी एक लीला है, और यह लीला किसलिये है वह तो परमात्माही जाने, हम किस प्रकार जान सकते हैं? हम जान नहीं सकते लेकिन इस लीलाका एक तात्पर्य श्रीमहाप्रभुजी पुष्टिभक्तोंको समझाना चाहते हैं. क्योंकि महाप्रभुजीके मनमें पुष्टिमार्गको आंतरराष्ट्रीय स्तरपर चलानेकी कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी और न ही थी घाट घाटके लोगोंको इकट्ठा करनेकी. श्रीमहाप्रभुजीको पुष्टिमार्ग अंतरराष्ट्रमें नहीं लेकिन अंतर हृदयमें प्रकट करनेकी इच्छा जरूर थी, अंतरराष्ट्रमें पुष्टिभक्ति पैदा हो न हो, दोनों जायें भाड़में! पुष्टिजीवोंके अंतरहृदयमें पुष्टिमार्ग पैदा होना चाहिये, अंतरमनमें अंतरात्मामें पुष्टिमार्ग पैदा होना चाहिये. राष्ट्रमें बहुत सारे लोग हैं जो अपना अपना काम करते हैं, उनकी चिंता हमें नहीं करनी है. अंतरात्मामें, अंतर हृदयमें भगवानको पैदा करो. उसके लियेही श्रीमहाप्रभुजी सिद्धान्तमुक्तावलीमें आज्ञा करते हैं **मानसी सा परामता**. महाप्रभुजी ऐसे नहीं कहते कि **कृष्णसेवा यदांतरराष्ट्रीया स्यात् परा मता**, ऐसा श्रीमहाप्रभुजीने कहीं नहीं कहा. यह कृष्णसेवा शुरु करो और तुम्हारे भीतर अंतरमनमें जो सेवा चलनी चालू हो गई तो वह सेवा **परा** सेवा हो जायेगी और अंतरराष्ट्रमें

चली लेकिन अंतरमनमें नहीं चली तो **अच्युतं केशवं राम नारायणम्! तुम तो फलसे वंचित ही रह गये!** तो यह मानसी सेवा, तुम्हारा चित्त जो तुम्हारे घरमें बिराजते प्रभुकी तनुवित्तजा सेवामें चौंटेगा, तो प्रकट होगी. राष्ट्रका चित्त चौंट भी जाये उससे तुम्हारेंमें मानसी सेवा प्रकट होगी उसकी कोई गारण्टी है क्या? नहीं.

और यह मन सेवामें तब चौंटेगा जब तुम्हारा तन, तुम्हारा वित्त, तुम्हारा परिवार, तुम्हारे स्वयंके घरमें मिलजुल कर सेवा शुरु करेगा. फिर तुम्हारा चित्त कृष्णमें तन्मय हो जायेगा. यह श्रीमहाप्रभुजीका सेवाका सारा दिव्य प्रकार है. इस प्रकार तुम सेवा करो फिर तुम्हें पता चलेगा कि यह जगत भगवानकी लीला है. किस प्रकार लीला है? तो तुम्हारे गृहरूपी वैकुण्ठमें तुम्हारी समस्त कुण्ठायें निवृत्त हो जायेंगी और तुम्हारे घरमें ही वैकुण्ठ प्रकट हो जायेगा, अगर वैकुण्ठनायक घरमें बिराजता हो तो. तो जो लीला है उसका अनुभाव तुम्हारेमें प्रकट होगा. जितनी वार्तायें पढ़ोगे तो उसमें आयेगा कि **ब्रह्मसंबंध लेकर घरमें सेवा करने लगे. तत्पश्चात् प्रभु उसे सानुभाव जताने लगे**. प्रत्येक वार्ताका निष्कर्ष मोटे तौर पर इसी प्रकार निकलता है. सानुभाव जताने लगे. इसका अर्थ यह ही कि बादमें इसकी सेवा केवल क्रियात्मक सेवाही नहीं रह गई. लीलात्मक सेवा हो गई. ऐसी लीलायें प्रभुने उस समय व्रजभक्तोंके साथ करी थीं ऐसा ही नहीं; आजभी तुम्हारे साथभी हो सकता है. और वार्ता साहित्य इस बारेमें प्रमाण है कि एक भगवदीय कहीं नौकरी व्यापार करने जाते थे और जब वापिस घर लौटते थे तब ठाकुरजी भीतरसे सांकल लगा कर दरवाजा बंद कर देते और पूछते थे कि **तू मेरे लिये क्या लाया है वह पहले बता तो ही दरवाजा खोलूंगा, नहीं तो नहीं खोलूं. यही तो प्रभुकी लीला है! तू कौनसा खिलौना खेलनेकेलिये मेरे वास्ते लाया है वह बता तो ही दरवाजा**

खोलूंगा नहीं तो नहीं; मेरेलिये खिलौना क्यों नहीं लाया? तो यह तो लीला है. नहीं तो परमात्माको कहीं खिलौनेकी अपेक्षा होती है? लीलामें अपेक्षा होती है. यह प्रभु इस प्रकार लीलाके अनुभाव तुम्हारे समक्ष प्रकट करने लगेगें. और इन लीलाओंके अनुभाव प्रभु तब प्रकट करेंगे जब तुम्हारे अन्दर अव्यभिचारिणी भक्ति हो.

इसलिये एक बात समझो कि लीला भक्तिकेलिये है और भक्ति लीलाकेलिये. लीलाका अनुभाव भक्तिरूपमें प्रकट होना चाहिये और भक्तिका अनुभाव परमात्माके साथ लीलारूपमें प्रकट होना चाहिये. मूलमें यह दोनों एक दूसरेके साथ एक दूसरेके पूरक रूपमें बंधी हुई बाते हैं. जैसे अपने यहां जन्माष्टमीके दिन नंदमहोत्सवमें एवं तुम्हारे यहां भी चकरी जिसे तुम खेलते हो उसमें कौन किसे पकड़ता है? कौनके आधार पर कौन टिक रहा है? एक दूसरेके आधार पर दोनों टिकते हैं. दोमेंसे एक गिरे तो दूसरा भी गिरता है क्योंकि एक दूसरेको खेंच रहे हैं. इस संबंधमें ऐसा भी आता है कि कितने लोग इसमें इतने माहिर हो जाते हैं कि पूरे झुकने मुड़नेके बाद भी दोनों टिके रहते हैं. इतना झुकना चकरीके बिना संभव नहीं अन्यथा तो कपाल क्रिया हो जाये! लेकिन एक दूसरेके आधार पर दोनों टिके रहते हैं. इस प्रकार लीला भक्तिके आधार पर टिकी रहती है और भक्ति लीलाके आधार पर टिकी रहती है. जहां प्रभु लीला प्रकट कर रहे हैं वहां अगर तुम्हारे हृदयमें भक्ति नहीं है तो लीलाका आनन्द तुम नहीं ले सकते. जहां तुम भक्ति प्रकट कर रहे हो वहां अगर वह लीला प्रकट न करे तो उसे वार्ताकार समझाते हैं कि **ता पाछे सानुभावता प्रभु जतावन लागे** यह प्रभु जो बादमें सानुभाव नहीं जतायें तो फिर सेवा क्रियात्मिका हो जायेगी, यह बात पक्की है कि फिर यह भक्तिरूपी सेवा नहीं रह गई,

क्रियारूपी सेवा हो गई और जिस समय प्रभु सानुभाव जताने लगे.....

मुंबईमें मेरे किसी जानकार व्यक्तिने एक प्रसंग सुनाया जिसे सुनकर मुझे बहुत आनन्द आया. यह व्यक्ति एक बार व्रजयात्र करने गया. वहां बरसानेमें पहाड़के ऊपर स्वामिनीजीके दर्शन करनेकी सोची. तो मनमें विचार आया कि पैसा डेरे पर रखूं तो कोई ले जायेगा. ऐसा विचार मनमें आने पर पैसा बटुवेमें रख कर साथ ले गया. अब दर्शन करते समय इन महाशयकी जेब कट गई. अब यह करोड़पतिका लड़का किसीके पास पैसे मांगते भी शरमाये. यह महाशय कविता भी लिखते थे. इसने एक बड़ी कविता लिखी कि **हे परमात्मा, तुम्हारे राजमें तुम अपने भक्तोंकी रखवाली नहीं करते हो. तुम्हारे दर्शन करते समय तुम्हारे मंदिरमें जेब कट जाये तो जगतकी रखवाली तू किस प्रकार करता होगा?** ऐसी कविता लिखी. इस कविताको सुनकर मुझे मजा आ गया.

बहुत बार ऐसा होता है. एक समय मैंने ऐसा पढ़ा कि एक व्यक्ति कुछ खरीदने के लिये दुकानमें गया तो उसका स्कूटर चोरी हो गया. यह बिचारा घबरा गया. काफी खोजबीनके बाद स्कूटर उसे मिल गया. बहुत खुशी हुई और परमात्माकी कृपा जानी, मंदिरमें पेड़े चढ़ाने गया तो वहांसे स्कूटर फिरसे चोरी हो गया और फिर मिला ही नहीं. अतएव ऐसी गड़बड़ हो जाती है – यह सब लीला है.

तो इन भाईने बहुत सुंदर कविता लिखी. बादमें उसने अपना एक अनुभव भी लिखा. उसमें कहता है इस प्रकार कविता लिखनेके उपरान्त अपने डेरे पर आया, वहां डेरे पर उसके श्रीठाकुरजी बिराज रहे थे. उस दिन डेरे पर जाकर जब उसने श्रीठाकुरजीके दर्शन किये, तो कितने सालोंसे वह सेवा कर रहा था लेकिन पहली बार श्रीठाकुरजीके मुखारविन्द पर स्मित दिखाई दिया. श्रीठाकुरजी आज हंस रहे हैं. कितनी

मीठी बात है. इसके पैसे चोरी कराये तो इस कारण खुद गाली खाईं, अपनी अयोग्यताके कीर्तन भी उसके पास लिखवाये और गवाये, बादमें हंस रहे हैं! हम सब श्रीठाकुरजीके गुणगानके पद ही गाते हैं लेकिन इसने तो उनकी अयोग्यताके पद गाये कि तुम जगतका संचालन किस प्रकार करते हो? इस दिन श्रीठाकुरजीने पहली बार स्मित धारण किया. तब उसे लगा कि सब न्यौछावर है. बटुवा गया और दूसरी तकलीफ हुई सब न्यौछावर है. क्योंकि इसकी दी हुई गाली श्रीठाकुरजीने मानी तो सही. नहीं तो स्मित क्यों आये? कोई ठाकुरजीको गाली दे और उसका मजा ठाकुरजी लें तो बटुवा चोरी होनेका मजा अपनेको लेना कि नहीं!!

इसका नाम लीला और इसे अगर गंभीरतासे लेने लगें तो यह लीला नहीं, व्यवहार हो गया. लीलाका शुद्ध मतलब यह कि प्रत्येक क्रिया कलापमें हमें परमानन्द खोजना है, ब्राह्मिक विस्तारको खोजना है. यह उसके हृदयमें गाली देते समय भी जो अव्यभिचारिणी भक्ति स्थिर रही होगी उसके कारणही तो श्रीठाकुरजीके ऐसे हंसते मुखारविन्दके दर्शन हुये, नहीं तो नहीं दिखते, किस प्रकार दिखते? इसलिये एक बात कहूं कि इतनी गाली देनेके बाद अगर भक्ति न हो तो ठाकुरजीके मुखारविन्दके दर्शनकी तमन्ना किसलिये जागे? जाने दो ना, मेरा बटुआ चोरी हो गया तो दर्शन क्यों करने – ऐसा भाव जागता! अपने ठाकुरजीके दर्शन करनेकी उसको इच्छा हुई और तब उसे ऐसा लगा कि आज तो ठाकुरजी हंस रहे हैं, अतएव यह तूफान इसनेही मचाया है.

अब इसके बाद मैंने इसके ऊपर थोड़ा विचार किया कि यह कैसे हुआ होगा? मुझे ऐसा लगा कि अपने माथे बिराजते ठाकुरजीको छोड़कर पहाड़के ऊपर अपना बटुवा लेकर गया. अतएव रुपयोंसे भरे बटुवेको अपने ठाकुरजीसे अधिक महत्व दिया तो यह नादानीही कही जायेगी कि नहीं? तो जेब कटाये

नहीं तो क्या करे? ठाकुरजीको मुकाम पर छोड़ कर जाये तो उसे ठाकुरजी चुर जानेका डर नहीं लगा कि उन्हें कोई चुरा लेगा? और बटुवेमें सब रुपये धरे कि लाओ, लाओ, लाओ! तो ठाकुरजीने कहा कि ले बेटा तुझे ठीक करता हूं, धनकी रक्षा करता है मेरी नहीं? ऐसाही कुछ सोचकर प्रभुने यह तमाशा खड़ा किया होगा. और यह तमाशा ठीकठाक हो गया इसलिये प्रभुके मुखारविन्द पर स्मित भी आगया. यह सहज संभव है, इसमें कोई घबराहटकी बात नहीं है और न ही विचारनेकी. अतएव मुझे ऐसा लगा कि **प्रभु करें सो भली करें. यद्वै तत् सुकृतं रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनंदी भवति**. यह परमानंद है लीलाका, इसका नाम लीला.

अतएव शांत चित्तसे समझो कि लीला भक्तिकेलिये है, भक्ति लीलाकेलिये है. लीला द्वारा भक्तिमें अनुभाव प्रकट होते हैं. उसी कारण हमारे यहां श्रीमहाप्रभुजी भगवानकी लीलाका वर्णन करते हुए बहुत गजबकी एक सुंदर बात कहते हैं :– **हरिणा ये विर्निमुक्तास्ते मग्ना भवसागरे. ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्..** मुझे नहीं लगता कि किसी आचार्यने इतनी सुंदर बात कही हो कि जिन लोगोंको भगवान मुक्त करते हैं वह सब डूब जाते हैं; और, जिनको भगवान बांध लेते हैं वह सब छूट जाते हैं. जिन्हें भगवान छोड़ देते हैं वह सब संसारमें बंध जाते हैं और जिनको भगवान बांध लेते हैं वह उसकी लीलाभक्तिमें बंध जाते हैं, उस प्रभुके साथही. जिनको कैदमें डाल दिया, जिनकी जेब कट गई, उनको उसका स्मित करते मुखारविन्दका दर्शन होता है; हरेकको कहां दिखता है यार!

अव्यभिचारिणी भक्ति एवं विभक्तमें अविभक्तके अनुभवके कारण हमको पुरुषोत्तम कुछ दिखाई दे सकता है वह संभव लगता है. इसमें कोई एक पहलू भी छूटा तो चकरीकी तरह दोनों गिर जायेंगे. अतएव दोनोंकी नितान्त आवश्यकता है यह

बात हमनें समझ ली. हमारा सम्प्रदाय पुष्टिभक्तिके मार्गपर यात्र करना मांगता है. इस मार्गपर यात्र करके हमें लीलानुभूति तलक पहुंचना है. यह सृष्टिरूप परमात्माकी जो लीला चल रही है यह हमारे हृदयमें भक्ति प्रकट करे वहां तलक हमें पहुंचाये तो इसमें अपने जन्मकी सार्थकता. इस लीलामें वहां तलक हमें जन्म लेते रहना है जहां तलक अपने हृदयमें ऐसी अव्यभिचारिणी भक्ति प्रकट नहीं होती. मुक्त नहीं होना. कहा भी है कि **व्रज व्हालुं रे वैकुण्ठ नहि आवुं, त्यां नंदनो कुंवर क्यांथी लावुं?** ***हमने एक नहीं, सहस्र परिवत्सर तलक जन्म लेना है, लेते ही रहना है; जहां तलक इस हृदयमें लीलाका पुष्टिभक्तिका बीजभाव भगवत्सेवाभक्तिके अनुभावके रूपमें प्रकट नहीं होता.*** दूसरी सम्प्रदायमें जन्ममरणको धिक्कारनेमें आया है कि जन्ममरणके चक्करसे छूट जायें, हमें तो यही समझना है कि हमारा जन्ममरणका चक्कर चलता रहे. अनादि अनन्त काल तक चलता रहे, लेकिन शर्त एक है कि हमें ऐसी आशा होनी चाहिये कि इस जन्ममरणके चक्करके चलते चलते कोई एक जन्म ऐसा भी मिलेगा कि जिसमें हमारे हृदयमें पुष्टिभक्ति प्रकट हो जायेगी. इस लीलाके प्रति हमारा ऐसा अनुभाव प्रकट होगा. कोई दिन ऐसा आयेगा कि जिस दिन हम परमात्माको पुष्टिभक्तिसे निहार सकेगें, अव्यभिचारिणी भक्तिसे निहार सकेगें. **भवन्तमेव अनुचरन् निरन्तरं प्रशान्तनिःशेष–मनोरथान्तरं कदा अहम् एकान्तिक नित्यकिंकरः प्रहर्षयिष्यामि सनाथ जीवितम्! "अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः"** इस प्रकारकी हार्दिक भावनासे भरी हुई दृष्टिसे मैं मेरे घरमें बिराजे हुये प्रभुको निहार सकूं कि तू मेरा है, तू मेरा ही है, मेरे सिवाय और किसीका नहीं, और मैं तेराही हूं और तेरे सिवाय किसी औरका नहीं.

0000000000000

।।पुरुषोत्तमके निरूपणकी त्रिविध शैलियां।।

उपनिषदोंमें उस तत्वका निरूपण अथवा वर्णन किसी समय परोक्ष रूपमें ... परोक्ष अर्थात् जो सामने न हो, दूसरी जगह हो. और अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष, आमने सामने. परोक्षनिरूपण अर्थात् हम ऐसी रीतिसे बात करते हैं कि **वह व्यक्ति, वह गांव, वहां ऐसा था, उनके यहां ऐसा था, वह व्यक्ति ऐसे कहता था** इत्यादि इत्यादि. जब हम **वह वहां उनके यहां** इस प्रकार जब बोलते हैं उसे परोक्ष निरूपण कहते हैं. किसी समय अपरोक्ष रूपमें भी हम किसीका निरूपण करते हैं. अपरोक्ष या प्रत्यक्षमें हम किसीको यह **तू** कि **तुम** कहते हैं. उदाहरणके तौर पर **यह सामने दिखती वस्तु ऐसी है, तू ऐसा है, तुम ऐसे हो** इत्यादि इत्यादि. यह अपरोक्ष निरूपण कहलाता है. अपरोक्ष निरूपणमें किसीको तुम्हें कहते हुए जितनी अपरोक्षता आती है उससे अधिक अपरोक्ष व्यक्ति स्वयं स्वयंकेलिये कुछ कहता हो तो आती है. जैसे कि अंधेरेमें रस्सी लटकती हो और हमें सांप जैसी अपरोक्ष दिखती है. हो वास्तवमें दिनेशभाई, लेकिन हम भूलसे उसे ''**कैसे हो राकेशभाई तुम?**'' पूछ लेते हैं. अतएव सामने दिखता होते हुये भी भ्रमणा हो सकती है. जब स्वयंकी कोई वास्तविकताके बारेमें हम बात करते हैं तो उसमें संशय या भ्रमका कोई प्रश्न खड़ा नहीं होता. अतएव उपनिषदोंमें कहीं **वह** तो कहीं **अहम्** तो कहीं **आत्मा**के तौर पर ही **परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम**का वर्णन ही करनेमें आया है.

अब एक खास बात समझनेकी है कि जो **वह** होता है तो वह **अहम्** नहीं हो सकता और जो **अहम्** होता है तो वह **वह** नहीं हो सकता. हम लोग स्वयंके बारेमें सामान्य रीतिमें **वह** सर्वनामका प्रयोग नहीं करते. जिसे हम **वह** कहते हैं

उसके बारेमें सामान्यतयः **हूं** पदका प्रयोग नहीं करते. यह होते हुये भी व्यवहारमें कभी ऐसे शब्द प्रयोग करनेमें आते हैं कि जिनमें हम ऐसे भी कहते हैं कि ''**वह मैं हूं**'' ''**उस समय तुमने जिससे सवाल पूछा था वह मैं हूं**'' तो उस जगह **वह** परोक्ष और **हूं** अपरोक्ष होते हुये भी एक दूसरेमें पढ़े जाते हैं. उसी प्रकार यह परोक्षता और अपरोक्षता यह दोनों संदर्भोंमें से हट कर एक शुद्ध प्रयोग.... अर्थात् यह अशुद्ध है यह तात्पर्य नहीं है, लेकिन केवल वस्तुका वस्तुकी तरह निरूपण करना, परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूपमें नहीं वैसे प्रयोगभी उपनिषदोंमें आत्मा कहकर करनेमें आये हैं. उसीसे – (1) **तदादेश = परोक्षनिरूपण; (2) अंहकारादेश = अपरोक्षनिरूपण; (3) आत्मादेश = उभयतादात्म्यनिरूपण.**

त्रिविध परोक्ष अपरोक्ष एवं उभयतादात्म्यकी वर्णनशैलीयोंमें उसका निरूपणः

तदादेश अहंकारादेश अथवा आत्मादेशकी शैलीयोंमें निरूपण करते हुये उपनिषदोंमें ऐसा कहनेमें आया है –

(1) **सएव अधस्तात् सएव उपरिष्टात् सएव पश्चात् सएव पुरस्ताद् सएव सर्वतः.**

(2) अहमेव अधस्ताद् अहमेव उपरिष्टाद् अहमेव पश्चाद् अहमेव पुरस्ताद् अहमेव सर्वतः.

(3) आत्मैव अधस्ताद् आत्मैव उपरिष्टाद् आत्मैव पश्चाद् आत्मैव पुरस्ताद् आत्मैव सर्वतः.

अर्थात् वह ही ऊपर है, वह ही नीचे है, वह ही पीछे है, वह ही आगे है, वह ही आसपास है, वह ही सर्वत्र है. इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमका वर्णन करते हैं उसे तदादेश कहा जाता है. उसी प्रकार ही **अहमेव** प्रकारसे कहकर अहंकारादेश एवं **आत्मैव** प्रकारसे कहकर आत्मादेश वर्णन करनेमें आया है.

तेरे एवं मेरेका जो भेद है या विभाग है, इस आत्मामें किस प्रकार अविभक्ततया स्थित है, वह अर्जुनको समझमें आ जाये उसी प्रकार उपदेश देनेकी शैली भगवानने स्वीकारी है. क्योंकि उपनिषदोंका सार कहना है ना, अतएव उपनिषदोंके वर्णन करनेकी पहले कही गई शैलीको प्रभु छोड़ नहीं रहे हैं. जिस रीतिसे तदादेश, अहंकारादेश और आत्मादेश इन तीन प्रकारोंसे भगवानने अपना वर्णन किया है वह सब शुरुआतमें हमें तदादेशके वर्णनकी रीति समझनी है. अतएव परोक्ष रीतिसे इस पुरुषोत्तमका वर्णन किस प्रकार होता है वह हमने देखा.

भगवल्लीलामें त्रिविध भगवत्–शक्तियोंके कारण त्रिविध आदेशोंकी उपयोगिताः

पहले मैंने एक बात समझाई थी कि यह समग्र जगत भगवानकी एक लीला है. लीलाको एक यात्रकी तरह समझनेका प्रयास करो. हम लोग व्रजयात्रमें जाते हैं तो वहां एकके बाद दूसरा पड़ाव आता है मधुवनका, बहुलावनका, इत्यादि इत्यादि इसी प्रकार लीला रूपी यात्रमें जो पड़ाव आते हैं वह कितने प्रकारके? यह लीला के पड़ाव हैं. संसार, कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति.... इतने सारे पड़ाव हैं. यह संसार, कर्म, ज्ञान, भक्ति, अथवा शरणागतिकी जो साधानाऐं या यात्रऐं हैं.. जो कि चालूभाषामें संसारको हम साधना नहीं कहते क्योंकि यह तो सिद्ध ही है, इसमें साधने जैसा कुछ भी है ही नहीं! जन्मते बच्चेको भी पता चल जाता है कि दूध किस प्रकार पीना. इसमें साधनाकी जरूरत नहीं है. वैसा होते हुये भी चलो हम उसको साधना मान कर चलते हैं. क्योंकि संसार समेत भी अमुक सिद्धियां भी तो प्राप्त करनेकी हैं. उदाहरणतया धनकी, यशकी, द्वेषकी, मैत्रीकी, उपेक्षाकी ऐसी बहुत सारी सिद्धियां हमें सांसारिक वृत्तियोंके द्वारा प्राप्त करनेकी होती हैं. उनकी जैसे विविध साधनाऐं हैं, वैसे ही कर्मकी ज्ञानकी भक्तिकी या

प्रभुके प्रति शरणागतिकी जो साधनायें हैं उन साधनाओंको भी अगर हम यात्र रूपमें समझनेका प्रयास करें तो हरेक यात्रका एक प्रमुख पड़ाव लीलारूपमें हमें लेना पड़ेगा. साधनाकी यात्र प्रारम्भ हुई और इनके पड़ाव कई प्रकारकी प्रभुकी लीलारूपमें आयेंगे. इसप्रकार एक दूसरेसे लीला और साधना कितनी घनिष्ठता बनाये हुये है वह समझनेकी मुख्य बात है. उसमें दूसरी सभी साधनाओंकी चर्चा हम करें तो पार नहीं पा पायेंगे. अतएव हम भक्तिकी साधना तकही बातको सीमित रखेंगे. क्योंकि भगवानने पंद्रहवें अध्यायके प्रारम्भसे पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि **मांचयोऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते** अतएव भले ही दूसरी साधनाओंमें विशेषता कि विलक्षणता हों परन्तु अभी पुरुषोत्तमयोगके विचारनेमें हमें उनमें बहुत अन्दर घुसनेकी जरूरत नहीं है. हम भक्तिकी दृष्टिसे ही इन सबकी विवेचना करेंगे. इस भक्तिमें हमें विभक्तोंमें अविभागको देखनेकी कला और अविभक्त तत्वको देखनेकी कलाके साथ साथ इसमें अव्यभिचारिणी होनेका स्वभाव स्थिर रखनेकी कला – यह दो कलायें हों तो पुरुषोत्तमका अनुभव हो. इतने विषय पर हमने अबतक विचार किया है.

अब इस बातको समझो कि परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम स्वयं तो **स एकाकी न रमते द्वितीयम् ऐच्छत्** इस वचन प्रमाणसे, वह एक तत्व अनेकरूपोंको लेकर जगतमें विलस रहा है. तो जो एक तत्व अनेकरूपों द्वारा विलास कर रहा है, उसके उसमें कई विभाग हैं. इस हवेलीके चौकमें हम बैठे हैं तो हमें जूनागढ़ अनुभूत अथवा दिखाई नहीं देगा. अब सोचो कि जूनागढ़ देखना हो तो हमें गिरनारके ऊपर जाना पड़ेगा और वहांसे जूनागढ़ दिखाई देगा. लेकिन हवेलीका चौक दिखना बंद हो जायेगा. इन दोनोंको देखना हो तो, पहले मैंने बता ही दिया है तदानुसार, जब हम ऐसा भाव बनायेंगे कि

हवेलीका जो भाग दिखाई दे रहा है वह जूनागढ़ही है तो हवेलीमें विद्यमान होने पर जूनागढ़ दिखाई नहीं देगा उस समस्याका समाधान निकल सकता है. हवेलीके चौकको जूनागढ़से भिन्न समझना वैसी भेददृष्टिसे हमें ऐसा लगेगा कि यहां तो जूनागढ़ दिखाई नहीं दे रहा, हवेलीका चौक दिखाई दे रहा है. लेकिन अगर यह हवेली जूनागढ़में है और अगर यह चौक हवेलीमें है तो यह चौक जो दिखाई दे रहा है वह जूनागढ़ही दिखाई दे रहा है ऐसा स्वीकारना ही पड़ेगा. ऐसा हो ही नहीं सकता कि हवेलीका जो चौक दिखाई दे रहा है उसमें जूनागढ़ दिखाई न देता हो. अब दोनोंके बीचमें भेद है कि नहीं यह गौण बात है, लेकिन अपनी देखनेकी दृष्टि किस प्रकारकी है वह मुख्य है. जो भेद दृष्टि हो तो हवेलीका चौक दिखाई देता है तब जूनागढ़ दिखाई नहीं देता. गिरनारके ऊपर चढ़ कर देखें तो ही जूनागढ़ दिखाई देगा. लेकिन तब हवेलीका चौक दिखना बंद हो जायेगा. इस प्रकारकी दृष्टिसे उत्पन्न होते यह भेद हैं. सात्विकबुद्धिका जब हम प्रयोग करेंगे तो हमें समझमें आयेगा कि जो हवेलीका चौक दिखाई दे रहा है उसमें जूनागढ़ही दिखाई दे रहा है. अगर सारा जूनागढ़ दिखाई दे रहा है तो इसमें हवेलीका चौक तो आ ही गया, इसमें अलग जैसा देखनेका कुछ है ही नहीं.

आंखसे देखनेकी या चाक्षुषदृष्टिसे देखनेकी एक रीति होती है जबकि सात्विक दृष्टिसे देखनेकी रीति दूसरी. इन रीतियोंमें एकसे हम देखें तो दूसरी हमको बता देती है. खाली आंखसे देखनेकी रीतिमें ऐसे अटक जाते हैं कि एकको अगर देखते हैं तो दूसरा दीखता ही नहीं. उसी प्रकार **तत्** एवं **अहम्**के जो भेद हैं, जो उपनिषदमें **तदादेश** एवं **अहंकारादेश** रूपमें वर्णित किये गये हैं. उनमें अनुभवमें आते भेद हवेलीके चौकमें बौद्धिकदृष्टि या चाक्षुषदृष्टिसे अनुभवमें आते दो भेदोंकी तरह हैं.

बौद्धिकदृष्टि एवं चाक्षुषदृष्टि इन दोनोंका समन्वय करके अथवा तो सहप्रयोग करनेसे एक तीसरे प्रकारकी दृष्टि शक्य क्यों नहीं हो सकती वह अब हमें विचारनेका है. यह एक ऐसा प्रकार बनेगा कि जिसके अनुसार **तत्**को देखकर हमें समग्र ब्रह्मांड दीख जायेगा एवं समग्र ब्रह्माण्डको देखें तो तत् दिखाई दे जायेगा. इसीके लिये ही उपनिषदमें एक मौलिक सूत्र है कि **एक विज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति** अर्थात् कोई एक वस्तुको, उस वस्तुके किसी एक ऐसे पहलूको, जो ऐसा हो कि उसे जो जान पहचानले तो हरेक वस्तुको जाना पहचाना जा सके. जैसे कि बर्तनमें रखे गये चावल या दालके एक दानेको दबा कर बाकी चावलके अथवा दालके दानोंकी हालतको हम जान सकते हैं कि सारे दाने सीजे कि नहीं. इसमें कोई हरेक दानेको दबा कर देखनेकी जरूरत नहीं रह जाती. उसी प्रकार किसी ऐसे लाक्षणिक पहलूको भली प्रकार जान जायें तो हरेक वस्तु या व्यक्तिको जाना जा सकता है. हरेक वस्तु या व्यक्तिका भी कोई एक ऐसा पहलू होता है कि व्यक्तिका ज्ञान हो जाता है. उदाहरणके तौर पर सोनेके ऐरिंग बनते हैं, कड़े, कंठी, पायल, चूड़ी बनती हैं, उनमें अलग अलग विभाग बन जाते हैं. अब इनके किसी विभागमें जिसकी दृष्टि अटक जाती है, उसे सोना दिखाई नहीं देता. जिसकी दृष्टि किसी भी एक आभूषणके सोने होनेकी ओर जायेगी तो उसे हरेक वस्तु सोने द्वारा बनी है, ऐसा ज्ञान हो जायगा. **यह सब सोना है** ऐसी रीतिसे देखने वाली दृष्टि उसका नाम तत्वदृष्टि होता है. और अलग अलग धरे हुये जो अलग अलग रूप, नाम और उपयोग हैं, उनमें अटक जाने वाली दृष्टि वह नामदृष्टि, रूपदृष्टि अथवा उपयोगदृष्टि है. अतएव उसे सोना नजर नहीं आता.

अविद्या विद्या एवं पुष्टि ऐसी भगवानकी त्रिविध शक्तियांः

श्रीमहाप्रभुजी ऐसे आज्ञा करते हैं कि भगवानमें अनन्त शक्तियां हैं. उन सारी शक्तियोंका वर्णन करनें जायें तो गीता पूरी नहीं होगी. अभी तो हम तीन शक्तियोंका विवेक यहां समझेंगेः **(1) विद्याशक्ति (2) अविद्याशक्ति (3) पुष्टिशक्ति**

(1) विद्याशक्ति अर्थात् जिस शक्तिके कारण अनेक विभागोंमें अविभक्त तत्वको तुम खोज सको. इस परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमके अविभक्त होनेके पहलूका तुम अनुभव कर सको उसका नाम विद्याशक्ति.

(2) अविद्याशक्ति अर्थात् इस परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमके जो अलग अलग नाम, रूप एवं कर्मके विभाग हैं उनमेंही तुम्हारी दृष्टि अटक रही है एवं जो अविभक्त तत्व है वह तुम्हें अनुभूत नहीं हो रहा. अर्थात् तुम्हें चूड़ी समझमें आती है, पायल समझमें आती है, एरिंग समझमें आते हैं लेकिन सोना समझमें नहीं आता. क्योंकि नाम रूप कर्ममें अपनी दृष्टि अटक गई है. तो वह जो दृष्टि है वह प्रभुकी अविद्याशक्तिके अपने भीतर सक्रिय होनेका परिणाम है.

अब एक बात समझो कि गिरनारके ऊपर चढ़ें तो चौक दीखना बंद हो जाता है एवं चौकमें बैठे रहें तो जूनागढ़ दीखना बंद हो जाता है. तो एकको देखने पर दूसरा दीखना बंद हो जाये तो यहां किसी प्रकारकी विद्याशक्ति एवं किसी प्रकारकी अविद्याशक्ति भी काम कर रही है. क्योंकि एक दीखती है और दूसरी नहीं दीखती. उसी कारण वैदिक दर्शनोंके जितने भी सम्प्रदाय हैं, उनमें कितनेही चिंतक ऐसा कहते हैं कि विभागको देखने वाली दृष्टि मिथ्यादृष्टिही होती है. जैसे कि श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं **नाम रूप कर्मके जो भेद दीखनेमें आते हैं वह वास्तवमें हैं नहीं केवल अविद्याके कारण दीखते हैं. अगर अविद्या दूर हो जाये तो हरेक वस्तुमें रहा हुआ अभेद दीखने लगेगा. इस प्रकार अव्यक्तको देखने वाली दृष्टिको ही विद्यादृष्टिके तौर पर स्वीकारते हैं. व्यक्त**

नामरूपकर्मको देखने वाली दृष्टिको अविद्यादृष्टिके तौर पर वर्णन करते हैं. इनसे अलग प्रकार श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य ऐसे कहते हैं **हरेक वस्तु दूसरी हर वस्तुसे अलग है. जीव ईश्वरसे अलग है, जगत जीवसे अलग है, जगत एवं जीव दोनोंसे ईश्वर अलग है. इस प्रकार तीनों वस्तुयें एक दूसरेसे अलग अलग हैं. यह होते हुये भी किसी कारण बंधे हुये हमको एक जैसी लगती हैं. अगर हम उनको एकही मानलें तो यह हमारी अविद्या है.**

श्रीरामानुजाचार्यजी एवं श्रीमध्वाचार्यजीके मतानुसार जीव परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमके साथ अपना अभेद भाव रखे तो उसे परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम दंड देंगे. जैसे कि प्रजाका कोई मनुष्य ऐसा कहने लगे कि मैं राजा हूं तो राजा उसे जेलमें डाल देगा कि तू किस प्रकार राजा हो गया? चल जेलमें. **धातयन्ति हि राजानो राजाहम् इति वादिनम्** इसी प्रकार मैं परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम हूं ऐसा कहनेवालेको परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम किसी न किसी जेलमें डाल देते हैं.

(3) इन दोनों दृष्टियोंसे किसी अलग प्रकारका चिंतन हमारे श्रीमहाप्रभुजीने वर्णन किया है. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान सबही नामरूपकर्मके विभागोंमें अविभक्तरूपसे अवस्थित हैं. अतएव नामरूपकर्मके विभागमें जब हम एक परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम भगवानको देखते हैं तो यह नाम–रूप–कर्मके विभाग कैन्सल नहीं हो जाते. एक सामान्य उदाहरणसे हम इस बातको समझ सकते हैं कि जैसे गिरनारके ऊपर हम चढ़ जायें तो हवेलीका चौक दीखना बंद हो जाता है; उससे जूनागढ़में हवेली है यह वास्तविकता कैन्सल नहीं हो जाती. दीखना बंद हो जाता है उसका कारण भी गिरनारकी ऊंचाई नहीं लेकिन दीवारें आड़ी आती हैं उसके कारण चौक नहीं दीखता. अगर हेलीकौप्टर लेकर गिरनार जितनीही ऊंचाईके बराबर हवेलीके ऊपर आओ

तो जूनागढ़ भी दिखाई देगा और चौक भी दिखाई देगा. तो जल्दबाजीमें ऐसा क्यों मान लेना चाहिये कि एक दीखता है तो दूसरा नहीं दीखता और दूसरा दीखता है तो पहला नहीं दीखता. कुछ ऐसाही हेलीकौप्टर लाओ. यह हेलीकौप्टर क्या? तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि यह पुष्टिभक्ति है. पुष्टिभक्ति तुम्हें ऐसी ऊंचाईके ऊपर भी ले जायेगी और कुछ भी वस्तु तुम्हारे आड़े नहीं आने देगी. जैसे गिरनारके ऊपर चढ़ो तो हवेली नहीं दीखती, कारण कि दीवारें आड़े आ जाती है. लेकिन अगर हम हेलीकौप्टरसे हवेलीके चौकके ऊपर गिरनारकी ऊंचाईके बराबर पर आ जायें तो नीचे देखने पर हवेली दीखेगी. इसमें कोई मुश्किल नहीं आती. एकही दृष्टिपातमें जूनागढ़ एवं हवेली दोनों दीखेंगी. उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमकी भक्ति हमें ऐसी ऊंचाई पर ले जाती है कि जिस ऊंचाई पर जानेसे परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमकी समग्रताका बोध भी होता है और साथ साथ परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम द्वारा लिये गये नाम–रूप–कर्मोंके अलग अलग विभाग दीखने बंद नहीं हो जाते. अर्थात् हमें दोनों प्रकारका आनन्द मिलता है. इसके एक होनेका भी और इसके अनेक होनेका भी.

जबकि पहली दोनों दृष्टियोंमें किसी एकको देखनेका आनन्द मिलता है तो दूसरेको देखनेका आनन्द नहीं मिलता. जिसे अनेकताका आनन्द मिलता है तो एकताके आनन्दसे वंचित रह जाना पड़ता है. जैसे चौकमें बैठे हुये आदमी जूनागढ़की जो एकता है उसके दर्शनसे वंचित रह जाते हैं. गिरनार पर चढ़े व्यक्तिको जूनागढ़की एकताका अनुभव हो सकता है लेकिन जूनागढ़में आये हुये अलग अलग मकानोंके चौकोंकी जो अनेकता हैं उन्हें देखनेका आनन्द नहीं मिल सकता. भगवानकी विद्याशक्ति एवं अविद्याशक्ति हमारे भीतर इस प्रकारकी सीमायें खड़ी कर देती हैं. परब्रह्म परमात्मा

पुरुषोत्तम हमें कुछ ऐसी पुष्टिशक्ति दे कि जिसके कारण पुरुषोत्तम एक होनेके उपरान्त अनेक है जो हमें बुद्धिसे भली प्रकार समझमें आये, तत्पश्चात हम परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमका हरेक प्रकारसे आनन्द ले पायेंगे. अतएव प्रभुमें पुष्टिकी जो शक्ति है उसका प्रतिभाव अपने भीतर माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वतोधिक भक्तिके रूपमें प्रकट होता है. उसे पुष्टिभक्ति कहा जाता है. परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम द्वारा हमको दी गई कोई एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तममें अपनी अभेदबुद्धि स्नेहमें बाधक नहीं होती. उसी प्रकार स्नेह अभेदबुद्धिमें बाधक नहीं होता. ऐसी अनोखी भक्ति हमारे भीतर खिल उठती है कि जिस भक्तिके कारण यह नाम–रूप– कर्मके विभाग कैन्सल करे बिना हम परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमका आनन्द ले सकते हैं. यह मुद्देकी बात हमको समझ लेनी चाहिये.

अब यह बात हमें अगर समझमें आये तो गीताका उपदेश बहुतही सरल तरीकेसे समझमें आ सकता है. जूनागढ़के नरसी मेहताने भी ऐसी ही बात कही है कि **जागीने जोऊं तो जगत् दीसे नहीं ऊंघमां अटपटा भोग भासे. चित्त चैतन्य विलास तद्रूप छे ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे.** जागीने अर्थात् विद्यादृष्टि प्रयोग करके देखूं तो जगत दिखता नहीं एवं अविद्याकी नींदमें होऊं तो सारा ही नाम–रूप–कर्मों के भोगोंका भास होता है. अर्थात् गिरनार पर चढूं तो जागता होऊं तब जूनागढ़के मकान इत्यादि नहीं दीखते और चौकमें होऊं तो जैसे नींदमें होऊं तो अटपटा भोग प्रतीत होता है. यहां तलक तो एकबात हुई वहां हमारी जो शुद्धाद्वैतकी बात है वह नहीं आती. लेकिन अगली कड़ीमें नरसी मेहताने अपना शुद्धाद्वैत ही वर्णन किया है.

एक बात जो कि प्रासंगिक नहीं है लेकिन चर्चा आ गई है इसलिये कहनेका मन कर रहा है. पहले मैंने

अभिनवगुप्तका वचन कहा था. उस अभिनवगुप्तका सम्प्रदाय उस समय गुजरातमें भी था एवं महाराष्ट्रमें औरंगाबादके पास दौलताबाद पंढरपुर इत्यादि बहुतसी जगहों पर प्रसिद्ध था. उस अभिनवगुप्तका सम्प्रदाय जो काश्मीरमें से शुरु हुआ, उसका बहुतसा प्रचार इन सब प्रदेशोंमें हुआ था. अभिनव चूंकि शुद्धाद्वैती था उसही कारण नरसीमेहताभी अभिनवकी भाषा बोलते हैं. हमको बहुत बार ऐसा लगता है कि श्रीमहाप्रभुजीका एवं नरसीमेहताका इतना अधिक संबंध कैसे मिलता होगा? इसका मूल कारण यह है कि श्रीमहाप्रभुजीकी दृष्टि वैष्णव शुद्धाद्वैतकी दृष्टि है और अभिनवकी दृष्टि शैव शुद्धाद्वैतकी दृष्टि है. अतएव उसमें अंतर शिवकी अव्यभिचारिणी एवं कृष्णकी अव्यभिचारिणी भक्तिका ही है. शुद्धाद्वैतमें दोनों एकमत हैं. उसीके कारण श्रीमहाप्रभुजीके पचास साल पहले नरसी मेहताको भी यह अभिनवकी दृष्टिके कारण यह सब भाषा बोलनेकी भीतरसे प्रेरणा होती है कि **जागीने जोउं तो.....** यह सब अभिनवके शब्द हैं. हमने गुजरातीमें देखा है अतएव ऐसा लगता है कि नरसीमेहताका काव्य है, लेकिन यह एक एक शब्द अभिनवका अनुवाद है. मात्र इसमें **ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे** यह नरसीमेहताका है. यह अभिनवने नहीं कहा कारणकि खेलकी जो बातें हैं वह नरसीमेहताकी मस्तीकी बात है कि यह तो ब्रह्म ब्रह्मके साथ खेल रहा है. अर्थात् चित्त एवं चैतन्य दोनों, एक जड़ और दूसरा चैतन्य, भगवान द्वारा धारण किये गये दो रूप हैं. अतएव यह तद्विलास तद्रूप खेल ब्रह्म खेल रहा है. इसी कारण अगलीही कड़ीमें कहते हैं कि **शिवथी जीव थयो ए ज आसे.** नरसीमेहता ऐसे कहते हैं कारण कि मूलमें यह तो अभिनवका मत है. और आगे कहते हैं कि **घाट घड़िया पछी नामरूप जूजवा अंते तो हेमनुं हेम भासे.** तो यह सबही बातें अभिनवकी ही बाते हैं.

खैर, **जागीने जोउं तो जगत् दीसे नहीं ऊंघमां अटपटा भोग भासे** इसके बादकी जो कड़ी है वह श्रीमहाप्रभुजीके मतानुकूल है. प्रभु अपनी पुष्टिशक्तिका प्रयोग अपने ऊपर करें तो ही जड़ एवं चैतन्य इन दोनोंके विभाग ब्रह्मभावसे ऐसे छलक जाते हैं कि अलग अलग दामोदर – रेवतीकुंड कुंड जैसे नहीं रह जाते एक एकाकार हो कर लीला छलकता हुआ लीलाका सरोवर बन जाते हैं. पुष्टिशक्ति जो परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमने हमें प्रदान करी हो तो ही यह संभव है; केवल विद्याशक्तिसे अथवा केवल अविद्याशक्तिसे यह अनुभव हमें नहीं मिल सकता. इसीकारण हमारें यहां पुष्टिशक्तिसे प्रकट हुई भक्तिको **पुष्टिभक्ति** कहा जाता है.

आज बहुतसे लोग पुष्टिका अर्थ करते हैं कि लड्डू खाकर मौज मारनेकेलिये जो भक्ति वह पुष्टिभक्ति! यह श्रीमहाप्रभुजीका अर्थ नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीने अर्थ किया है : **परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमकी ऐसी शक्ति कि जिसके कारण उसे हम पूरा अनुभव कर सकें. जैसा है वैसा एवं यह जो लीला प्रकट कर रहा है उस लीलाके अनुभवके साथ.** अर्थात स्वरूप एवं लीला यह दो भेद होते हैं. स्वरूपतः परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम एक है और लीलामें वह अनेक नाम रूप क्रियाएं धारण करता है. सोनेके विविध नामरूपकर्ममें दृष्टि अटक जाती है अथवा सोनेके जैसे उसका मूल्य हम जान नहीं सकें तो वह अविद्याकी शक्ति. तत्व तो केवल सोना ही है उसकारण नामरूपकर्म सब मिथ्या हैं, ऐसा अगर हमें लगे तो वह विद्याशक्ति. अभी पुष्टिशक्तिका लाभ हमें नहीं मिला. पुष्टिशक्ति मिले तो हमें पूरीपूरी बात समझमें आये कि **घाट घडिया पछी नाम रूप जूजवा, अंते तो हेमनुं हेम भासे.** यह दोनों बातोंको जोड़कर देखोगे तो पुष्टिशक्ति क्या है वह समझमें आयेगी. **घाट घडिया पछी नाम रूप जूजवा,** ही अगर मनमें भरे रहेंगे तो वह अविद्याशक्ति; **अंते तो हेमनुं हेम भासे**

इतनाही सीमित भान होता हो तो विद्याशक्ति; और पुष्टिशक्ति अर्थात् **घाट घडिया पछी नाम रूप जूजवा, अंते तो हेमनुं हेम भासे** यह पुष्टिशक्तिका प्रयोग है. यह अपने श्रीमहाप्रभुजीकी दृष्टिसे समझ लेना बहुत जरूरी है कि जिससे विभागकी भक्तिकेलिये अविभागका भान नहीं भूल जायें, और अविभागकी भक्तिकेलिये विभागके भेदको धिक्कारना नहीं; क्योंकि वह श्रीमहाप्रभुजीको अच्छा नहीं लगता.

इसका एक उदाहरण इस प्रकार समझ सकते हैं कि तुम हरिद्वार या मथुरा गये हो; और तुम्हें गंगास्नान अथवा यमुनास्नान करना है, तो तुम क्या करोगे? अब जो कोई एक घाट पर तुम जाओगे तो यह घाट पर स्नान हुवा कि गंगामें स्नान हुवा? मथुरामें विश्रामघाट इत्यादि बहुतसे घाट हैं तो वहां हम घाटका स्नान कि पान करते हैं कि यमुनाका करते हैं? सारी यमुनामें कौन स्नान कर सकता है? सारी यमुनामें स्नान करनेकेलिये यमुनोत्रीमें तुम्हें अपने आपको डालना पड़ेगा और जहां तलक यमुनाजी बहती हों वहां तलक तैरकर जाना तो तुम्हारा सारी यमुनाजीमें स्नान किया, कहलायेगा. इससे पहले तो हम नित्य लीलामें पहुंच जायेंगे, मर जायेंगे. तो स्नान करना हो तो किसी एक घाटके ऊपर ही करना पड़ेगा. यह घाट पकड़ा अर्थात् भेदविभाग आ गया कि घाटके ऊपर स्नान कर रहे हो. दूसरे घाटको क्यों छोड़ दिया? अब दूसरा घाट छूट गया हो और तुम्हें ऐसा लगता हो कि तुमने यमुनास्नान नहीं किया परन्तु मात्र घाटका स्नान किया तो यह अविद्या दृष्टि हो गई. और इन घाटोंके भेदके बाड़ेमें हमें नहीं फंसना है ऐसा करके तुम यमुनोत्रीसे प्रारम्भ करके बहते जाओ, यह अच्छा है लेकिन ऐसा दुनियांमें कोई करता नहीं है. यह मात्र तुम्हारे मनको अच्छी लगती बात है. करनेकेलिये जो कहें तो यह **गजो मिथ्या पलायनमपि मिथ्या** जैसे हो जाता है! अर्थात् एक घाटतो हमें पकड़नाही पड़ेगा. घाट बिना यमुनाजी

– गंगाजीमें स्नान हम नहीं कर सकते. और घाट तो अलग अलग ही होंगे.

मैं बनारस जाता हूं तो गंगास्नान करना मुझे बहुत अच्छा लगता है. और जन्माक्षरमें जलमें ही मरना लिखा है इसलिये कदाचित मुझे नदीमें नहाना बहुत अच्छा लगता हो. कोईभी बहती नदी देखूं तो मुझे उद्दीपनविभाव हो जाता है. लेकिन यह होते हुये भी जब बनारस जाता हूं तो वहां पंचगंगाघाट परही, जहां श्रीमहाप्रभुजीका विवाह हुआ था, स्नान करना भाता है. दूसरे घाटों पर स्नान करना नहीं भाता. तो मैं कोई पंचगंगाघाटमें नहीं नहाता, गंगाजीमें ही नहाता हूं, लेकिन अच्छा लगता है केवल पंचगंगाघाट परही. अब मुझे कोई पूछे कि मणिकर्णिकाघाट या हरिश्चंद्रघाट पर, जहां मुर्दे फूंके जाते हैं वहां क्यों नहाने नहीं जाते? तो मुझे यह चिंता हो जायेगी कि जहां मुर्दे फुंकते हों वहां नहा कर क्या करूंगा? घाट तो यह बहुत अच्छे हैं, लेकिन मुझे वहां नहाना अच्छा नहीं लगता. भले गंगा एक ही है. यह गंगाकी सीमा नहीं है, यह मेरी सीमा है कि जहां मुर्दे फुंकते हों वहां मुझे नहानेमें मजा नहीं आता. मेरी भक्ति पंचगंगाघाट परही है. और जहां मुर्दे धुं धुं करे जलते हों वहां स्नान करनेके बाद किसी समय गंगाजीके ऊपर भावही खंडित हो सकता है? जबकि गंगाजी एक हैं, यह मैं भी जानता हूं और तुम भी समझ सकते हो. यह सब होते हुये भी एक दो बार मैंने इन घाटों पर नहानेका प्रयास किया तो एक दिन धाराके बीचमें कुछ बहता आ रहा था. मैंने देखा तो मुर्दा ही था. मैंने कहा कि मरा! यहां मैं नहाने क्यों आया? मुझे घबराहट हो गई कि गंगाजी तो सब घाटोंपर एकसी हैं परन्तु यह घाट नहानेकेलिये नहीं बने, पंचगंगाघाट अच्छा जहां कि श्रीमहाप्रभुजीका विवाह हुआ.

तो यह मेरा गंगाजीके प्रति अनादरका भाव नहीं था, आदरभाव ही है. लेकिन मेरा यह आदरभाव किसी बनाये घाटपर ही व्यक्तहो रहा है; घाट बिनाकी गंगामें व्यक्त नहीं हो रहा. क्योंकि मैं भी बनाया गया मनुष्य हूं. मैं भी अगर हवा होता तो मैं भी हवाकी तरह गंगाजीके सब घाटोंके ऊपरसे बह जाता. लेकिन घड़ा हुवा हूं अतएव मुझे गंगाजी भी किसी घाट पर घड़ी हुई हों तो ही उस जगह स्नान करनेमें आनन्द देंगी. इसीसे अपने यहां स्वरूपसेवा श्रीमहाप्रभुजीने समझायी है कि तुम कोई एक स्वरूपकी सेवा भक्तिकरो. क्योंकि अनघड़ परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम, जो सबजगह कणकणमें व्याप्त है, उसकी बजाय किसी घड़े हुये घाटवाले परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमकी भक्ति तुम करोगे तो यह तुम अच्छी प्रकार कर सकोगे. डरनेकी इसमें कोई बात नहीं है कि घाट ऊपर घड़े गये परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तमकी भक्ति भक्ति है कि नहीं? कोई तुम्हें उलटा पढ़ाये कि इसमें क्या धरा है? यह तो मूर्ति है, पत्थरकी धातुकी है, तो समझ जाओ कि ऐसा बोलने वालेमें पहली शुष्क विद्याशक्ति बोल रही है; पुष्टिशक्ति नहीं बोल रही. जिनमें पुष्टिशक्ति बोल रही होगी उन्हें पता चल जायेगा कि यह सब बातें बहुत छोटी टुच्ची बातें हैं. इनसे प्रभावित नहीं होना है. अरे! जड़ एवं अजड़ ऐसी जो भेददृष्टि है, इस पुष्टिशक्तिका दान भगवानने तुम्हें किया होगा तो स्फुरेगीही नहीं. परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम जड़ एवं अजड़ दोनोंमें समान रूपसे व्याप्त है. एक शायरने कहा है कि : **कौनसी जहां है जहां मिलते माशूक नहीं. शौके दीदार अगर हो तो नजर पैदा कर..** कहते हैं कि प्रियतमा कहां नहीं मिलती? हरेक जगह मिलेगी. और जो देखनेकी सिफत नहीं है तो कहीं भी नहीं मिलेगी.

मेरेमें जो परमात्माको देखनेकी भक्तिमयी दृष्टि होगी तो जो घड़ा हुआ घाट भी होगा उसमें मुझे परमात्माका

अनुभव हो सकता है. ऐसी भक्ति पुष्टिशक्तिका माहात्म्य है. वह माहात्म्य अपन भली प्रकार समझेंगे तो यह श्लोक हमें अच्छी तरहसे समझमें आयेगा :

ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुर् अव्ययम्

इसमें एक बात समझो कि भगवान किस प्रकारकी भाषाका प्रयोग यहां कर रहे हैं. भगवान कहते हैं कि एक पीपल अथवा बड़के वृक्षका तुम विचार करो, स्वयं परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान कैसा है उसे समझनेकेलिये. और यह पीपल या बड़का वृक्ष ऐसा है कि जिसका मूल ऊपर है और डालियां नीचे हैं. और वह वृक्ष बादमें अव्यय वृक्ष है. उसका कभी नाश नहीं होता. उस वृक्षके पत्ते वेदके एक एक शब्द हैं. जो इस वृक्षको जानता है वह वेदको समझ सकता है. जो इस वृक्षको नहीं जानता वह सारे वेदको घोटकर पी ले तो भी उसका वास्तविक अभिप्राय समझ नहीं सकता. क्योंकि वेद यह हरेक वस्तुका ब्राह्मिक स्वरूप समझनेकेलिये उपायरूप ग्रंथ है. सम्पूर्ण वेदको समझनेके बाद भी हम अगर इस वृक्षको नहीं समझ सके तो हम वेदको भली प्रकार समझनेमें कहीं न कहीं भूल कर बैठेंगे.

इस वृक्षकी शाखायें ऊपर नीचे चारों तरफ फैल गई हैं. और इसमें सत्व–रज–तम गुणोंके कारण डालियां बहुत फैल गई हैं. रूप–रस–गंध–स्पर्श–शब्द एवं पृथ्वी–जल–वायु–तेज–आकाश जैसे विषयोंके छोटे छोटे कोमल पत्ते उस वृक्षमें फूटतेही रहते हैं. किसीभी दिन इसका अंत नहीं आता. ऐसा नहीं मान लेना कि इस वृक्षका मूल ऊपर है तो नीचे नहीं है. बड़को तुम जानते ही हो कि इसमें ऊपरसे जड़ जब नीचे जाती है तब कुछ वर्षोंमें यह भी तना बन जाती है. और हरेक बड़में यह सामर्थ्य रही होती है कि जब जन्मे तब तो यह जड़ होता है लेकिन जमीनमें अच्छी

तरह घुसनेके बाद यह तना बन जाता है. तुम्हें भेद करना कठिन हो जायेगा कि यह पहला तना है कि बादका. क्योंकि बड़े बड़े दो तनें हों तो इसमें निश्चित है कि कोई एक मूल होगा और कोई उसमेंसे निकली हुई जड़. भीतर जानेके बाद जड़ भी तनेका रूप ले लेती है. **अहं ब्रह्मास्मि** साधनाके प्रकारसे इस प्रकार जीवात्माका भी ऐसे ही ब्राह्मिक विस्तार तने जैसा हो जाता है. कितना सुंदर भगवान वर्णन करते हैं कि प्रारम्भमें यह बड़की जड़के रूपमें अपने सामने आई लेकिन अंतमें यह भी वृक्ष ही बन जायेगी. ऐसा वृक्षात्मक विस्तार हरेक बड़की जड़में रहा हुआ है.

जगतके एक एक नाम–रूप–कर्ममें जो तुम्हें लीलाकी अनुभूति जागे तो तुम्हें दिखेगा कि हरेक नाम–रूप–कर्ममें ब्रह्म इस प्रकार पूरेरूपमें विद्यमान है. **पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णम् उच्यते. पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेवावशिष्यते.**. एक डालमें से एक बड़की जड़ उग कर पूरा वृक्ष बन जाती है. बड़की जड़मेंसे तना बनता है अर्थात् पहला मूल तना कमजोर नहीं हो जाता. जैसे कबीरबड़ या मद्रासमें थियोसॉफिक्ल सोसायटीमें एक वृक्ष है उसकी सौ शाखाऐं हैं. सौ बड़की जड़ें तने जितनी मोटी हो गई हैं. हमको तो एक गांवड़ा जैसे लगता है, जो कि यह एक वृक्ष ही है. ऐसे वृक्षमें यह माहात्म्य या गुण होता है जो गुण ब्रह्ममें रहा हुवा है. एकमें से अनेक किस प्रकार होना उसका प्रत्यक्ष उदाहरण वटवृक्ष ही पूरे रूपमें दे सकता है. ऐसा वृक्ष तुम्हारे सामने ऐसेही गौरवसे आता है कि जो गौरव ब्रह्मका है. एक ब्रह्म जैसे अनेकरूप हो सकता है वैसे एक वृक्ष अनेक वृक्षरूप हो सकता है वहींका वहीं. उसकी एकता अनेकतामें बाधक नहीं होती और अनेकता उसकी एकतामें बाधक नहीं होती. भक्तिकी दृष्टिसे जो पुरुषोत्तमका ज्ञान हमें देना हो तो उसकेलिये सबसे अच्छा उदाहरण वटवृक्ष पूरे रूपमें देता है ऐसा भगवतगीता कहती है.

अब देखो एकतो यह श्रीमहाप्रभुजीकी दृष्टि और दूसरे चिंतक आचार्योंकी दृष्टिका अंतर. तुम सुनोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि दूसरे बहुतसे आचार्य यहीं घबरा गये कि भगवान् क्या कहना चाह रहे हैं यहां? इसका कारण समझो कि आगे जाकर भगवान ऐसा कहेंगे कि **अश्वत्थम् एनं सुविरूढमूलम् असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा** अर्थात् इस अश्वत्थ वृक्षको तुम्हें काटना है. अतएव बहुतोंको लगता है कि काटनेका है तो ब्रह्म कैसे हो सकता है? क्योंकि ब्रह्मको तो काटाही नहीं जा सकता. इसलिये कितनेही लोग कहते हैं कि यह अश्वत्थ ब्रह्म नहीं माया है. भगवान भी बहुत चतुर हैं क्योंकि यह वृक्ष माया हो तो भगवानने **यस्तं वेद स वेदवित्** न कहा होता. वेदोपनिषदोंके ज्ञानसे तो माया निवृत्त होती है और यहां अश्वत्थके ज्ञानसे तो वेदका सच्चा ज्ञान हो रहा है. इसलिये यह अश्वत्थ अगर माया हो तो **इस अश्वत्थको जाननेवाला ठीक प्रकारसे वेदको समझा** ऐसा अर्थघटन हो ही नहीं सकता. इसके बाद इस अश्वत्थको भगवान अव्यय कह रहे हैं कि इसका किसीभी दिन नाशभी नहीं होना वाला. तो नाश ही न होना है तो इसका छेदन किस प्रकार हो सकता है? संस्कृतमें एक कहावत है कि **उपलादिषु प्रयुक्त क्षुर तैक्ष्ण्यवत् कुण्ठीभावम् आप्नोति** अर्थात् पत्थरके ऊपर अगर हम तलवार चलायगें तो पत्थर नहीं टूटेगा लेकिन तलवार टूट जायेगी. ऐसे जो अव्यय है उसका कुठारसे छेदन किसप्रकार हो सकता है? जो कुठारसे छेदन हो सकता हो तो यह अव्यय रह नहीं सकता. भगवानने एक ही समय दो विभाग यहां दिखा दिये हैं कि इसका छेदन हो सकता है और यह अव्यय भी है. अब विद्याशक्ति एवं अविद्याशक्ति प्रयोग करके इसका अर्थ करें तो बादमें चौकमें हों तो जूनागढ़ नहीं दिखता और गिरनारके ऊपर चढ़कर देखें तो चौक नहीं दिखाई देता, लेकिन पुष्टिभक्तिके एक हेलिकॉप्टरकी हमें जरूरत है जो

श्रीमहाप्रभुजीने हमें दिया है. उसके द्वारा हमें दिखाई देगा कि सारा जूनागढ़ भी नीचे है और हवेलीका चौक भी नीचे है. यह ही ब्रह्म अव्यय भी है और इस ही ब्रह्मके अश्वत्थवृक्षको तुम छेद भी सकते हो. यह दोनों रूप धारण करनेवाला कौन है?

उदाहरणके तौर पर एक बात समझो कि कंस, रावण, शिशुपाल इत्यादि जिन महाअसुरोंका शास्त्रमें वर्णन आया है, यह असुर भगवानके द्वारपाल हैं. जैसे भगवान नित्यलीलाविहारी वैसे ही यह द्वारपाल भी नित्यलीलाविहारी हैं. एक ऋषिके अपराधके कारण कि उन्होंने उनको रोक दिया था क्यों ऐसा खूंखार श्राप भोगना पड़े! जाओ भूतलपर गिरो और असुर बन जाओ? अरे सोचो कि दे भी दिया तो क्या भगवान इसे कैन्सल नहीं कर सकते? जो कैन्सल नहीं कर सकते तो भगवान सर्वसमर्थ हैं ही नहीं, ऋषि सर्वसमर्थ हो गये! लेकिन भगवानको तो विविध विविध निमित्तोंसे लीला करनी है. अतएव भगवान कहते हैं **अच्छा, तुम जाओ और मैं भी आ जाऊंगा. अभी तुम्हें ऋषि भूतल पर असुर बनाकर भेज रहे हैं तो मैं तुम्हारा मुक्तिदाता बन कर आ जाऊंगा.** तो ऋषियोंने यह जो द्वारपालोंको श्राप दिया तो यह लीला नहीं तो दूसरा क्या है?

शान्त चित्तसे विचारो कि द्वारपाल किसलिये होता है? कल यहीं जूनागढ़में ही एक भाईने मुझे दिव्यज्ञान दिया. **बालक लोग गांवोंमें पधरावनी करते हैं और पधारकर पौढ़ जाते हैं! बादमें हम कहते हैं कि कुछ उपदेश करो तो कहते हैं कि परिश्रम हुवा है उसके कारण पौढ़ रहे हैं!** पौढ़ो भाई पौढ़ो! पौढ़वेकी कौन ना करता है? चरणस्पर्श देने, भेंट लेनेकेलिये बादमें जाग जाते हैं. यह कार्यक्रम पूरा होते ही फिरसे पौढ़ जाते हें और उसके बाद फिर जागते ही नहीं! अब सोचो कि अपने किसी सगे संबंधीको हम हॉस्पिटल ले

जायें इलाजकेलिये और हॉस्पिटल वाला कहे कि डॉक्टर सो रहा है तो उसके बाद जायें तो जायें कहां?

उनके कथनानुसार यह तो सामान्य बात है. उससे भी बढ़कर अनुभवकी बात है. जो मुख्य बात उसने मुझे कही कि यह कि दोचार जानकार वैष्णव होते हैं उनको ही भीतर घुसनेकी छूट होती है! अब यह द्वारपाल जयविजय जैसे हुये कि नहीं? बालकको किसी भी दिन परिश्रम होने ही नहीं देते. यह परिश्रम न होने दें उसके कारण बहुतसे वैष्णव असुर हो जाते हैं. पुष्टिमार्गको छोड़कर अपने मार्गके प्रतिस्पर्धी पंथोंमें घुस जाते हैं. बालक सोते ही रहें तो वैष्णव बिचारे वहां जायें कि नहीं कि जहां उनको जाग्रत उपदेश मिलते हों. सोये हुयेकी बाट मनुष्य एकाद दिन देखता है लेकिन यहां तो जब पधारें तब ही **कृपानाथ पौढ़ी रह्या है!** ऐसा होता ही रहता है तो दूसरा जो जागता हो उसके पास नहीं जाये तो क्या करें? पुष्टिमार्गमेंसे बाहर निकल जाते हैं.

यह विलक्षण लीला है कि जिस लीलाके कारण भगवानने ऐसा नहीं कहा कि मैं पौढ़ा ही रहूंगा. भगवानने कहा **अच्छा भाई, यह लीला हो गई जिसके कारण इन जय विजयको असुर होना पड़ा तो मैं भी आता हूं, अब मैं पौढ़ता नहीं.** अतएव भगवानने मुक्त करनेकेलिये आनेका विचार करके बादमें एक लीला तो रची न! अतएव श्रीमहाप्रभुजी बहुत सुंदर कहते हैं – **हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे. ये निरुद्धास्तएवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्..** श्रीकृष्ण किसीको बंधनकेलिये मुक्त करते हैं और किसीको मुक्त करनेकेलिये बांध लेते हैं. लीलाका एक प्रकार ऐसा भी है. जयविजयको मुक्त करनेकेलिये आसुरभावसे बांधनेमें आया. यह कोई असुर नहीं थे. यह तो भगवानके खास व्यक्तिगत द्वारपाल थे. लेकिन भगवानको लीला करनी थी, पौढ़ते ही नहीं रहना! पौढ़ते ही रहना होता तो कह देते कि **जाय तो जाय ! दूसरा द्वारपाल**

रख लूंगा. इसमें क्या अन्तर पड़ता है? भगवानने अवश्य विचार किया होगा कि नहीं ऐसे नहीं चलेगा, लीला ऐसे नहीं चलेगी. लीलामें तो दोनो पहलू होने चाहियें. अर्थात् भगवानके पौढ़े होनेके कारण जयविजयने ऋषिको रोका, और उस कारण अगर वह दोनों असुररूप लेकर भूतल पर फेंक दिये जाते हैं तो उनका उद्धार करनेकेलिये भगवान भी बादमें नृसिंहरूपसे, रामरूपसे, कृष्णरूप इन विविध रूपोंमें प्रकट हुये और उद्धार किया. तो इनको मुक्त करनेकेलिये बंधनमें डाला गया. किसीको बंधनमें डालनेकेलिये मुक्त करनेमें आता है. जैसे आज व्यापारिक भगतीकी नौटंकीकेलिये भोग धरी हुई सामग्रीके थालको ठाकुरजी लात मारके फेंक नहीं देते. चौरासी दोसौवावन वैष्णवोंके ऊपर गुस्सेसे ऐसी लीला प्रकट जनाई थी. क्योंकि ठाकुरजी इनको अपने साथ बांधकर रखना चाहते थे. आधुनिक पुष्टिमार्गीयोंको ऐसे बंधनोसे मुक्ति देना चाहते होंगे? इसका रहस्य **हरिणा ये विनिर्मुक्ता ते मग्ना भवसागरे** वचनमें श्रीमहाप्रभुजीने प्रकट कर दिया है. ऐसी प्रभुकी लीला होती है. इस लीलाका स्वरूप भली प्रकारसे हमें समझना होगा.

अब इसे अच्छी प्रकार समझें तो हमें विचार आयेगा कि इसमें भगवानभी जन्मे. अजन्मा किस प्रकार जन्म ले सकता है? इसमें तो भगवान जन्मे और जन्म लेकर केवल निर्विकार ही रह गये ऐसा नहीं लेकिन बड़े भी हुये. कृष्णलीला पढ़ो, रामलीला पढ़ो. हमें पता चलेगा कि छोटे थे तब घुटुरुन चलनेका रूपभी इनका था. बादमें बड़े हुये और बड़े होनेके बाद कुछ न कुछ ऐसे ही हेतुओंकी लीला प्रदर्शित करनेके बाद वैकुण्ठ भी पधारे. तो यह सब अजन्माकी जन्म लेनेकी जो लीला है इसमें मायाको खोजना यह अविद्याशक्ति द्वारा प्रदत्त मनोवृत्ति है. इसमें माया नहीं, इसमें भगवानकी अपनी दिव्यलीलाशक्ति है. अतएव भगवान यहां गीतामें आज्ञा करते

हैं कि – **जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः. त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेति मामेति सोऽर्जुन..** मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं. किसीके आधीन मैं जन्मता नहीं **संभवाम्यात्ममायया** जहां जहां शास्त्रमें मायाको लेकर भगवानके जन्मका उल्लेख आया है तो वह माया पहली वंचनावाली माया नहीं लेकिन प्रभुकी आत्ममाया समझनी. वह तो भगवानकी स्वयं दिव्यशक्ति है **प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया** मेरी प्रकृतिको मेरे वशमें रखकर मैं जन्म लेता हूं और भूतल पर लीला करता हूं. मेरी प्रकृतिके वश होकर मैं लीला नहीं करता. प्रकृतिके वश होकर कोई काम करना और प्रकृतिको वशमें रखकर कोई करनेमें बहुत अंतर होता है.

एक बहुत प्रसिद्ध मजाककी बात प्रचलित है. व्रजके पास भरतपुरराज्यमें पुराने जमानेमें प्रत्येक बातको दो दो बार बोलनेकी कोई प्रथा अथवा आदत थी. जैसे कारज–वारज, स्टेशन–वेशन. ऐसा किसी अंग्रेजने सुना. उसने भरतपुरके राजासे पूछा कि इसका कारण क्या? तो भरतपुरके राजाने कहा कि सब ऐसे नहीं बोलते, कोई गंवारसंवार ही ऐसे बोलता होगा? अब इसका क्या उपाय करना? लो तो अब इससे क्या समझना? अब राजाकी इस पंक्तिका अर्थ किस प्रकार समझना? अर्थात् प्रकृतिके आधीन होनेके कारण ऐसा बोला गया. प्रकृतिको आधीनकरके मनुष्य ऐसा नहीं बोल सकता. भरतपुरके रहनेवालोंकी जो प्रकृति थी उसके आधीन राजासे भी ऐसा ही बोला गया.

अतएव ऐसे प्रकृतिको स्वाधीन करके जन्म लेना और प्रकृतिके आधीन होकर जन्म लेना यह अलग अलग कथा हैं. एक बात समझो कि हमारे हिन्दुस्तानमें तो सबही जानते हैं कि हम अपने कर्मबंधनोंके आधीन होकर जन्म लेते हैं. हम कर्मको वशमें रखकर जन्म नहीं ले सकते. इस कारण अपना जन्म दिव्य नहीं होता. हमारा जन्म सांसारिक जन्म है. जैसा

कि शायर कहता है कि **लाई हयात आये, कजा ले चली चले, अपनी खुशी न आये न अपनी खुशी चले.** जन्मके कारण हम भूतल पर आ गये. किसीने हमसे पूछा नहीं था कि तुम्हें भूतल पर जाना है कि नहीं. अब मृत्यु हमें ले जाती है वह भी हमसे पूछ कर नहीं ले जाती कि **भाई अब चलना है? बहुत साल जी लिये!** उठाकर ले जाती है. आये तब अपनी खुशीसे नहीं आये थे और जा रहे हैं तो भी अपनी खुशीसे नहीं जा रहे. रोते आये और रोते ही गये. इसका नाम दिव्यताका अभाव. यह लौकिकता है.

भगवानका कोईभी जन्म इस प्रकार नहीं होता. भगवान कहते हैं कि **मेरे जन्म कर्मके साथ तुम तुम्हारे जन्म कर्मकी बराबरी मत करो. जो तुम इतनीसी बात अच्छी तरह समझ जाओगे तो तुम्हाराभी पुनर्जन्म नहीं होगा.** कितनी गजबकी बात भगवानने कह दी. और आगे भी कहते हैं **तो तुम मुझे प्राप्त कर लोगे.** क्योंकि तब तुम्हें पता चलेगा कि इस जगतमें जन्म मृत्यु पानेवालोंके एवं अजन्मा अमरोंके जो विभाग हैं यह दोनों विभागों रूपी पलड़ोको तोलनेवाला कोई एक पुरुषोत्तमरूपी कांटा है. जो कांटा जन्मादि सभी लीला **अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्** वचनानुसार अजायमान होते हुये भी बहुत सारी रीतियोंसे कर रहा है. अतएव जन्मता है अपनी इच्छासे, अपनी लीलासे जन्मता है. यह कर्म बन्धनसे नहीं जन्मता. अतएव इसका अव्ययत्व है और छेदन भी किया जा सकता है. यह दोनों हम देखते हैं कि व्याधने श्रीठाकुरजीके चरणार्विन्दमें तीर मारा लेकिन तीर किस कारण मारा यह कथा समझो कि भगवानने इसे वरदान दिया था. क्योंकि **मैं बैरी सुग्रीव पियारा. कारण कवन नाथ मोहि मारा?** यह बालीने बहुत बड़ा प्रश्न कर दिया था. मैंने आपका क्या गुनाह किया? मैंने तो सुग्रीवका गुनाह किया था, मैंने आपका तो गुनाह नहीं किया था तो आपने मुझे

चुपचाप क्यों मार दिया? भगवान कहते हैं अच्छा भाई कोई तकलीफ नहीं. इसका तुझे अगर बुरा लग रहा है तो तू भी मुझे इसी प्रकार छिप कर मार देना. यह लीला है. कोई हमें इस प्रकार कह सकता है? हम सबको तीर मारदें लेकिन हमें कोई तीर मारे यह हमें अच्छा नहीं लगेगा. कच्छी भाषामें ऐसे कहा जाता है **आऊं मडे च्वां मके कोई चे तो रडी प्वां** मैं सबको कहूं लेकिन कोई मुझे कुछ कहे तो मुझे रोना आता है. अरे! तू सबको कहे तो कोई तुझे भी तो कुछ कहेगा कि नहीं? ना, ये नहीं चलेगा. लीला इस प्रकार नहीं चलती. लीलामें तो **खेलनमें को काको गुसैयां** अर्थात् खेलनेमें कोई गुसांई नहीं रह जाता, सब एकसे. तो इस भावको स्पष्ट समझना चाहिये. खेलनेमें खेलकी भावना प्रभुमें है. इसीलिये प्रभुने कहा कि **हां मैंने तेरे तीर मारा और तुझे ऐसा लग रहा है कि मैंने कुछ अनुचित किया है, तो अब तू मुझे तीर मार लेना** यह जो तीर प्रभुने खाया है वह कोई कर्मबन्धनसे नहीं खाया. **कोई मूर्ख ही जो प्रभुके स्वरूपको नहीं समझता होगा, तोही वह कहेगा कि भगवानको भी कर्मबंधनके कारण तीर खाना पड़ा!** भगवानने इसे वरदान दिया था कि तू मुझे तीर मारना. उसे श्राप भी नहीं दिया, वरदान दिया है. तुलसीको भी भगवानने वरदानही दिया था. जबकि तुलसीने तो भगवानको श्राप दिया था कि भगवान पत्थर जैसे हो जाओ. भगवानने उसे वरदान दिया कि तो तुम पत्ता जैसी हो जाओ; और हम साथ तो रहेंगे ही. लीला इसका नाम है. मस्ती इसका नाम है. इसमें भगवान कुछ नाराज नहीं हुये. इसमें नाराज होने जैसी चीज कुछ है ही नहीं. उसी कारण – **अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी. लेभे गतिं धा युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम..** मारनेकेलिये आई पूतनाको ऐसी गति दी यह तो प्रभुकी दयालुताका प्रकट करनेकी लीला है.

जन्ममरणके भेदको जितनी गंभीरतासे हम लेते हैं वह हमारी विभागोंमें अटकी हुई चाक्षुषदृष्टि है. उसकेलिये भागवतकार कहते हैं – **मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छत्. त्वत्पादाब्जं प्राप्य यद्रच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्माद् अपैति.**. जिसको भगवच्चरण प्राप्त हो जाते हैं वह मनुष्य मरता नहीं. यह तो रात आने पर मनुष्य जैसे सो जाता है वैसे सोता ही है. पतिदेव सोते होते हैं तो उसमें रोनेकी कोई बात नहीं होती, छाती पीटनेकी नहीं होती कि हाय हाय अब मेरे पतिको नींद आ गई! रातमें सो जाता है और सुबह फिर जाग जाता है. ऐसे ही जिसे भगवच्चरणार्विन्द प्राप्त होते हैं उनको यह बात समझमें आती है. शास्त्रमें भगवच्चरणार्विन्दको भक्तिरूप कहनेमें आया है. तो भक्तिरूप भगवच्चरणार्विन्द जिसे प्राप्त होते हैं उनकेलिये मृत्यु एक नींद और जन्म सुबह जागनेसे अधिक महत्व नहीं रखती. इनको ऐसा लगता है कि आज नींद आ गई कल फिरसे जागूंगा, फिरसे आ जाऊंगा, सेवा करनेकेलिये फिरसे आ जाऊंगा. तीर खाना होगा तो वह भी खालूंगा. फिरसे आ जाऊंगा लड़ाई करने. अरे! कैसा लफड़ा है? गीतामें भी यह ही कहा है – **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरो पराणि.** यहां तो कपड़े भी बदलनेकी जरूरत नहीं है. सोये और थोड़ी देर बाद जग गये. **सिरहाने बोलिये आहिस्ता मीर के अभी टुक रोते रोते सो गया.** हमारा सोया हुआ है और थोड़ी देरमें जाग जायेगा. ऐसी सरलता एवं सहजतासे भक्त मृत्यु और जन्मको लेते हैं.

अतएव छेदनसे घबरा जाना यह वृत्ति श्रीमहाप्रभुजीकी नहीं है. यह श्रीमहाप्रभुजी यहां हमें समझाते हैं. इसको लेकरही श्रीपुरुषोत्तमजीका यहां अतिसुंदर श्लोक है कि – **स्वरूपज्ञानरहिता भक्तिः नैवोपयुज्यते. पुरुषोत्तमरूपं तु ततः पंचदशेऽवदन्**.. जिस स्वरूपकी तुम भक्ति कर रहे हो इसे

तुम पहचान ही नहीं सके तो भक्ति करनेमें भी तुम्हें कुछ न कुछ लफड़ा होगा. अतएव जिसकी तुम भक्ति कर रहे हो उसे तुम थोड़ीतो अच्छी तरह पहचान जाओ. इसकेलिये ही श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि **ज्ञात्वा पाने महान् रसः** जो तुमको पिलानेमें आ रहा है उसे तुम समझ जाओ कि कैसा दिव्य रस तुमको पिलानेमें आ रहा है तो तुम्हें पता चलेगा कि कितने प्रकारके घूंट तुम्हारे गलेके नीचे उतरने हैं. इसको समझानेकेलिये ही पुरुषोत्तमने अपना स्वरूप अपने मुखार्विन्दसे इस पंद्रहवें अध्यायमें वर्णित किया है.

000000000000

।।1. पुरुषोत्तमके मुखारविन्दसे स्रावित पुरुषोत्तमयोग।।

स्वमुखारविन्द द्वारा तदादेश शैलीमें विरुद्धधर्माश्रयी पुरुषोत्तमका निरूपणः

ऊर्ध्वमूलमधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य **पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।1।। अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य** शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः। अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।2।। न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा। अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण द्रढेन छित्त्वा।।3।। ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं **प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।4।। निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्याः विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः** सुखदुःखसंज्ञैः गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।5।। न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद् गत्वा न निवर्तन्ते **तद्धाम परमं मम।।6।।**

श्लोकपदान्वयार्थ :

ऊर्ध्वमूलम् = जिनकी जड़े ऊंचे पुरुषोत्तममें हों; **अधःशाखम्** = जिनकी शाखायें नीचे फैली हुई हों; **अश्वत्थं** = पीपल अथवा बड़के वृक्षको; **अव्ययम्** = अविनाशी; **प्राहुः** = कहा गया है. **यस्य** = जिसकी; **पर्णानि** = पत्ते; **छन्दांसि =** स्वयं वेद हैं; **तम्** = **उस वृक्षको; यः** = जो व्यक्ति**; वेद** = अच्छी तरह जान जाता है; **सः** = वह**; वेदवित्** = वेदोंके वास्तविक तात्पर्यको जानने वाला है।।**1।।**

तस्य = उस वृक्षकी; **गुणप्रवृद्धा** = सत्व–रज–तम गुणोंके कारण बढ़ीहुई; **विषयप्रवालाः** = विषयभोगरूप कोंपलवाली; **शाखाः** = देव–दानव–मानव, पशु–पक्षी इत्यादि योनिरूप डालियां; **अधः** = नीचे; **च =** और; **ऊर्ध्वम् =** ऊपर

बढ़ती; **प्रसृताः** = फैलीहुई हैं; **मनुष्यलोके** = मनुष्ययोनिमें; **कर्मानुबन्धीनि** = कर्मानुसार बंधा हुवा; **मूलानि** = अहंता–ममता एवं वासना रूपी जड़े; **अपि** = भी; **अधः** = नीचे; **च** = और; **ऊर्ध्वम्** = ऊपर; **अनुसंततानि** = सब लोकोंमें व्याप्त हैं ।।2।।

अस्य = इस वृक्षका; **रूपम्** = स्वरूप (जैसा कहा गया है); **तथा** = वैसा; **इह** = यहां; **न उपलभ्यते** = मिलता नहीं है; **(यतः)** = कारण कि; **न** = न (तो इसका); **आदि** = आदि है; **च** = और; **न** = न; **अन्तः** = अन्त है; **च** = तथा; **न** = न; **संप्रतिष्ठा** = अच्छीतरह अवस्थितही जाना जाता है; **(यतः)** = इसकारण; **ऐनम्** = इसको; **सुविरूढमूलम्** = अंहताममता अथवा वासनारूपी बहुत दृढ़ जड़ोवाले; **अश्वत्थम्** = पीपल या बड़के पेड़को; **द्रढेन** = द्रढतासे; **असंगशस्त्रेण** = वैराग्यरूपी शस्त्रसे; **छित्त्वा** = काटकर ।।3।।

ततः = अतएव; **तत्** = वह; **पदं** = परमपदरूप परमेश्वरको; **परिमार्गितव्यं** = भलीप्रकारसे खोजना चाहिये (जिससे); **यस्मिन्** = जिसमें; **गताः** = गये हुये पुरुष; **भूयः** = फिरसे; **न निवर्तन्ति** = संसारमें फिर नहीं आते; **च** = और; **यतः** = जिस परमेश्वरसे; **पुराणी** = पुरातन; **प्रवृत्तिः** = संसारवृक्षकी प्रवृत्ति; **प्रसृता** = विस्तारको पाती है; **तम्** = वह; **एव** = ही; **आद्यम्** = आदि; **पुरुषम्** = पुरुष नारायणकी; **प्रपद्ये** = मैं शरण जाता हूं (इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके)।।4।।

निर्मानमोहाः = जिनका मानमोह नष्ट हो गया है (तथा); **जितसंगदोषा** = जिन्होंने आसक्तिरूप दोषों पर विजय पाली है (और); **अध्यात्मनित्याः** = जो परमात्माके स्वरूपमें निरन्तर अवस्थित हैं (तथा); **विनिवृत्तकामाः** = सारी कामनायें सम्पूर्णप्रकारसे जिनकी नष्ट हो गई हैं ऐसोंके; **सुखदुःखसंज्ञैः** = सुखदुःख नामके; **द्वन्द्वैः** = द्वन्दोंसे; **विमुक्ताः** = विमुक्त हुये;

अमूढ़ाः = ज्ञानीजन; **तत्** = उस; **अव्ययम्** = अविनाशी; **पदम्** = परमपदको; **गच्छन्ति** = पाते हैं।।5।।

तत् = वो (स्वतःप्रकाशित परमपदको); **न** = न तो; **सूर्यः** = सूर्य; **भासयते** = प्रकाशित कर सकता है; **न** = न; **शशांकः** = चन्द्रमा ही; **न** = न ही; **पावकः** = अग्निभी **(भासयते** = प्रकाशित कर सकती **है**) (तथा); **यत् =** जिस परमपदको; **गत्वा** = पाकर (मनुष्य)**; न निवर्तन्ते** = फिरसे संसारमें नहीं आते; **तत्** = वैसा; **मम** = मेरा; **परम** = परम; **धाम** = धाम है।।6।।

अश्वत्थ भी और अव्यय भी!

ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुः अव्ययम् इस श्लोकमें परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्णका तदादेशरूप वर्णन करनेमें आ रहा है वह हमने देखा. प्रथम दृष्टिमें विरोधाभासी दिखते इन विधानोंका सरल प्राथमिक स्पष्टीकरण श्रीमहाप्रभुजीके शब्दोंमें ऐसे दिया जा सकता है – **इस जगतको ब्रह्मरूप जानलेना अच्छी बात है परन्तु मजा (आनन्द) तो उस ब्रह्मका ही लेना चाहिये, जागतिक नाम–रूप–कर्म का नहीं.**

अश्वत्थ शब्दके बारेमें एक स्पष्टीकरण मुझे करना है कि शब्दकोशमें **अश्वत्थ** शब्दका अर्थ पीपलका वृक्ष है. तो भी यहां पीपलका वृक्ष अर्थ स्वीकारनेमें चित्र स्पष्ट नहीं होता. जब कि कुछ टीकाकारोंनें ऐसा अर्थ लिया है तो भी. मूलमें समझनेकी बात है कि वेद स्वयं **अश्वत्थ** शब्दकी व्युत्पत्ति **अश्वः तिष्ठति अस्मिन् इति अश्वत्थः** इस प्रकार देता है. जिस वृक्षके नीचे घोड़ा तिष्ठति = खड़ा हुआ उसका नाम अश्वत्थ. इस पीपलके वृक्षको अश्वत्थ किसलिये कहते हैं इसकी कोई आख्यायिका है कि अश्वरूप होकर पीपलके वृक्षके नीचे अग्निदेव खड़े रहे अतएव पीपलका नाम अश्वत्थ पड़ा लेकिन

टीकाकार उस अर्थको यहां नहीं ले रहे. **श्वः तिष्ठति इति श्वत्थः, न श्वः तिष्ठति इति अश्वत्थः.** आज हो और कल न हो. आज जिस रूपमें है वह रूप कल न हो. अर्थात् नित्य नये नये रूप जो धारण करता हो उसे यहां अश्वत्थ कहा जा रहा है. पहले रूढ़ अर्थमें नहीं लेकिन यौगिक अर्थमें कहा जा रहा है आपलोगोंको स्पष्ट हुआ होगा.

रूढ़ अर्थ अर्थात् शब्दकोशमें जो अर्थ दिया गया हो वह रूढ़ अर्थ. और यौगिक अर्थ अर्थात् जोड़कर जो घड़नेमें आये वह. जिस प्रकार भूत शब्द चालू अर्थमें भूत, प्रेत, पिशाच इस अर्थमें प्रयोग किया जाता है लेकिन उस कारण हर स्थान पर भूतका अर्थ भूत, प्रेत, पिशाच ऐसा नहीं होता. भूत अर्थात् जो हो चुका है, जो विद्यमान है अथवा विद्यमान था उस वस्तुको भूत कहा जाता है. यह अर्थ यौगिक हुवा. **भवति इति भूतं अथवा अभवद् इति भूतं.** उसी प्रकार अश्वत्थ शब्द भी यहां परिवर्तनशीलके अर्थमें लेनेमें आया है. तो अब **ऊर्ध्वमूलधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुः अव्ययम्**का अर्थ हमें इस प्रकार समझना है कि कोई एक वृक्ष ऐसा है कि जो अश्वत्थ है. अर्थात् प्रतिक्षण परिवर्तनशील होते हुये भी अव्यय भी है, जिसमें कोईभी परिवर्तन नहीं होता. जैसा है वैसाका वैसा ही रहता है. ऐसा विरुद्धधर्माश्रयवाला कोई एक वृक्ष है कि जो बदलता रहता है और नहीं भी बदलता. इस प्रकार परस्पर विरोधी गुण धर्मोंका आश्रयरूप ईश्वरका स्वरूप वेदमें, उपनिषदमें पद पद पर किया गया है. यह एक नहीं लेकिन सबही स्थानों पर ईश्वरके स्वरूपका इसही प्रकार वर्णन करनेमें आया है.

ऐषहि देव प्र दिशोऽनु सर्वाः. पूर्वो हि जातः स उ गर्भे अन्तः.. स विजायमानः स जनिष्यमाणः. प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठति सर्वतोमुखः. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो. विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्. सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः. द्यावापृथिवी जनयन्

देव एकः. अर्थात् एक देवका सब चारों तरफ फैलाव यह जगत है. सबके बीचमें जो देव है. जो सबसे पहले हुवा था और जो अभीभी गर्भमें रहा हुवा है. जो हो रहा है और जो होता रहेगा. वह अन्तर्मुख होते हुये भी सर्वतोमुख है. सब स्थानोंपर इसकी आंख, मुख, हाथ और पग हैं. कणकणमें यह स्थित है. स्वयंके बाहुबलपर इसने सबको धारण किया हुवा है. पृथ्वी आकाशका जनक वह देव स्वयं है. इतना ही नहीं, वेद तो यहां तलक कहते हैं – **परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः. परि लोकान् परि दिशः परि सुवः. परीत्य लोकान् परीत्य भूतानि. परीत्य सर्वा प्रदिशो दिशश्च. प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य आत्मना आत्मानम् अभिसंबभूव.** प्रत्येक प्रत्येक वस्तुमें यह समाया हुवा है. प्रत्येक दिशामें यह विद्यमान है. जो कुछ है वह प्रथम इस प्रजापतिमें उत्पन्न हुवा और वह ही स्वयं स्वयंको प्रकट कर रहा है. **यस्मात् परं नापरमस्ति किंचित्. यस्माद् न अणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्.** जिससे पर कोई नहीं है, जिससे छोटी वस्तु कुछ भी नहीं है कि जिससे बड़ी वस्तु कुछ भी नहीं है. **वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठति. एकः तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्.** अर्थात् जो वृक्षकी तरह स्थित है. स्तब्ध अर्थात् इसको कोई हिला नहीं सकता. पुरुषसूक्तमें भी इसकेलिये ऐसा कहनेमें आता है – **सह शीर्षाः पुरुषः सह क्षः सह पात्. ...एतावानस्य महिमा अतो ज्यायान्श्च पुरुषः.** अर्थात् वह पुरुष हजार मस्तकवाला है. अब हजार मस्तकवाला हो और हजार आंखोवाला हो तो क्या वह काना है? परन्तु यहां हजार संख्याके अर्थमें नहीं है परन्तु अनंतताके अर्थमें है. प्रत्येक जगह इसका मस्तक है, प्रत्येक जगह इसकी आंख है, पैर हैं, कान है. अर्थात् यह सब स्थानोंपर विद्यमान है और जो कुछ हो गया और जो कुछ होनेका है वह, वह स्वयं ही है. यह सब इसकी महिमा है. महिमा अर्थात् इसका विस्तार

है. जगत जो कुछ है वह इसका विस्तार है. बीजरूप यह है और जगत इसका वृक्षरूप है.

तो जब परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका इस प्रकार वर्णन करनेमें आया है उसकेलिये उत्तमोत्तम कुछ उपमा हो तो वह बड़की ही हो सकती है. क्योंकि दूसरे वृक्ष स्वयंके बीजके माध्यमसे एकसे अनेक हो सकते हैं लेकिन स्वयं एकसे अनेक नहीं हो सकते. ऐसे तो एकसे अनेक होनेकी सामर्थ्य हमारे अन्दर भी है. जैसे, मांबाप दो होते हैं; और सरकार भले ही रोती रहे लेकिन कम बालगोपाल हम करते ही नहीं. मांबाप बच्चे उत्पन्न करते ही रहते हैं. तो यह सामर्थ्य तो हमारेमें भी है. लेकिन स्वयं एकसे अनेक होनेकी सामर्थ्य नहीं होती. हमलोगोंमें भी कितने ही बालक ऐसी भ्रमणामें रहते हैं कि हम पुरुषोत्तम हैं. लेकिन एक बालकको जाकर विनती करो कि अगर आप पुरुषोत्तम हो तो एकसे अनेक होकर दिखाओ न!

जब प्रभु अयोध्यामें पधारे तो वहां के राजाके और ब्राह्मणके यहां दोनोंके घर एक समय ही पधारे. ऐसे नहीं कहा कि आज तो तुम्हारे यहां पधारूंगा और कल उसके यहां जाऊंगा. प्रभु एक साथ दो रूप धारण करके पधारे उसका नाम पुरुषोत्तम. पुरुषोत्तमकी परिभाषा यह ही कि जो एक होते हुये भी अनेक हो जाये और अनेक होनेके बाद भी उसका एकत्व खंडित न हो. इस कारण पुरुषोत्तम होनेकी आत्मभ्रमणा केवल रखनेसे हम पुरुषोत्तम नहीं बन जाते. वास्तविक पुरुषोत्तम हो तो ऐसी सामर्थ्य प्रकट दिखाओ. भगवानने एक प्रसंगमें नहीं, भागवतमें अनेक प्रसंगोंमें अपने पुरुषोत्तमत्वकी सामर्थ्य दिखाई ही है. व्रजलीलामें, मथुरालीलामें और द्वारिकालीलामें भी. बाकी वास्तवमें तो भागवतके वर्णनका कोई मूलभूत सार है तो वह यह ही कि एक परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अनेक किस प्रकार होते हैं. इस बात पर ध्यान दोगे तो समझमें आयेगी कि सारी भागवतका संदेश यह

है कि यह एक होते हुये भी अनेक हो सकता है. और यही पुरुषोत्तमत्व है. अपनेमें पुरुषोत्तमत्व नहीं है इसका कारण यही है कि हम एक हैं लेकिन जो अनेक होने जायें तो इसमें एकत्व जान नहीं सकते. अर्थात् पिता स्वयं एकसे अनेक संततिरूपमें, पुत्र रूपहो जाता है; लेकिन उन अनेक पुत्रेंमें पिता अपना एकत्व जान नहीं सकता. उसका एकत्व उसीमें ही सीमित रह जाता है. परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्णमें ऐसा नहीं है. परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण अपनेमें से जो अनेकत्व उत्पन्न करते हैं तो उनमें अपना एकत्व जान सकते हैं. उसीसे भगवानने वहां कहा **इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्** वहां अर्जुनको लेकिन **तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तम् अनेकधा** दिखाया. यह विराटता अर्थात् जबकि वह एक है लेकिन ऐसा होते हुये भी अनेक है ऐसा होते हुये भी एक भी है ही. इसका नाम पुरुषोत्तमत्व. बाकी श्रद्धासे किसी पुरुषको हम **पुरुषोत्तम** कहें कि **पुरुषोत्तमोत्तम** कहें यह सब प्रशंसातिरेकके विशेषण हैं इनमें कुछ दम नहीं रखा है. जिसका एकत्व उसे बंधनकारी न रहे, उसका नाम पुरुषोत्तमत्व. ऐसा कोई करके दिखाये तो उसे पुरुषोत्तम मानना चाहिये.

हम सोना खरीदने जाते हैं तो इसे कसौटीपर परखे बिना नहीं खरीदते. इत्र भी खरीदते हैं तो सूंघ कर खरीदते हैं. लेकिन पुरुषोत्तमत्व हमें स्वीकारना हो तो इस कसौटीपर कसो. कोई ऐसा कहे कि **मैं पुरुषोत्तम हूं,** तो हमें अर्जुनकी तरह साष्टांग दण्डवत करके कहना चाहिये कि **द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम! मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो! योगेश्वर! ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्यम** आपकी बात सौ प्रतिशत सच्ची, लेकिन प्रभु आप हमें ऐसे दर्शन भी दो कि एकसे अनेक होकर अनेकतामें एकत्वका निर्वाह करके दिखाओ. दर्शन दें तो फिर संदेह नहीं करना लेकिन जब

तलक ऐसे दर्शन न दे सकें तब तलक यह पुरुषोत्तम नहीं लेकिन पूरुंसोतम (पूरे पूरा सोता हुआ) है. यह समझ लेनेकी बात है कि पुरुषोत्तम और पूरुंसोतममें यह मौलिक अंतर रहा हुआ है.

अर्थात् यह जो कसौटी है पुरुषोत्तमकी कि एक होते हुये भी अनेक होकर जो एकत्वका निर्वाह कर सकता है. अगर यह नहीं है तो यह पुरुष है पुरुषोत्तम नहीं है. पुरुषमें कोई पिता होता है, गुरु होता है, शिष्य होता है, यह विभाग तो प्रकट हुये ही हैं. इनमें इन विभागोंको रोकनेकी आवश्यकता नहीं है. इन विभागोंमें पुरुषोत्तमका दावा करने वालेको कसौटीपर खरा उतरना चाहिये तो ही पुरुषोत्तम, नहीं तो यह पुरुषोत्तम नहीं है. अतएव इस प्रथम श्लोकमें प्रभु अपना पुरुषोत्तमत्व वर्णन करते हैं कि मैं परिवर्तनशील होते हुये भी नित्य अपरिवर्तनशील हूं, और नित्य अपरिवर्तनशील होते हुये भी नित्य परिवर्तनशील हूं. इन दोनों बातोंको मैं किस प्रकार निभा सकता हूं कि अश्वत्थ होते हुये भी अव्यय हूं और अव्यय होते हुये भी अश्वत्थ हूं. वह अपनी पुरुषोत्तमता प्रभु दिखा रहे हैं इस श्लोकमें **छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्** आया है उसे अब विचारें.

पुरुषोत्तम वेदैकगम्य है:

उस पुरुषोत्तमको हमें वृक्षके तौर पर समझना हो तो वृक्षको उसके पत्तोंसे हम पहचानते हैं. तो इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्णरूपी वृक्षको भी पहचाननेका साधन वेदवचनरूपी पत्ते ही हैं. जैसे वृक्ष आमका है कि केलेका, पीपलका है कि बड़का तो उसे हम उसके पत्तोंको देखकर पहचानते हैं. तो इस पुरुषोत्तम रूपी वृक्षको पहचाननेका प्रकार इसके पत्ते छंदोंका, वेदोंका अवगाहन है.

अतएव भगवान कहते हैं – **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्. मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम्. एतावान् सर्ववेदार्थो शब्द आस्थाय मां भिदाम्.** वेदोंमें जहां साध्य कर्तव्योंका विधान करनेमें आता है वह किसका विधान है? तो भगवान कहते हैं वह साध्यरूप कर्म मैं ही हूं. अतएव वह मेराही विधान है. वेदोंमें उन उन सिद्ध वस्तुओंका जो निरूपण करनेमें आया है वह सिद्धरूप मेरा ही निरूपण है. वेदोंमें कहीं विकल्प करके यह संभव है और यह संभव नहीं है वह संभव अथवा असंभव रूपोंका निरूपण भी मेरा ही करनेमें आ रहा है. जो कोई नामसे जिसका निरूपण करनेमें आया हो, उन सब ही नामों द्वारा परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका ही निरूपण हो रहा है. छंद अर्थात् वेद, इसके पर्ण अर्थात् पत्ते कि जिनसे हम इस वृक्षको पहचान सकते हैं कि यह कैसा वृक्ष है. इस पुरुषोत्तम रूपी वृक्षको पहचाननेकेलिये वेदवचन रूपी पत्तोंका महत्व है. ऐसी जिसे समझ है वह वेदको भली प्रकार जानता है. जो इस सृष्टिमें पुरुषोत्तमको नहीं जानता तो वह वेदके सच्चे अभिप्रायको नहीं जान पाया.

वास्तवमें, वेदको समझनेकेलिये बड़ी परेशानी खड़ी होती है. क्योंकि तत्व एक है लेकिन उसका अनेक प्रकार से वर्णन करनेमें आया है. जब एक तत्वका अनेक प्रकार वर्णन करनेमें आता है और हमें इस एक तत्वकी समझ न हो तब बादमें हमें घबराहट हो जाती है. हम वेदका वास्तविक अभिप्राय समझ नहीं सकते कि वेद क्या कहना चाह रहा है. इसकेलिये ही जब अंग्रेज प्रारम्भमें यहां आये तो वह लोग हमें गाली देते थे कि यह सब हिन्दुस्तानी जंगली लोग हैं क्योंकि पत्थरको, पहाड़को, सूर्यको, चन्द्रको, नदीको, ऐसी सब जड़ वस्तुओंको पूजते हैं. इन लोगोंको समझमें नहीं आती थी कि हम क्या कहना चाहते है. कई लोग तो डर गये कि अब अंग्रेज लोग

हमें जंगली कहते हैं तो इन सब जड़ वस्तुओंमें हमें पूज्य भाव नहीं रखना चाहिये.

मनुष्य जितना शैतान है उतना शैतान पत्थर, पहाड़ अथवा नदी नहीं होती. मनुष्य नित्यप्रति कुछ न कुछ उत्पात करता होता है. नदी इत्यादि ऐसे उत्पात नहीं करती; वह बहुत सीधी सादी हैं. यह सब जितना प्रदूषण मनुष्यने किया है उतना नदी इत्यादिने नहीं किया. मनुष्यको महान कहा गया और इसने अपनी महानताका लोप किया! मनुष्य जितना खतरनाक प्राणी बिच्छु, सांप यह सब बड़े बड़े प्राणी भी नहीं हैं. इन जंगली जानवरोंको भी मनुष्य एक तरफ रख दे! एक बात समझो कि बिच्छु तुम्हें काटे लेकिन बिच्छु बिच्छुको नहीं काटता. मनुष्य, परन्तु, मनुष्यको खा जाता है, भाई भाईको मार डालता है. मनुष्य कितना शैतान है इसकी कल्पना करो. जैसे भागवतपुराण है वैसे ही अगर हम मानवपुराण लिखें तो कमाल खड़ा हो जायेगा. और इस मानवपुराणको लिखनेकी जरूरत भी नहीं है क्योंकि रोज सुबह उठकर अखबार पढ़लो. इसमें मानवपुराणही होता है. मोटे तौरपर एक ही कथा होती है कि फलानेने फलानेको मार दिया, किसीने किसीका धन लूट या ठग लिया इत्यादि. निरन्तर सुबह उठकर मानवपुराणके किसी न किसी स्कंधका पारायण करो तो अपना सारा दिन मानवताकी महत्ताके नशेमें ही बीतेगा, नशा उतरेगा ही नहीं. मानवपुराणमें ऐसा नशा है. इसकी बराबरीमें भागवतपुराण तो छोड़ो, यह सब पौराणिक व्यासजीने जो लिखे हैं वे सब फीके पड़ जायेंगे और इस मानवपुराणका अंत तो पाया ही नहीं जा सकता. महाभारतका अंत तो हो गया. और जो मानवपुराणके श्लोकोंकी गणना करनी चालू करें तो व्यासजीका गर्व भी भंग हो जायेगा. कारण कि रोज रोज नई नई मानवकी लीला प्रकट होती रहती हैं. और ऐसे मानवको अंग्रेजोंने महान कह दिया हमारी पूज्य मूर्तियोंका मजाक उड़ानेकेलिये!

हमारे शास्त्रेंकी बहुत सुविचारित दृष्टि थी कि मानव भी बड़ा है. मानव बड़ा उस अर्थमें नहीं परन्तु इस अर्थमें बड़ा है कि **आहार–निद्रा–भय–मैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिः नराणाम्. धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः.** धर्म करनेकी जितनी सामर्थ्य इस योनिमें है वह दूसरी योनिमें नहीं है. अतएव इस योनिका कुछ अधिक उत्कर्ष है. और इस उत्कर्षको कायम रखनेकेलिये उसे धर्मका अनुसरण करना चाहिये. और सबसे बड़ा धर्म भगवान यहां गीतामें इस ही अध्यायके अंतमें जाकर कहेंगे – **यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्. स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत.**

जो मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम समझता है वह सब धर्मोंके मूलमें मैं हूं वह बात समझ सकता है. जो मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम नहीं समझ सकता वह किन्हीं क्षुद्र विभागोंको भजता रह जायेगा. अतएव आजके जो यह सब जितने झंझट हैं; धर्मके, राजनीतिके, परिवारके, वह सब पुरुषोत्तमका हमें भली प्रकार ज्ञान नहीं हुआ इसलिये हैं. एक बार पुरुषोत्तमका ज्ञान हृदयमें बुद्धिमें और कृतिमें भली प्रकार अवतीर्ण हो जाये तो बादमें झगड़ेकी कोई बात ही नहीं रह जाती सब लीला ही प्रकट हो जाती है; क्योंकि जितने विभाग हैं उन सबका एक आधार हमें मिल रहा है.

उसके लिये एक शायर कहता है कि – **ये हकीकत है कि हर जलवेमें तू ही तू है. फिर ये कलीसा, ये मस्जिद, ये मंदिर क्यूं हैं?** यह बात विचारने जैसी है कि प्रत्येक कणकणमें जब भगवान हैं, तो फिर कोई मंदिरके नाम पर मस्जिदको और कोई मस्जिदके नाम पर मंदिरको तोड़नेका झगड़ा क्यों करते हैं? हिंदुके नामपर मुसलमानको मारो, मुसलमानके नामपर हिंदुको मारो ऐसी छीना झपटी? चुनावमें जिस प्रकार वोट प्राप्त करनेकेलिये केनवास्सिंग होती है वैसे झगड़े धर्ममें भी चलते हैं. उनका मूल कारण यह कि एकके चेलेको दूसरा

तोड़ ले और दूसरेके चेलेको तीसरा तोड़ ले. तत्पश्चात् इस झगड़ेका तो अंतही नहीं है. क्योंकि हम पुरुषोत्तमको भजना ही नहीं चाहते. इसके लिये मैंने एक दोहा लिखा है – **लप्पुपंडाकी लगन ज्यों नदी तरनकों सेतु. रहत न चित इत उत फिरत परिचयसंचय हेतु.**. जो मिले उसे कहना कि **भाई साहब आना, हमारे यहां भी मंदिर खुला है!** तो दूसरा कहेगा **हमारे यहां मस्जिद खुल गई है, आना!** पुरुषोत्तम भजनमें किसीकी रुचि नहीं है, ऐसे झगड़ोमें सबकी रुचि है. इसका कारण एकही है कि जो अनेकत्वमूलक विभाग हैं वह हमको अनुभूत होते हैं परन्तु सर्वत्र उस अनेकत्वमें जो एकत्व विद्यमान है उसे हम अनुभूत नहीं कर सकते क्योंकि – **यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो. बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः. अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः.**

इस प्रकार जो अनेकत्वमें रहा हुआ एकत्व उसे हम अनुभूत नहीं कर सकते, इसकेलिये ही झगड़ा खड़ा होता है. नहीं तो तुम अपने अपने इष्टदेवकी मस्तीमें मस्त रहो. जो रूप तुम्हें अच्छा लगे उसमें मस्त रहो; इसमें लड़ने झगड़नेकी कुछ बात होनी ही नहीं चाहिये. लेकिन चलता ही नहीं, कारण कि पुरुषोत्तम हमें अनुभूत नहीं हुवा. अतएव अनुभवके अभावमें सब झगड़े होते ही रहते हैं.

अतएव इस वेदको तुम जानोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि अग्नि कहो, वायु कहो, कि वरुण कहो, कि गणपति कहो, शिव कहो, दुर्गा कहो, गायत्री कहो जो जो नाम वेदमें आये हैं उन सब नामोंके मूलमें एक पुरुषोत्तमका ही वर्णन करनेमें आया है. **सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते** सब नाम, सब रूप धारण करके लीला करनेवाला, अनेक वृक्षोंकी तरह खिलनेवाला वृक्ष तो एक ही है. यह एक एक नामरूप एवं एक एक नामरूपमें एक एक कर्म प्रकट होता

है उस कारण यह विभाग हमें दिखाई देते हैं. सब नाम एवं रूप इसने स्वयं धारण किये और इस प्रकार स्वयं जो नामों द्वारा वाच्य बना है, वह दिखाई नहीं देता.

जो ब्रह्म है उसकी पुरुषोत्तमताका अगर हमें भान हो तो हमें भक्ति मिले; नहीं तो, भक्ति हमें नहीं मिल सकती. और भक्ति मिले उसके लिये लीलाका स्वरूप समझना आवश्यक है.

1. लीला 2. नाटक एवं 3. फिल्म – इन तीनोंमें तारतम्य :

1. जैसे एक लीला होती है; 2. एक नाटक होता है; एवं, 3. एक सिनेमा होता है. तो लीला, नाटक एवं सिनेमामें मूल अन्तर यह है कि सिनेमामें मनुष्य हिलता डुलता दिखता है, रंगबिरंगी दुनियां दिखती है, सब कुछ दिखता है लेकिन होता कुछ नहीं इसका नाम सिनेमा. नाटकमें ऐसा नहीं होता. सिनेमामें अभिनय पूरा होता है लेकिन अभिनेता उपस्थित नहीं होता. जबकि नाटकमें इससे एक कदम आगेकी कक्षा है कि जब अभिनय चलता होता है उस समय अभिनेता भी वहां ही मंचके ऊपर उपस्थित होता है. मंचके ऊपर उपस्थित अभिनेता अपना मेकअप, वेश, डायलॉग, चलनेका ढंग इन सबको इस प्रकार स्वीकारता है कि अभिनेता हमको अभिनेता नहीं लगता परन्तु वही पात्र लगता है जिसका वह अभिनय कर रहा होता है. राजा बना हो तो राजा जैसा लगता है एवं भिखारी बना हो तो भिखारी जैसा लगता है. अब यह जरूरी नहीं है कि वह स्वयंमें वास्तविक भिखारी ही हो. भिखारीका, परन्तु, अभिनय करता है तब हमको ऐसा लगता है कि कितना गरीब है बेचारा. यहां अभिनेता भिखारी नहीं है, पात्र भिखारी है. अखबारमें तुमने पढ़ा होगा कि टी.वी. में जो रामायण धारावाहिक आया उसमें जो अभिनेत्री सीताजी बनी थी वह एक समय सिगरेट पी रही थी तो सब लोग इसके पीछे पड़ गये कि सीताजी होकर सिगरेट क्यों पी रही हो? अरे भाई

सीताजी सिगरेट नहीं पीती थी, यह अभिनेत्री सिगरेट पीती है. लेकिन लोग मानते ही नहीं अतएव ऐसी मुसीबत हो जाती है. क्योंकि हम अभिनय एवं वास्तविकतामें अन्तर नहीं कर पाये. अब नाटकमें कोई विलनका अभिनय करता हो और हमें गुस्सा आ जाये और सीधे स्टेजपर जाकर उस अभिनेताको दोचार घूंसे लात मार दें कि क्यों इतना सताता है तो नाटक ही ठप्प पड़ जायगा. उसका डायरेक्टर तुमसे पूछेगा कि तुम्हारा पात्र यहां कहांसे आ गया? तुम स्टेज पर क्यों आये, तुम्हें तो दर्शक दीर्घामें बैठना है.

हमारे किशनगढ़में एक साधु था. उसके साथ मुंबईमें एक ऐसी ही घटना हो गई. यह मुंबईमें आ कर रहा. बड़ी जटा, मोटा शरीर इसका था. वहां कोई पौराणिक फिल्ममें विवाहका दृश्य लेना था तो डायरेक्टरने कहा कि किसी मंदिरमें जाकर किसी महाराजको ले आओ. तो यह साधु हमारे मंदिरके बगीचेमें बैठा था. उन्होंने इसकी लंबी जटा, शरीर देखकर इनसे पूछा कि महाराज फिल्ममें शादी करानेकेलिये चलोगे? तो इन्होंने कहा चलूंगा. वहां स्टेज पर वर वधू सब तैयार थे. उन्होंने इस साधुसे कहा कि बैठ जाओ. शूटिंग चालू हुई. बादमें अग्निकुंडमें जो आहुति डालनी थी उसमें मिट्टीका तेल था. तो महाराजको लगा कि यह शादी तो सफल नहीं होगी. तो इन साधु महाराजने शूटिंगमें चिल्लाना चालू किया **अनर्थ अनर्थ अनर्थ.** तो पहले तो डायरेक्टर बोला कि यह डायलॉग कौन बोला? क्योंकि स्क्रिप्टमें तो यह डायलॉग था ही नहीं. तुम ऐसा क्यों कर रहे हो? तो साधुने कहा **मिट्टीके तेल की आहुति देंगे तो विवाह सफल नहीं होगा.** तो फिल्मके डायरेक्टरको तो विवाहकी सफलता नहीं बल्कि दृश्यको सफल बनाना था अतएव उसने कहा **गैट आउट. तुम एक्टिंग ठीक नहीं कर रहे हो.** बादमें यह साधु तो गुस्सा करके वापिस आ गया कि ये लोग तो मिट्टीके तेलकी आहुति डालते हैं. तब

उस साधुको मैंने समझाया कि यह तो नाटक है. इसमें तो कुछ बोलने जैसा है ही नहीं. नाटककी वास्तविकता अलग होती है, सिनेमाकी वास्तविकता अलग होती है और लीलाकी वास्तविकता एक तीसरी कक्षाकी होती है.

लीलाकेलिये एक उदाहरण कहूं कि एक बच्चा था. उसके साथ खेलनेकेलिये दूसरा कोई नहीं था अतएव वह अकेलाही खेलता रहता. बौलको विकेटकी तरफ फैंके, थूक लगाये, इधर उधर देखे. यह लीला है. उसके सामने कोई बल्लेबाज भी नहीं था तो भी किसी समय **आउट** ऐसे जोरसे बोले भी सही. एक खुदही खेलनेवाला, कोई **आउट** होने वाला नहीं. तो भी पूरी तरह खेलता रहे. **ब्रह्म लटका करे ब्रह्मपासे** अकेले होते हुये भी यह आउट भी होये और चिल्लाये और बौलको फेंके, फील्डिंग करे. सब क्रियायें करे **क्रिया सर्वापि सैवात्र क्रिकेट एव न विद्यते** अर्थात् क्रिकेटकी सब क्रियायें हैं लेकिन वहां क्रिकेट नहीं है. इसका नाम लीला.

यह जो उसके तीन प्रभेद हैं उन्हें समझो. लीलामें लीलाकर्ता गायब नहीं हो जाता, छिप नहीं जाता और यह जो क्रिकेट खेलने वाला बच्चा है इसे वेश भी पलटना नहीं पड़ता. इसे किसीकी गरज भी नहीं है. जैसा है बस तैसीही मस्तीमें खेल शुरु कर देता है क्रिकेटका और फटाफट बौलिंग शुरु हो जाती है. रूप बदलनेकी या मेकअप करनेकी इसे जरूरत नहीं. इसका नाम लीला. हृदयमें रहे हुये आनन्दको उत्स्फूर्त प्रकट करनेकी क्रिया. इसमें किसीकी जरूरत नहीं कि कोई देखता हो कि नहीं देखता. इसका नाम लीला. जबकि नाटक दर्शकोंके सामने खेलनेमें आता है. दर्शकोंके सामने अभिनेता अगर अपने रूपमें आये तो, जिस पात्रका अभिनय करना है उस पात्रका भाव दर्शकोंमें जागता ही नहीं, अतएव उस पात्रका वेश, वाणी, व्यवहार यह सब स्वीकारना पड़ता है. इसे स्वीकारें तो ही नाटक अच्छी तरह खेला जाता है. सोचो कि

कोई शिवाजी बनकर आया हो और तत्पश्चात् शिवाजीकी पगड़ीमें कोई खटमल घुस गया हो और यह सिरको खुजलाये तो लगेगा ही नहीं कि यह शिवाजी होंगे. क्योंकि शिवाजी या महाराणा प्रताप भाला लेकर आ रहे हों और अपना सिर खुजला रहे हों तो यह अच्छा नहीं लगेगा. भले ही खुजली होती हो लेकिन जब अभिनेता महाराणा प्रताप बनकर आता हो तब इसे शांत होकर ही चलना पड़ेगा. इसमें तो खुजली भी होती हो तो भी उस पर काबू रखना पड़ेगा. नहीं तो दर्शकोंको ऐसा लगेगा ही नहीं कि यह महाराणा प्रताप हैं. तो इसमें देखो कि पात्र प्रकट होता है और अभिनेता पात्रके परदेमें छिपा होता है, जबकि लीलामें अभिनेता और पात्रका शुद्ध–अद्वैत होता है. नाटकमें अभिनेता और पात्रका द्वैत और अद्वैत दोनों होते हैं. सोचो कि एक कुशल अभिनेता ब्रह्मचारीका अभिनय कर रहा हो और उस हॉलमें, उसका पुत्र **पापा पापा** ऐसे आवाजें लगाये और कहे कि मुझे गोदमें ले लो तो यह ब्रह्मचारी–अभिनेता किस प्रकार हो सकता है? तत्पश्चात् तो रसाभास ही हो जायेगा. नाटकमें ऐसी विचित्र स्थिति कभी कबाक आ जाती है और वहां रसाभास हुये बिना नहीं रहेगा. इसलिये लोगोंने नाटकके बदले सिनेमा बनाया कि जो होना होगा वह परदेके साथ होगा, अभिनेताके साथ नहीं!

'यो जगद् भूत्वा क्रीडति' एवं 'यतो जगत् क्रीडति' सृष्टि प्रकार :

भगवानकी सृष्टिक्रीड़ामें इन तीनोंके तीनप्रकार श्रीमहाप्रभुजीने वर्णन किये हैं, निबन्धके मंगलाचरणमें – **नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे. रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः..** अर्थात् भगवान स्वयं अपने रूप द्वारा कुछ क्रीड़ा करते हैं. अर्थात् जिसमें पात्र एवं अभिनेताके बीचमें कोई भेद नहीं होता. दूसरी एक ऐसी क्रीड़ा जिसमें पात्र एवं अभिनेतामें

किसी प्रकारका भेद एवं अभेद दोनों हैं वैसी भी क्रीड़ा करते हैं. एक बात समझो कि इस निरूपणके संदर्भमें जो पात्रका अभिनय अभिनेता रूपी भगवान कर रहे हैं यह तो अश्वत्थ है. अभिनयमें कभी ऐसा भी संभव है कि एक ही अभिनेता स्टेजपर रामका अभिनय करता है और दूसरे दृश्यमें यह रामके बजाय कुंभकर्णका भी अभिनय करता है. यह तो मेकअपमैनको अभिनेताका मेकअपद्वारा बदलाव आना चाहिये. जिन कम्पनियोंमें काम करनेवाले कलाकार थोड़े होते हैं वहां ऐसा ही होता है कि एक पात्रका अभिनय पूरा होते ही वेश बदलकर अभिनेता दूसरे पात्रके रूपमें आ जाता है.

अब जो अभिनेता है वह तो अव्यय है और नाटकके जो पात्र हैं वह सब अश्वत्थकी डालियां और पत्ते इत्यादि जैसे हैं. जो अभिनय कर रहा है वह कलाकार अव्यय अपरिवर्तनशील अविनाशी है और यह जिस पात्रका चरित्र निभा रहा है वह सब अश्वत्थ है, परिवर्तनशील विनाशी वस्तुयें हैं. एक नाटकमें यह जो अभिनेता विलनका काम करता है, दूसरे नाटकमें यह संतका काम करता है, तीसरेमें राजाका, चौथेमें भिखारीका इस प्रकार अलग अलग अभिनय करता है. अब तो सुविधा हो गई हैं लेकिन आजसे 70–80 साल पहले स्त्रियां नाटकमें काम नहीं करतीं थीं बल्कि आदमी ही औरतोंका अभिनय करते थे. और वह इतना सुंदर अभिनय करते कि किसी समय नाटक पूरा होता तो इस आदमीको औरत समझ कर गुंडे लोग अगुवा कर लेते थे! ऐसे ऐसे नाटक भी हुये हैं. बाद में वह कलाकार कहता कि भाई मैं औरत नहीं हूं लेकिन दूसरे सुनें ही नहीं. उन्हें तो नाटकका ही मजा आ गया होता है ना ! तो समझनेकी बात यह है कि इस नाटकमें जो अभिनेता है वह अव्यय है लेकिन जिन पात्रेंका यह अभिनय कर रहा है वह पात्र अश्वत्थ हैं; जो अभिनय आज है वह कल नहीं होता. अभिताभ बच्चनकी दस फिल्में देखो तो एकमें एक प्रकारका

काम है दूसरी फिल्ममें दूसरे प्रकारका काम है, तीसरी फिल्ममें तीसरे प्रकारका काम है, यह सब अश्वत्थ हैं. अभिताभ बच्चन यह अव्यय है. तो अव्यय एवं अश्वत्थका भेद हमें समझ लेना चाहिये. इसी प्रकार जगतमें जो जो लीलायें चल रही हैं उन लीलाओंमें किसी प्रकार यह अव्यय परमात्मा भी बिराजमान है, और किसी किसी नाम–रूप–कर्मोंके अश्वत्थ भी हैं. इस प्रकार अगर हम इस समस्त ब्रह्मवृक्षको समझेंगे तो हमें पता चलेगा कि इस एकसे अनेक वृक्ष हो सकते हैं, दूसरे वृक्षोंमें यह सामर्थ्य नहीं है. नारियल अथवा पीपल एकमें से अनेक होता है; लेकिन जैसे, माता–पितामें से संतति होती है उस प्रकारसे एकमें से अनेक होते हैं. जिसे बीजकी जरूरत पड़ती है. बड़ यह एकही ऐसा वृक्ष है जो एक होते हुये भी अनेकताको प्रकट कर सकता है और इस अनेकतामें इसकी एकता व्यवस्थित रहती है. बड़का जो उदाहरण है, ब्रह्म किस प्रकार यह जगत्रूप होकर लीला कर रहा है, उसे समझनेकेलिये सबसे अच्छा उदाहरण है. अतएव यहां बड़को लेना तात्पर्यविषयसे अभिप्रेत अर्थ है.

ब्रह्म जगद्रूपसे जो लीला करता है उसे श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं – **1. यः क्रीडति; 2. यो जगद् भूत्वा क्रीडति; एवं 3. यतो जगत् क्रीडति**

अर्थात् 1. जो स्वयं अपने रूपमें क्रीड़ा करता है, 2. जो जगत्के नामरूप कर्म धारण करके क्रीड़ा करता है; एवं 3. जिसके कारण जगत्में नामरूप कर्मवाली वस्तुयें क्रीड़ा करती अनुभूत होती हैं.

यह तीसरा प्रकार जो है वह सिनेमा जैसा है **यतो जगत् क्रीडति** का. स्क्रीनके ऊपर जो कुछ दो तीन मिनटके गीतमें हीरो हीरोइनकी काश्मीरसे कन्याकुमारीतककी दौड़ादौड़ दिखती है, वास्तवमें किसी व्यक्तिमें इतनी सामर्थ्य नहीं होती. यह तो बहुत सारे दिनोंमें शूटिंग करते है काश्मीर जाकर,

कन्याकुमारी जाकर. तब हमें दो तीन मिनटमें यह लोग काश्मीरसे कन्याकुमारीतक आते जाते दिखते हैं. उसके अतिरिक्त ये हीरो हीरोइन जब हमें दौड़ते भागते दिखते हैं तो वास्तवमें तो यह दौड़ते भी नहीं हैं. कभी ये लोग दौड़ते हों उसके अलग अलग दृश्योंको कैमरे द्वारा लेकर, उन अलग अलग दृश्योंको जोड़कर हमें दिखाते हैं तो हमें लगता है कि काश्मीरसे कन्याकुमारी तक दौड़ रहे हैं. यह प्रकार **यतो जगत् क्रीडति**का है. इन लोगोंने तीन चार महीने शूटिंगकी होगी और उसके बीचमें यह दौड़ादौड़ की होगी जिसे हम दो तीन मिनटमें देख लेते हैं. मैंने एक समय अखबारमें पढ़ा था कि एक फिल्ममें मीनाकुमारी पानीमें डूब गई. उस समय जो कपड़े पहरे थी और जब उसे पानीसे बाहर निकाला गया तो उस दौरान उसके कपड़े ही बदल गये, दूसरे कपड़े पहरे हुई थी! अब पानीमें डूब गई इसमें कपड़े किस प्रकार बदल गये? फिल्मके दो अलग अलग दृश्योंकी शूटिंग अलग अलग दिन हुई होगी, उसमें भूल गये होंगे कि कैसे कपड़े पहने हुये डूबनेका दृश्य लिया था. अतएव बाहर निकालते समय बदले कपड़ेका चमत्कार हो गया! ऐसी असंगति अपने संसारमें बहुत बार देखनेको मिलती है. ऐसे मिथ्या और असंगत दृश्योंको **संसार** कहा जाता है. संसारका प्रत्येक क्रिया कलाप नामरूप परमात्माके कारण चल रहा है. लेकिन परमात्मा स्वयं इसमें शामिल नहीं होता. जैसे स्क्रीनमें अभिनेता स्वयं शामिल नहीं होता.

नाटक एक दूसरी वस्तु है. नाटकमें तो अभिनेता स्वयं स्टेजके ऊपर विद्यमान होता है. तो यह **यो जगद् भूत्वा क्रीडति** का प्रकार है. और **यः क्रीडति** यह पहले क्रिकेट खेलते बच्चेको समझ लो कि इसे किसी देखने वालेकी परवाह नहीं है, किसी वेशको पलटनेकी जरूरत नहीं है. यह तो

अपनी मस्तीमें जो कुछ नामरूपकर्म प्रकट करने होते हैं वह करता ही रहता है.

अब क्रीड़ामें और लीलामें अगर हम लीलाकर्ताको पहचान सकते हैं तो उस लीलाको हम मूलरूपकी लीला कहते हैं. जैसे राम, कृष्ण अवतारोंमें प्रभुने जो लीला करी हैं उनमेंसे प्रभुने स्वयंको तिरोहित नहीं किया. पुरुषोत्तमने स्वयं अतिरोहित रहकर वह लीलायें करी हैं. जिन लीलाओंमें पुरुषोत्तमने अपनेको तिरोहित नहीं किया वह लीलायें **यः क्रीडति** लीलायें हैं. जिन लीलाओंमें परमात्मा पुरुषोत्तमको तिरोहित करता है; अर्थात् कलाकार दृश्यमान नहीं होता परन्तु पात्र प्रकट हो जाता है, तो पुरुषोत्तमत्व जहां तिरोहित हो गया वहां; एक होते हुये अनेक होनेकी सामर्थ्य भी तिरोहित हो जाती है, वैसी सब लीलायें पुरुषोत्तमलीला नहीं होती. ऐसी बहुत सारी जागतिक लीलाओंकी वास्तविकता भली प्रकार देखपरख लेनी चाहिये.

यः जगद् भूत्वा क्रीडति जहां विविध एवं वास्तविक नाम–रूप–कर्म हैं वहां कुछ न कुछ नाम देनेमें आयें तो वह बहुत बार उसका सार्थक नाम भी नहीं होता. जैसे मेरा नाम **श्याममनोहर** रखा गया लेकिन न तो मैं श्याम हूं और न ही मनोहर. नाम रखना था सो रख दिया. ऐसेही बहुत सारे नाम रखनेमें आ जाते हैं. बहुत सारे काम भी हम लोग करते हैं परन्तु वह सारे काम करने जैसे भी नहीं होते और उनका प्रयोजन भी हमें पता नहीं चलता. ऐसी जो लीलायें हैं वह जागतिक लीलायें हैं, पुरुषोत्तमद्वारा जगतका रूप धारण करके करी गई लीलायें.

यो जगत् भूत्वा क्रीडति अर्थात् भगवान स्वयं अपने मूल रूपको छिपा कर जो लीला करते हैं; और, **यः क्रीडति** अर्थात् भगवान अपना मूल रूप जब प्रकट करते हों कि प्रकट करना चाहते हों वैसी लीला. एक सूफी संतके चरित्रमें बहुत सुंदर

प्रसंग वर्णन करनेमें आया है कि कोई जिज्ञासु साधक सूफी संतके पास जाकर पूछता है **मुझे परमात्माके दर्शन करने हैं, मैं किस प्रकार करूं?** सूफी संतने उसे बड़े गजबका जबाव दिया **कुछ करनेकी जरूरत नहीं है. खाली अपनी आंख खोलकर रखो.** तो उस साधकने कहा **आंख तो मेरी खुली ही हैं और सब कुछ दीख भी रहा है!** तो संतने कहा **हां, तुम्हारी आंख तो खुली ही हैं, परन्तु उनसे तुम जो देखना चाह रहे हो वही दीख रहा है, जो तुम्हारे सामने है उसे शायद तुम नहीं देख रहे!**

दिखती वस्तुमें ऐसा बहुत बार होता है कि वह सामने होते हुये भी हमें नहीं दिखती. कारण कि दिखती वस्तुमें हमें वही दिखता है जो कि हम देखना चाह रहे हैं. जिस पहलूको हम देखना नहीं चाहते वह हमें नहीं दिखता.

सांख्य शास्त्रमें इसका बहुत सुंदर उदाहरण देनेमें आया है कि कोई स्त्री कितनी ही सुंदर हो लेकिन विरक्त संतको उसमें माया ही दिखाई देगी, कामुकको उसमें अप्सरा दिखाई देगी और शेरचीते को उसमें स्वादिष्ट भोजन ही दिखाई देगा. अब स्त्री तो एक ही है लेकिन देखने वालेको उसमें वह ही नजर आता है जो वह देखना चाह रहा है.

शुरु शुरुमें पादरी लोग अफ्रीकामें प्रचार करने जब गये तो उस समय वहां सभ्यताका बहुत विकास नहीं हुआ था. वहां सारे लोग नरभक्षी ही थे. पादरीने जाकर वहां पूछा कि मेरे पहले यहां जो पादरी था वह कैसा था? तो सब जंगलीओंने लार टपकाते हुये कहा कि बहुत मीठा था. वह लोग पादरीको ही मारकर खागये थे. तो पादरी तो पादरी ही है, लेकिन देखने वालेकी दृष्टि तो उसे पादरी नहीं देख रही है. वह तो उसमें मिठाई देखना चाह रहे हैं और वह ही देख रहे हैं. जैसे स्त्री एककी होते हुये भी उसी स्त्रीको हम पुत्री, पत्नी, माता इत्यादि अलग अलग भावोंसे देख सकते हैं. अब यह स्त्री नहीं

बदल जाती लेकिन देखनेवालेको वह ही रूप दिखाई देता है जो रूप वह देखना चाह रहा है. इसमें यह स्त्री है कि पुरुष ऐसा भाव नहीं होता. उसकेलिये ही सूफी संतने कहा कि तुम्हारी आंखे खुली हैं इसमें दो राय नहीं हैं लेकिन तुम तो वही देख रहे हो जो तुम देखना चाह रहे हो. तुम एक काम करो कि उस वस्तुको जिस प्रकार तुम देखते हो उसे उस प्रकार देखना बंद करो और वह जैसी है उसे वैसे ही देखनेका प्रयत्न करो; तो तुम्हें परमात्मा प्रत्येक वस्तुमें दिखाई देगा. बहुत सुंदर बात उसने कही : **चश्मे गुल रंगे–गुलो–लालाओ बीनद् वर्ना. आं चे दर पर्द ये रंगस्त पदीदारतरस्त..**

इन फूलोंके जो अलग अलग रंग हैं इन रंगोंमें हमारी आंख अटक गई है जो कि हम देखना चाह रहे हैं. लेकिन रंगोंमें प्रकट होती परमात्माकी दिव्यता हमें दिखाई नहीं देती. बहुत दूर जानेकी जरूरत नहीं है. एक गुलाबका फूल सामने रखो, चंपाका फूल सामने रखो, तो परमात्मा वहीं दिखाई देगा.

यह अंग्रेजलोग जड़ थे कि जिन्हें पत्थर, पहाड़, नदीमें जड़ ही दिखाई देता था; जैसे कि किसी भेड़ियेको किसी सुन्दर स्त्रीमें रसगुल्लाही दिखाई देता है! क्योंकि खानेकी ही दृष्टि है लेकिन देखनेकी दृष्टि नहीं है. और जिसकी देखनेकी दृष्टि है उसे खानेका नहीं दिखता. अतएव अंग्रेजोंकी जड़दृष्टि ही थी कि जिन्हें सब कुछ जड़ ही नजर आता था. लेकिन हमारी ऐसी दृष्टि नहीं थी. नदीमें, पत्थरमें, पहाड़में.... हम उसको पारमात्मिक दृष्टिसे देखते थे और उस कारण हमें उसमें परमात्मा दिखाई देता था. हमारे यहां जो साधु लोग गिरनार पर्वतकी परिक्रमा कर रहे हैं तो क्या वह पत्थरकी परिक्रमा कर रहे हैं? नहीं, उनकी दृष्टि वहां कुछ और ही रही हुई है. हम लोग गिरिराजकी परिक्रमा करते हैं तो पहाड़की परिक्रमा नहीं करते लेकिन जो जड़ होते हैं उन्हें ऐसा ही

दिखाई देता है कि पहाड़के चारों तरफ घूम रहे हैं. सोच सकते हो ऐसा भी क्योंकि स्वयंमें मनुष्य जड़बुद्धि होता है. हमें भी अगर उनके यहां ऐसा कुछ खोजना हो तो खोज सकते हैं कि एक लकड़ीके ठूंठको आड़ा करके और दूसरेको खड़ा करके ऐसे रूपमें उनका क्राइस्ट है. तो हम भी तो ऐसा कह सकते हैं कि इस लकड़ीके ठूंठमें क्राइस्ट कहांसे आ गया? हम भी उन्हें ऐसे ही गाली दे सकते हैं कि ये लोग तो लकड़ीके ठूंठको भजते हैं! लेकिन भाई इस प्रकार वह लोग लकड़ीके आड़े सीधे ठूंठोंको नहीं भजते. बातको समझो कि इस क्रासमें इन लोगोंको क्राइस्टके दर्शन होते हैं. तो यह लोग देखते तो हैं क्रासको लेकिन श्रद्धासे देखने वाली आंखे क्राइस्टको देखती हैं. उसी प्रकार दिखता तो है पत्थर लेकिन उसे देखनेवाली आंखे उसमें परमात्माको भी देख सकती हैं. और दिखाई दे रहा हो परमात्मा लेकिन अश्रद्धासे देखनेवाली आंखें उसमें पत्थरको देखती हैं. तो यह तो मनुष्य जो देखना चाहता है वही देखता है.

पहले जिसकी बात करी थी उस संतने बहुत ही सुन्दर कहा **पहले तुम जो देखना चाहते हो उसे देखना बंद करो. और जो है उसे देखना शुरु करो. बादमें तुम्हारी वासनाके कारण जैसी वस्तु दिखती है वह दीखनी बंद हो जायेगी. इसमें एक समय ऐसा आयेगा कि तुम्हें ऐसा लगेगा कि इस वस्तुको जैसा मैं देख रहा हूं यह वैसी नहीं है. जैसी मुझे दिखाई दे रही है वैसी नहीं है.** इस प्रकार एक एक इन्द्रियकी वासनाको कैन्सल करते जाओगे तो आखिरमें तुम्हें कुछ भी नहीं मिलेगा. क्योंकि रूप मैं आंखोंसे देखना चाहता हूं उस कारण दिखाई देता है. रंग भी मैं आंखसे ही जैसा देखना चाहता हूं वैसा ही दिखाई दे रहा है. स्पर्श मैं हाथसे करना चाहता हूं इस कारण हो रहा है. इन एक एक वस्तुको हम कैन्सल करते जायेंगे तो वहां अव्यक्त प्रकट हो जायेगा. फिर

तो कुछ देखने करनेकेलिये रह ही नहीं जायेगा. उसके बाद उस सूफी संतने तीसरे स्टॉपपर इससे भी उत्तम बात कही कि फिर उसके बाद तुम्हारेमें परमात्माके प्रति प्रेम प्रकट होगा. जब सब दिखना बंद हो जायेगा तब तुम्हें भूख लगेगी. अब कुछ नहीं दिखता तब किसे देखना यह प्रश्न खड़ा होगा. अव्यक्तके ज्ञान होनेके बाद तुम्हें अव्यक्तमें कुछ देखनेकी भूख या तृषा लगेगी, तब तुम्हें दिव्य आकार दिखाई देगा.

अपने पुष्टिमार्गकी भाषामें कहना हो तो आधिभौतिक जो नामरूपकर्म हैं, जिन्हें हम आधिभौतिक आंखोंसे देखना चाहते हैं अर्थात् यह दिखाई देते हैं. इनमें हमें आध्यात्मिकता अनुभूत नहीं होती.

यह तुम वास्तवमें अनुभव करके देखो कि हम किसी चर्चमें पहुंच जायें तो हमें आध्यात्मिकता अनुभूत नहीं होगी. मंदिरमें आयें तो आध्यात्मिकता अनुभूत होती है. हमारे मंदिरमें कोई ईसाई आ जाये तो उसे आध्यात्मिकता अनुभूत नहीं होगी. मेरे पास एक पादरी पढ़नेकेलिये आता था. वह एक बार **जयहनुमान** फिल्म देखने गया. मैंने पूछा कैसी लगी? **बहुत कौमेडी पिक्चर थी. किसी समय पहाड़ उठा ले, किसी समय पेड़ उखाड़ ले, यह सबही कर रहा था.** मुझे लगा कि यह मजाक उड़ा रहा है. इसलिये मैंने कहा कि **हां धार्मिक फिल्मोंमें ऐसी ही कौमेडी होती है. मैं एक बार मौसेसकी फिल्म देखने गया था वहां भी समुद्र फट जाता है वह भी तो कौमिक जैसे ही था.** तब यह पादरी भाई बोला **ना ना चमत्कार नहीं हो सकता ऐसे नहीं कह रहा था.** तब मैंने स्पष्ट किया कि ऐसा नहीं कहना चाह रहा कि चमत्कार नहीं होता. लेकिन जो तुम्हारे यहां है वह हमारे यहां भी है. हमारा चमत्कार हमें आध्यात्मिक जैसा दिखाई देता है और तुम्हारा चमत्कार हमें कौमिक जैसा दिखाई देता है यह हमारी बुद्धिमें कुछ कमी है! मैंने उसे ऐसा नहीं कहा कि तुम्हारी बुद्धिमें भी

कुछ ऐसी कमी है. बादमें वह समझ गया. ऐसा होता है. मनुष्यकी श्रद्धा हो तो चमत्कारमें हमें आध्यात्मिकता दिखाई देती है और श्रद्धा न हो तो चमत्कारमें फरेब दिखाई देता है, ढोंग दिखाई देता है, धूर्तता दिखाई देती है. क्योंकि हमें श्रद्धा नहीं है. हमारी देखनेकी पद्धतिही इस प्रकारकी है.

अतएव आध्यात्मिकताके स्तर ऊपर कुछ भी देखने जैसा रह नहीं जाता, केवल जाननेकेलिये ही रह जाता है; कि जो अश्वत्थ है, प्रतिक्षण जिसके नाम–रूप–कर्म बदल रहे हैं, लेकिन इन बदलते नाम–रूप–कर्मोंके प्रवाहमें कोई एक स्थिर, अव्यय तत्व है और इस अव्यय तत्वको हम देख नहीं सकते. यह होते हुये भी जान तो सकते हैं. और इस अव्यय तत्वको जानेंगे तो हमारा ज्ञान, अश्वत्थमें रहे हुये विषयोंका क्षुद्रज्ञान मिटकर, अव्ययके माहात्म्यका ज्ञान बन जायेगा, अविभक्तताका ज्ञान हमें होगा. और इस अविभक्तताका ज्ञान, जिसे हमने **सात्विक बुद्धि** कहा. इस अविभक्तताका ज्ञान जब हमें होगा तो उसके बाद अव्यभिचारिणी भक्तिकी मांग हृदय करेगा. अब आकार बिना हमें क्या देखना वैसा प्रश्न हृदयमें उत्पन्न होगा. उस समय जो आधिदैविक आकार प्रकट होगा वह हमारेलिये कृष्ण ही है – **प्राकृताः सकलाः देवाः गणितानन्दकं वृहत्. पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्णएव गतिर्मम..**

यह गीता हमें समझाती है. सारी कृष्णलीला जो है वह पुरुषोत्तमकी लीला है, **यः क्रीडति**की लीला है.

यह जगत भी जोकि कृष्णकी लीला है और हम जो लीलायें करते हैं, कि यह मेरा, यह तेरा, यह अच्छा यह बुरा, यह सब सिनेमा जैसी श्रीकृष्णलीला ही हैं. क्योंकि इस कृष्णलीलामें स्वयं श्रीकृष्ण शामिल नहीं हैं. इसमें कलाकार तिरोभूत हो गया है और हमारे मनका कोई प्रोजेक्शन चल रहा है. यह **यतो जगत् क्रीडति**के नाम–रूप–कर्म हैं. इसमें परमात्मा स्वयं शामिल नहीं होता लेकिन भगवानने हमारेमें

ऐसी सामर्थ्य प्रदान करी है. आगे जाकर भगवान स्पष्ट करेंगे कि **मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च.** मेरे कारण तुम्हें कोई वस्तु याद आती है, मेरे कारण ही कोई वस्तु तुम्हें समझमें आती है. और मेरे ही कारण कोई वस्तु तुम्हें समझमें आनी भी बंद हो जाती है. सिनेमामें भी ऐसा ही होता है कि जो प्रोजेक्शनके कारण, एक्टिंगके कारण, फिल्मकी जो शूटिंगकी होती है उसके कारण, थियेटरमें अज्ञानका अंधकार न हो तो प्रोजेक्शन शुरु ही नहीं हो सकता. सब दिये बत्ती बुझा कर अंधेरा करो यह इसकी पहली शर्त है; बादमें ही फिल्म शुरु हो सकती है. अतएव ज्ञानके सारे साधन स्तब्ध हो जाते हैं – स्विच ऑफ हो जाते हैं – तब फिल्म शुरु होती है. और सफेद स्क्रीनके ऊपर सबही रंग आ जाते हैं. इस प्रकार जो शुद्ध आधिभौतिक वस्तु हैं उनमें जो कुछ संसारके द्रश्य हमें दिखाई देते हैं कि यह मेरा है, तेरा है, अच्छा है, खराब है यह सब संसारका ही हमें अनुभव हो रहा है. इसमें जगतका कर्ता परमात्मा एक्टिंग नहीं कर रहा लेकिन भगवानकी अविद्याकी आवरण–विक्षेप शक्तियां हमारे अन्दर काम कर रही होती हैं. उसके कारण फिल्म भर जाती हैं और वैसी विक्षेपशक्ति हमारी बुद्धिमें आती है. उस कारण कोई क्रिया कलाप शुद्ध सफेद स्क्रीनके ऊपर चल रहा है. यह तब ही होता है जब ज्ञानका प्रकाश वहां नहीं होता. अर्थात् अज्ञानका आवरण होता है. जब फिल्म चल रही हो तो थोड़ासा प्रकाश कर दो तो वह प्रोजेक्शन धुंधला पड़ जायेगा. फिर उस दृश्यमें इतनी स्पष्टता नहीं रह जाती.

उसी प्रकार जो शास्त्रसे हमें समझना चाहिये कि यह संसार, यह क्या चक्कर है तो यह भी धुंधला पड़ने लगेगा. और जो अन्दर–बाहरके सब बल्ब हम चालू करदें तो स्क्रीन तो दिखेगी लेकिन इसके ऊपर प्रोजेक्शनका काम बंद हो जायेगा. इसी प्रकार जो हम समझ लें तो संसार अनुभूत होना बंद हो जायेगा. यह जो सिनेमाकी लीला है वह **यतो जगत्**

क्रीडति उस अज्ञानके कारण चलती एवं दिखाई देती है. इस प्रकारकी विविध लीलाओंको लेकर इस श्लोकमें क्या लीला है?

भगवान हमें वास्तविकता समझा रहे हैं वह **यः क्रीडति**की लीलाको नहीं. लेकिन **यो जगत् भूत्वा क्रीडति** एवं **यतो जगत् क्रीडति** इन दो लीलाओंका निरूपण भगवान यहां कर रहे हैं. यह जो ब्रह्मवृक्ष है उसका ऋग्वेदमें बहुत सुंदर प्रश्नोत्तर शैलीमें निरूपण किया गया है – **किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आसीद् यतो ध्यावापृथ्वी निष्टतक्षु मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्.**

अर्थात् वह वन कैसा था, वृक्ष कैसा था, जिसमेंसे काट काटकर यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशके एवं विविध चेतन प्राणियोंके सब सीन खड़े करनेमें आये हैं? और वेद वहां पूछता है कि इसका कौन उत्तर दे सकता है? और वेद स्वयं कहता है कि मैं तुम्हें उत्तर देता हूं. **ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथ्वी निष्टतक्षु** अर्थात् यह वन ब्रह्म था, यह वृक्ष ब्रह्म था जिसमेंसे यह सब कटकर आया है. तुम ध्यानसे समझोगे तो समझ सकोगे.

इसके पहले अश्वत्थके भीतर तुम्हें अव्ययको समझना पड़ेगा. अर्थात् आधिभौतिकमें तुम्हें अध्यात्मको पहचानना पड़ेगा. और अध्यात्मके माहात्म्यको जब तुम पहचानोगे तब तुम्हें उसके भीतर रहा हुआ अधिदेव **यः क्रीडति**वाला क्रीड़ा करता तुम्हें दिखाई देगा. अतएव भगवान् क्रमशः वर्णन कर रहे हैं कि यह वृक्ष ब्रह्म है, इसकी शाखायें नीचे हैं और ऊपर भी हैं. इस ब्रह्मवृक्षकी डालियां केवल नीचे और ऊपर हैं ऐसा ही नहीं है, सब जगह प्रसरी हुई हैं.

कुछ टीकाकारोंको ऐसा विचित्र वर्णन देखकर डर लगता है कि ऊपर वृक्षकी जड़ है और नीचे वृक्ष है और ऐसे वृक्षकी जड़को और शाखाओंको कैसे काटना? ऐसा ब्रह्म कैसे

हो सकता है? और इस बातको समझना समझाना कैसे? तो कहते हैं कि अनुमान करो कि एक नदीके किनारों पर उगा कोई वृक्ष गिर जाये तो इसकी जड़ ऊपर हो जाती हैं और डालियां नीचे आ जाती हैं. अब इन डालियोंको अगर काटा नहीं जाये तो किनारेके ऊपर चढ़ा नहीं जा सकता. ऐसी ऐसी कल्पनायें करते हैं!

अरे भाई ऐसी ऐसी कल्पनायें करनेकी जरूरत नहीं है. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं उसे समझो. इसका ऊर्ध्वत्व इस अर्थमें नहीं है कि वृक्ष गिर गया हो तो उसकी जड़ ऊपर और डालियां नीचे हो गई. मूलमें समझनेकी बात यह है कि इस पुरुषोत्तमका जगत्के साथ बहुत कुछ संबंध हैं, जिसे निबन्धमें श्रीमहाप्रभुजी **ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते;** इन तीन शब्दोंमें वर्णित करते हैं. हमने उपदृष्टा अनुमंता भर्ता भोक्ता महेश्वर परमात्मा इस प्रकार गीताकारके शब्दोंमें परमात्माका संबंध देखा. इसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजीने भागवतके आधार पर दूसरे भी तीन संबंध दिखाये हैं कि वह परमतत्व हमारा ब्रह्म है. ब्रह्म है इसलिये चारों ओर है. ब्रह्म अर्थात् जो आजू बाजू, ऊपर नीचे सब जगहोंपर हो. और वह ब्रह्म चारों ओर है ऐसा ही नहीं, बल्कि हमारे भीतर भी है. इसका अर्थ यह कि यह परमात्मा है. जिस प्रकार हमारे भीतर हमारी आत्मा है. तो परमात्मा हमारी आत्माके अन्दर रहा हुआ कोई तत्व है. और भीतरमें भीतरकी यह वास्तविकता चारों ओर हो तो तत्पश्चात् तो कुछ रहा ही नहीं. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि अभी एक बात और बाकी रह गई वह यह कि भगवान भी हैं. भगवान चारों ओर नहीं होता वह तो ऊपर ही होता है, यह नीचे भी नहीं होता. अनुमान करो कि सोनेमें से जैसे आभूषण घड़ें तो सोना घढ़े हुयेके ऊपर नहीं होता, घढ़े हुयेके भीतर होता है. जो भूमि पर मकान बनायें तो मकान ऊपर होता है और भूमि नीचे होती है. यह ऊर्ध्वमूल इस अर्थमें ऊर्ध्वमूल है कि जगत

कि जगदीश या भगवान् और हमारा – संसारी या भक्त होनेका संबंध – ऊर्ध्वमूल संबंध है.

इस तत्वको ब्रह्मदृष्टिसे देखना हो तो उपनिषद दूसरे प्रकारसे वर्णन करता है : **तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाश संभूतः आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी** उस ब्रह्ममें से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशमें से वायु, वायुमें से अग्नि, अग्निमें से जल और जलमें से पृथ्वी उत्पन्न हुई. पृथ्वीमें से औषधि उत्पन्न हुई, औषधिसे अन्न और अन्नसे पुरुष उत्पन्न हुवा. अब यहां तो अन्तर्मूलता दिखाई देती है, ऊर्ध्वमूलता नहीं दिखाई देती. इस वर्णनमें बहिर्मूलता और न यह ऊंचा और ना ही हम नीचे. इसी तत्वका भगवान्के तौरपर वर्णन करना हो तो वह ऊंचा हो सकता है. परमात्मा हमारे भीतर भी है, प्रत्यङ्मुख भी है और विश्वतोमुख भी है. और यह दो ही हैं ऐसा ही नहीं है, भगवानका रूप तो ऊपर भी है. यह ऊपर तब हो सकता है जबकि कोई भक्त नीचे हो. वह तत्व भक्तके संबंधके कारण भगवान् बन जाता है. भक्त न हो तो भगवान भी नहीं होता. इस प्रकार इन दोनोंका परस्पर सापेक्ष संबंध होता है. उस कारण जब भगवद्भक्तके दृष्टिकोणसे सृष्टिका निरूपण करना हो तो सृष्टिका मूल ऊपर होता है. परमात्मनिष्ठके दृष्टिकोणके अनुसार इस सृष्टिका निरूपण करना हो तो उसका मूल भीतर होता है. उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीके दृष्टिकोणानुसार इस सृष्टिका निरूपण करना हो तो सृष्टिका मूल भीतर–बाहर–ऊपर –नीचे चारों ओर स्वीकारना एवं कहना चाहिये.

पहले मैंने जो गुरुनानककी बात कही थी वह मस्जिदकी तरफ पैर करके सो रहे थे तो उन्हें कहा गया कि पैर दूसरी तरफ कर लो तो इन्होंने कहा कि जिस तरफ अल्लाह न हो उस तरफ मेरे पैर करदो. ऐसी कोई दिशा है ही नहीं कि जहां अल्लाह न हो और उस तरफ पैर कर दिये

जायें. इस प्रसंगमें अल्लाहकी धारणा भगवान अथवा परमात्माके बजाय हमारे ब्रह्मकी धारणाके साथ अधिक संगत होती है. तो यह बात सच्ची है कि जब पुरुषोत्तमको अव्यय ब्रह्मके तौर पर देखना हो तब कोई भी ऐसी दिशा नहीं है कि जिस तरफ परब्रह्म विद्यमान न हो. लेकिन पुरुषोत्तमको जब भगवानके तौर पर देखना हो तो ऊपर देखना पड़ेगा. आज अमृतसरमें जो सुवर्ण मंदिर है, दूसरी जगह नहीं है? आज सिख एवं हिन्दू झगड़े और दुर्गियानादेवीके मंदिरके ऊपर बौम्ब चला दिया.

मैं एक सेमिनारमें गया था. वहां एक सरदारजी चंडीगढ़के प्रोफेसर भी आये थे. उन्होंने मुझे भोजन करनेकेलिये कहा. मैंने कहा कि मैं होटलमें नहीं खाता, सेमिनारमें तो आ गया हूं. तो उन्होंने मेरी खिल्ली उड़ाते हुये एक मजेदार बात कही कि मैं एक सेमिनारमें जा रहा था तो प्लेनमें एक दिल्लीके शर्माजी भी थे. यह बहुत पक्के ब्राह्मण थे. और हम अमेरिकाके टी.डब्लू.ए. में सफर कर रहे थे. जब खाना खानेकेलिये परोसा गया तो यह शर्माजी मेरी सीटके आगे बैठे थे और कुछ खा रहे थे. तो मैंने उनसे पूछा **क्यों शर्माजी यह जो तुम खा रहे हो वह तो गायका मांस है.** तो शर्माजी बोले कि **हमतो हिन्दुस्तानकी गायको माता मानते हैं अमेरिकाकी गायको नहीं. इसलिये खा रहे हैं.** उनकी इस बातको मैं समझ गया कि मेरी खिल्ली उड़ानेकेलिये यह कह रहा है. तो मैंने उसे जबाब दिया **सरदारजी ऐसा है ना कि अमृतसरमें जो मंदिर है वह तो भगवानका मंदिर है; दुर्गियानाका मंदिर कोई मंदिर है, उसे तो बम्बसे उड़ा सकते हैं ना.** तो वह कहने लगा कि हां हां बात तो सच्ची है. तब मैंने कहा **भाई हमारी सारी बातें ऐसी ही हैं, और हमें ऐसा ही लगता है.** अर्थात् नानकने जो बात कही उसमें केवल अमृतसरमें ही ऐसा नहीं होना चाहिये. इसका झगड़ा चल ही

रहा है कि अमृतसरके मंदिरमें बिराजे हुये सर्वव्यापी परमात्माकी ब्रह्मताको सरदारजी नहीं देख रहे हैं, लेकिन गुरुग्रंथ साहिबकी भगवत्ताको ही सरदारजी देख रहे हैं. और वहां भी यह ही सिद्धांत है कि एक ही तत्व ब्रह्म हो सकता है, परमात्मा भी हो सकता है और भगवान भी हो सकता है. अतएव जब हम इसके साथ भगवानके तौर पर वर्ताव करते हों तब..

अपना ही एक उदाहरण लो ना कि जब हमें जतीपुरामें श्रीनाथजीके मंदिरमें दर्शन करने जाना होता है तो गिरिराजजी पर्वत है, पुरुषोत्तम नहीं हैं; और गिरिराजजी तुम्हारे यहां सेवामें बिराजते हों तब वह भगवान होते हैं पर्वतकी कोई छोटी सी शिला नहीं. तब उसे पैर नहीं लगा सकते. उस समय गिरिराजजी भगवान बन जाते हैं. उसी प्रकार समझो कि यह पृथ्वी तो, हम जिसके आराधक हैं उस, विष्णुकी पत्नी है, वह पृथ्वी भगवानकी स्वामिनीजी हैं; इसे पैर लगा सकते हैं? लेकिन उसके ऊपर चलते हैं, फिरते हैं, अच्छी बुरी सारी क्रियायें करते हैं. और इसी पृथ्वीका स्वरूप मंदिरमें पधराया हुआ हो; हमारे उत्तरभारतमें तो यह पद्धति नहीं है लेकिन दक्षिण भारतमें यह पद्धति है. जैसे अपने यहां श्रीठाकुरजीके पास दो स्वामिनीजी बिराजती हैं वैसे ही दक्षिण भारतमें श्रीठाकुरजीकी दो स्वामिनीजीयोंमें एक स्वामिनीजीके तौर पर पृथ्वी नीलादेवीके रूपमें बिराजती है. इस नीलादेवीके पैर नहीं लगा सकते, क्योंकि वहां यह श्रीठाकुरजीकी स्वामिनीजीके तौर पर बिराजती हैं. अतएव वहां हमारी भगवद्दृष्टि है, ब्रह्मदृष्टि नहीं है. यही नीलादेवी जिसके ऊपर अभी हम उठते बैठते हैं, लेकिन इस पर पैर नहीं रखें तो कहां जायें? ऐसे ही श्रीयमुनाजीके चित्रजी पधराकर हम सेवा करते हैं तब श्रीयमुनाजीमें हमारी भगवद्दृष्टि होती है, लेकिन श्रीयमुनाजीका पान करने जाते हैं तब हमारे पैरमें

श्रीयमुनाजीका जल भी लगता है. उस समय श्रीयमुनाजीमें भगवद्दृष्टि नहीं होती लेकिन ब्रह्मदृष्टि होती है. तुम्हारे यहां तो यह रिवाज नहीं है लेकिन हमारे गोस्वामिबालकों में अभी भी इससे अधिक कठोर रिवाज है कि जितने गोस्वामिबालक लीलामें पधारते हैं उनका अस्थि विसर्जन श्रीयमुनाजीमें ही होता है. अब ऐसी मलीन वस्तुको श्रीयमुनाजीमें विसर्जित नहीं करना चाहिये, लेकिन हमारी ब्रह्मदृष्टि है कि हम श्रीयमुनाजीके जीव हैं तो हमारी अस्थि श्रीयमुनाजीमें विसर्जित नहीं हो तो कहां हो? तो श्रीयमुनाजीमें हमारी अस्थि विसर्जित होनी ही चाहिये. जतीपुराकी रजमें हमारी अस्थि विसर्जित होनी ही चाहिये क्योंकि हमें ऐसा लगता है कि हमारा शरीर जतीपुराकी रजसे बना है, ऐसा हमारा भाव है, अतएव वहां विसर्जन होना ही चाहिये यह हमारा एक भाव है. अब श्रीयमुनाजीमें, जतीपुरामें अस्थि विसर्जित होनी चाहियें अतएव जहां श्रीयमुनाजीकी सेवा बिराजती हो वहां अस्थि रख सकते हैं? नहीं रख सकते. रखें तो उत्पात खड़ा हो जाये.

थानके शाहबुद्दीन राठोड़ने एक मजेदार बात कही है. कोई कथाकार कथा कह रहा था और उसके मुंहमें से थूक निकल रहा था. श्रोताओंमेंसे किसीने उन्हें टोका तो यह बोला कि अरे मूर्ख ऐसे नहीं कहते; भगवानकी कथा कहते समय जो कथाकारके मुंहसे थूक निकलता है उसे तो गंगाजी समझना चाहिये. अब उसे पता नहीं था कि इस उपदेशका क्या परिणाम निकलने वाला है! तो जिसने पूछा था वह यह सुनकर सीधा घर गया, और वहांसे अपने पिताके अस्थिफूल ले आया और कथाकारसे कहा कि **जरा मुंह तो खोलो.** तो कथाकारने मुंह खोला और इस भाईने उसमें हड्डियां भरदीं और कहा **अब इन हड्डियोंको निकालना नहीं. क्योंकि मुझे तो कबकी मुसीबत लग रही थी कि कब गंगाजी जाऊं और कब अस्थि विसर्जन करूं? मुझे क्या पता था कि आपके मुंहमें ही**

गंगाजी बह रही हैं. इन महाराजने तो इसलिये मुंह खोल दिया कि शायद कुछ बरफी पेड़ा खिलाना होगा. पैसा खर्चकरके हरिद्वार जाना उसके बजाय तो मुफ्तमें काम हो गया. भला हुआ जंजालसे छूटा. छुटकारा भी हो गया और बापके प्रति कर्तव्य भी पूरा हो गया!

अरे ऐसी रीतिसे नहीं होता. कुछ तो विवेक रखना ही पड़ेगा कि कथाकारका थूक गंगाजल हो कि न हो. पिताके अवसानके बाद ऐसे तो अपने घरमें ही माता भी गंगास्वरूप कहलाती है तो मांके मुंहमें हड्डियां पधरानी नहीं होती!

ब्रह्मदृष्टि अलग दृष्टि है, परमात्मदृष्टि अलग दृष्टि है और भगवद्दृष्टि यह भी एक अलग ही दृष्टि है. ब्रह्मदृष्टिका व्यवहार भगवद्दृष्टिके प्रसंगमें नहीं होता और भगवद्दृष्टिका व्यवहार ब्रह्मदृष्टिके प्रसंगमें नहीं होता. जबकि जानना प्रत्येक प्रकारकी दृष्टिको जरूरी है. अंधेकी बजाय काना अच्छा होता है अतएव **अंधे नहीं तो काना तो हो** ऐसा हितोपदेश जिसकी दोनों आंखे ठीक हों उसे नहीं दिया जा सकता.

अतएव **ऊर्ध्वमूल.....''** वचनका प्रयोग भगवद्दृष्टिसे हुआ है नहींतो ब्रह्मके तौरपर तो पुरुषोत्तम सर्वत्र बिराजमान है ही. ब्रह्मदृष्टिसे देखेंगे तो सारा जगत् ब्रह्म ही है. अतएव लुच्चे, लफंगे जघन्यकक्षाके मनुष्योंको पुरुषोत्तमके तौरपर मान्य नहीं किया जाता.

पुरुषोत्तम कौन? श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्.** तो उस कृष्णको मानना किस प्रकार? श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट शब्दोंमें विधान करते हैं कि **आत्मानंदसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्.**

अर्थात् पू.पा. गो.बालकोंकी हवेलिओंमें वेतनप्राप्त भावहीन मुखिया भीतरिया बालभोगिया दूधघरिया पानघरिया फूलघरिया जलघरिया कीर्तनिया झापटिया और अन्तमें दर्शनार्थीयोंकी जेबमें से पैसा झटकने वाले भेंटियायों या समाधानीओं द्वारा

शोचनीय प्रकारसे घिरे हुये श्रीकृष्णके स्वरूपकी भक्तिको श्रीमहाप्रभुजीने आवश्यक नहीं गिना.

वैसी भक्तिकेलिये हृदयमें भावना जागृत होती हो तो भगवत्स्वरूपकी सेवा कहां करनी? श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **बीजदाढर्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णम्.** ऊपर बिराजे हुये गोलोक अथवा वैकुंठके नाथकी अपने घरमें सेवाभक्ति करनेका उपदेश भगवद्दृष्टिपर अवलंबित उपदेश है.

अविभक्त अव्ययके किसी भी एक अश्वत्थविभागके कैदखानेंमें अपनी दृष्टिको कैदी बनाकर भक्ति नहीं करनी चाहिये. भक्तिकी खूबी तो इसमें है कि जब सभी दृष्टियोंका यथोचित समावेश करके जो एक समग्रदृष्टि घड़नेमें आई हो उसके ऊपर भक्ति अवलंबित हो. यह केवल विद्यादृष्टि नहीं है, अथवा अविद्यादृष्टि नहीं है, केवल स्नेहकी दृष्टि नहीं है. तीनों दृष्टियोंका सुमेल जिसमें खिलता हो उसे तुम **वास्तविक भगवद्दृष्टि** कहो अथवा **वास्तविक भक्तिदृष्टि** कहो एक ही बात है. अपने भजनीय भगवान् अथवा इष्टदेवको जब कोई साधक ब्रह्मरूपमें अथवा परमात्मारूपमें नहीं देखता तभी गड़बड़ हो जाती है. वैसा मूढ़ साधक दूसरे सभी साधकोंके भजनीय भगवद्रूपों अथवा इष्टदेवोंके प्रति अपने भगवान् अथवा इष्टदेवको ईर्ष्याखोर मान लेता है. इतर् भक्तोंके साथ असहिष्णु बननेंमें अपना धार्मिक कर्तव्य मानने लगता है. आखिरमें भक्तिके बाह्य एवं आन्तरिक दिव्य लाभके बजाय ईर्ष्या–द्वेष–स्पर्धा– कलहकी मनोविकृतिसे ग्रस्त हो जाता है.

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः... न रूपमस्येह तथोपलभ्यते.... असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा :

अब यहां अगले श्लोकमें भगवान कहते हैं **अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः** अर्थात् इस ब्रह्मवृक्षकी शाखायें केवल नीचे

ही आती हैं ऐसा नहीं है; ऊपर भी गई हैं. और जो डालियां ऊपर गई हैं वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणपति इत्यादि अवतार, अलग अलग देवरूप हैं. उसी कारणही मुसलमान, ईसाई सब ऐसे कहते हैं कि भगवान्–परमात्मा स्वर्गमें हैं, हैवनमें हैं. यह सब पुरुषोत्तमकी ऊर्ध्वशाखायें हैं वैसे ही अधःशाखाओंके तौरपर विषयोंके कोंपल भी हैं. एक बात देखो कि ब्रह्मवृक्षमें जैसे वेदोंके पत्ते हैं उसी प्रकार विषयके कोंपल भी हैं. अतएव विषयोंके कोंपल द्वारा भी हम ब्रह्मको पहचान सकते हैं. जैसे सूफी सन्त ने कहा **क्या देखना है उसे पहले निश्चित करो.** वैसे हमें विषयोंको देखना है कि वेदोंको देखना है कि इष्टदेवताओंके दर्शन करने हैं. इसमें वेदवचनोंको देखोगे तो तुम पुरुषोत्तमको पहचान लोगे और विषयोंको देखोगे तो तुम पुरुषोत्तमका सिनेमा देखते रह जाओगे. वेदद्वारा उसे पहचानने जाओगे तो यह नित्यलीलाविहारी **यः क्रीडति**की तरह तुम्हें लगने लगेगा. दोनों प्रकारकी, विषय और वेदकी दृष्टि इसमें है. वेददृष्टिसे पुरुषोत्तम प्रकट होगा और विषयदृष्टिसे संसार प्रकट होगा. और जब संसार प्रकट होगा तब कर्मानुबंधी जो शाखायें हैं जो मनुष्योंमें फैली हुई हैं उसका वर्णन भगवान यहीं गीतामें ही करते हैं; क्योंकि इन विषयरूपी कोंपलसे देखने वाली दृष्टिसे हम जो कर्म करते हैं उन सबकी डालियां नीचे आ जाती हैं. इस प्रकारका विलक्षण यह एक ब्रह्मवृक्ष है.

और वास्तविकतामें देखोगे तो इस वृक्षमें रहा हुआ जो अव्यक्त एवं दिव्य तत्त्व और उसके भीतर रहा हुआ, जो **आधिदैविक तत्त्व** कहनेमें आता है, वह तो यहां विषयदृष्टिमें कहीं दिखाई नहीं देता. अर्थात् यह कहांसे उत्पन्न होता है अथवा कहां सुप्रतिष्ठित है अथवा कहां लीन होने वाला है वह हमें समझमें नहीं आता. अतएव यह जो अश्वत्थ, परिवर्तनशील पत्ते इसमें जो प्रकट हुये हैं, मनुष्यलोकमें, इसे तुम्हें असंगतताकी दृष्टिसे काटना पड़ेगा. असंगतताकी दृष्टिसे

काटना पड़ेगा अर्थात् श्रीमहाप्रभुजी बहुत सुंदर स्पष्टीकरण देते हैं कि ब्रह्मके जगतरूपको जान जाओ लेकिन जगतसें ब्रह्मरूपका आनन्द मत लो.

बातमें बहुत अन्तर है. जगतको ब्रह्मरूप जानना जरूरी है लेकिन जगतसे ब्रह्मरूपका आनन्द लेना जरूरी नहीं है. उसी कारण ब्रह्मको जगतरूप जान लेना जरूरी है लेकिन ब्रह्मका जगत रूपमें आनन्द लेना तो महागिलीन्डरीका काम है कि हम ब्रह्मको फिर जगद्रूपमें ही मानें. अपने भजनीय भगवत्स्वरूपकी, भक्ति करनी वह तो अच्छी नहीं लगती, परन्तु अपनी सेफकी रखवालीके साधनके तौरपर अच्छी लगती है. प्रसादके तौर पर मठडी–मोहनथाल अच्छे नहीं लगते लेकिन मठड़ी – मोहनथालका प्रसाद अच्छा लगता है. इसकेलियेही श्रीमहाप्रभुजी सिद्धान्तमुक्तावलीमें कहते हैं **लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवित सर्वथा.** तुम सर्वथा क्लेशही पाओगे. ब्रह्मको तुम जगद्रूप जानो और जगत्को तुम ब्रह्मरूप जानो लेकिन ब्रह्मका आनन्द तुम ब्राह्मिकरूपमें लो और जगत्का जागतिकरूपमें आनन्द लेना हो तो लो, यह तुम्हारी लाचारीकी अवस्था है, लेकिन कमसे कम जगत्के आनन्दको ब्राह्मिक आनन्द तो मत ही मानो. अतएव जगत्को ब्रह्मरूप जानना वह तो है माहात्म्यज्ञानके कारण; और ब्रह्मका आनन्द उस परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्णकेलिये सुदृढ़सर्वतोधिक स्नेहके कारण संभव है. अतएव श्रीमहाप्रभुजीने यहां पुष्टिभक्तिके गर्भितार्थका संकेत इस स्पष्टीकरणमें दे दिया है. जगतको ब्रह्मरूप जानकर ब्रह्मके ब्राह्मिक आनन्द पानेका कुछ उपक्रम हमें करना चाहिये कि जिससे हम परमात्माका आनन्द ले सकें. परमात्माका आनन्द लेना आयेगा तो भगवद्भक्तिको जीवनमें लानेका अधिकार हमारा सिद्ध हो जायेगा.

भगवान आज्ञा करते हैं कि इस अव्ययको नहीं काटना है लेकिन अश्वत्थको काटना है, असंगतताके शस्त्र द्वारा.

असंगशस्त्र शब्दका एक समस्त अर्थबोध है कि असंग अर्थात् वृक्षको काटना नहीं है लेकिन वृक्षके विषय कोंपलोंकेलिये अपने भीतर जो लगन पैदा हो गई है उसे काटना है. जैसे एक बात समझो कि हम सिनेमा देख रहे हों और उसमें कोई भयंकर सीन आये जिसमें हमारा संग ऐसा प्रकट हो जाये कि सिनेमाके परदेके ऊपर हम ईंट पत्थर फेंकने लग जायें. अथवा रामसीताके सीनमें हमें बहुत आदर भाव आ जाये और हम इन रामसीताको हार पहराने जायें तो यह माला कि हार उनके गलेके ऊपर जानेवाली नहीं है. ये तो परदेके ऊपर टिकनेवाली भी नहीं है लेकिन गिरनेवाली ही है. अतएव पत्थर फेंकोगे तो उसे तो लगनेवाले नहीं हैं. भले ही परदा फट जाये और यह फिल्म दीखनी बंद हो जाये. अतएव सिनेमामें तुम्हें कोई सुख दुःख होता हो तो दूर करनेका उपाय एक ही है – असंगता. अर्थात् समझ लेना चाहिये कि सब कुछ दिखाई दे रहा है, लेकिन हो कुछ भी नहीं रहा. ऐसा असंगभाव रखोगे तो निराकरण हो जायेगा.

मैं अपनी छोटी बेटीको फिल्म दिखाने लेगया **20000 लीग्स् अन्डर द सी.** इस फिल्ममें ऐसा था कि बहुत सारे वैज्ञानिक पानीमें नीचे जाते हैं. समुद्रमें नीचेके बहुत सुंदर सुंदर दृश्य थे. तो उसे तो बहुत मजा आ गया. समुद्रके तलमें वैज्ञानिकोंको खानेकेलिये क्या? तो वैज्ञानिकोंने समुद्रके तलमें रहे हुये कछुओंको पकड़ना चालू किया, ऐसा सीन फिल्ममें दिखाया गया. तो मेरी बच्ची छोटी थी तो उसने पूछा **काका, इन कछुओंको क्यों पकड़ रहे हैं?** मैंने कहा **खानेकेलिये.** अब तो बच्चीको रोना आ गया और कहने लगी मुझे तो फिल्म नहीं देखनी. उसका संग हो गया. उसे लगा होगा कि यह वैज्ञानिक कछुओंको खानेकेलिये पकड़ रहे हैं तो शायद कल मुझे खानेकेलिये अथवा पकड़नेकेलिये तो नहीं आ जायेंगे? बादमें तो वह खूब ही रोने लगी. अतएव मुझे सिनेमाके बाहर

निकलना ही पड़ा. अर्थात् संग हो जाये तो ऐसा घोटाला हो ही जाता है. तो इस सीनका जो संग हैं उसके साथ अपना असंग हो गया हो तो उसका निराकरण हो जाता है और संग हो जाये तो महापंचायत हो जाती है.

मूल बात समझनेकी है कि जो अश्वत्थ वृक्ष है उसे असंगताके शस्त्रसे काटना है. असंगताके शस्त्रसे कैसे काटना इसका सिद्धान्त श्रीमहाप्रभुजीने हमें बहुत सुंदर बताया है **ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यं ब्रह्म जगतो अतिरिच्यत इति न तत्र आसक्तिः कर्तव्याः** अर्थात् इसमें आसक्ति मत करो. आसक्तितो परमात्मामें ही करो. परमात्मामें करोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि किस प्रकार इस ब्रह्ममेंसे यह आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक जगतकी लीला चल रही है.

बहुतसे लोग ऐसे कहते हैं कि हम प्रसाद लेनेकी ना कहते हैं. लेकिन हम प्रसाद लेनेकी ना नहीं कहते. जो समर्पित हो तो ही तो उसका प्रसाद लेना चाहिये, अनप्रसादी लेना ही नहीं चाहिये. लेकिन देवद्रव्यका प्रसाद लेना यह प्रसाद लेना नहीं है, यह तो प्रस्वाद लेना है. क्योंकि एक बात ठीक तरहसे समझो कि हम अपनी बेटीके यहांका कुछ लेते नहीं है यह कोई बेटीके प्रति द्वेष भाव नहीं है लेकिन बेटीको बेटीके तौर पर स्वीकारनेका भाव है. और जब देवको देवके तौरपर हम स्वीकारते हैं तो हमें देवद्रव्य नहीं लेना चाहिये. बाकी जो देवद्रव्य द्वारा बनाया गया न हो अपने द्रव्यसे अपने प्रभुको भोग धरा हो तो प्रसाद लेना ही चाहिये. लेकिन देवद्रव्यसे धरे हुयेका प्रसाद अपने यहां नहीं लिया जाता. जिसकेलिये श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं **सोनेकी कटोरी हती सो तो देवद्रव्य हतो और मेरो व्हैके जो देवद्रव्य खायगो सो महापतित व्हे जायगो, मेरो नाहि कहावेगो.** इसलिये देवद्रव्यका प्रसाद लेनेकी मनाई है, प्रसाद लेनेकी नहीं. जानबूझ कर बातका बतंगड़ बनाया जाता है कि प्रसाद लेनेकी मनाई करते

हैं. **देवका जो द्रव्य है उसका प्रसाद नहीं लेना,** देवद्रव्य नहीं लेना. और जब श्रीमहाप्रभुजीने कहा **जो देवद्रव्य खायगो सो महापतित व्है जायगो, मेरो नाहिं कहावेगो.** तब तुम जो वल्लभी सम्प्रदायके होकर देवद्रव्य खाओ तो तुम वैष्णव कैसे? समझ ही नहीं आती **जेओ लेता होय ते वैष्णवो केवा रे?! अमे ऐवा रे अमे ऐवा रे.**

कड़ीवाले राजेशबाबाने मुझे एक बात सुनाई थी. वह किसी वैष्णव भाईको बाजारसे जरूरी सामग्री लानेकेलिये पैसे देते. वह भाई चार रुपयेकी चीज आठ रुपयेमें लाता. राजेशबाबाको एक दिन यह बात ध्यानमें आ गई. अतएव उन्होंने उस वैष्णवसे पूछा **भाई, तुम हमारे दादाजीके सेवक हो इसलिये तुम्हारे ऊपर भरोसा करके तुमसे सामग्री मंगाई और तुम चारके बजाय आठ रुपये लेते हो. यह तो कोई अच्छी बात नहीं है.** तो उस वैष्णवने कहा **गांवमें तो सभी तामसी द्रव्य है और दैवीद्रव्य तो केवल आपका ही है; तो आपका नहीं खायें तो बुद्धि सुधरेगी ही नहीं.** यह हवेलीवादी लोग भी यही तो कहते हैं – गांवका द्रव्य तो मानवद्रव्य है; देवका द्रव्य खायेंगे तो हमारी बुद्धि सुधरेगी! मुझे तो ऐसा नहीं लगता. श्रीमहाप्रभुजीके वचनमें निष्ठा रखकर हम ऐसा मानते हैं, कि जो हमारा द्रव्य हो उसे प्रभुको समर्पण करना चाहिये. जो श्रीठाकुरजीका द्रव्य है उसे अपनेलिये श्रीठाकुरजीकी ओरसे समर्पणके नामपर पचा नहीं लेना चाहिये. इस बातका ध्यान रखना चाहिये. इन दो बातोंमें गड़बड़ी मत करो.

अश्वत्थवृक्ष और अव्ययवृक्षके स्वरूपको समझनेकेलिये हमने तीन उदाहरण लिये थे – एक लीलाका, दूसरा नाटकका और तीसरा सिनेमाका. उन सब लीलाओंके उदाहरणों द्वारा हमने एक बात समझी कि जहां पात्र एवं अभिनेता अलग नहीं होते; जो अभिनेता है वह स्वयं ही पात्र भी है और जो पात्र है वह ही स्वयं अभिनेता है. उदाहरणार्थ

किसी ऐसे नाटककी तुम कल्पना करो कि जिसमें कहानी उस अभिनेताकी ही कहनी हो कि जो अभिनेता स्वयं उसमें काम कर रहा है. तो अब इसमें मेकअपकी कोई जरूरत नहीं पड़ेगी. अब तो दूसरे किसी प्रकारसे स्वयंके व्यक्तित्वको दिखानेकेलिये भी अभिनेताको जरूरत नहीं पड़ती. सोचो कि श्याममनोहर कोई नाटक हो रहा हो तो पात्र श्याममनोहर एवं मैं स्वयं ही इसमें अभिनेता बन जाऊं तो मुझे किसी मेकअपकी जरूरत नहीं है. जैसा मेरा वेश यह है वैसा ही वेश नाटकमें होगा. जिस प्रकार मैं यहां बोल रहा हूं उसी प्रकार वहां भी बोलना है. जो कुछ कर रहा हूं वह ही करना है. अर्थात् जहां अभिनेता एवं पात्र दोनोंमें भेद नहीं होता. अभिनेता स्वयं ही अपना अभिनय कर रहा है, दूसरे किसी औरका अभिनय नहीं कर रहा.

अभिनेताको अभिनेता इस कारण कहा जाता है कि वह तुम्हें अपने अभिनय द्वारा पात्र तलकले जाता है. पात्र स्टेजके ऊपर नहीं होता, लेकिन अभिनय अर्थात् दर्शकको पात्र तलक ले जाना. इस प्रकार बहा कर ले जाना कि तुम अभिनेताको देखते हो सुनते हो, लेकिन तुम्हें ऐसा नहीं लगता कि तुम असली पात्रको नहीं देख रहे, असली पात्रको नहीं सुन रहे. अर्थात् सीताजीका अभिनय करें तो लोगोंको लगे कि साक्षात् सीताजी आ गईं. इसलिये ही सीताका अभिनय करने वाली दीपिका चिखलियाके लोग चरणस्पर्श करने लगे. अर्थात् इसके अभिनयकी श्रेष्ठता है. अरुणगोविल कोई राम नहीं, लेकिन यह आये तो लोगोंको जयश्रीराम कहनेकी इच्छा हो जाये. यह उसके अभिनयकी श्रेष्ठता. क्योंकि अरुणगोविल हमें राम तलक ले गया. इसके अभिनयसे यह पात्र तलक हमें ले गया. तो इसमें पात्र एवं अभिनेता अलग हैं. अरुण यह अरुणगोविल है और राम यह राम है. तो जहां अभिनेता एवं पात्र अलग हुये वहां नाटक.

और जहां अभिनेता एवं पात्र एक ही हैं, स्वयं ही स्वयंका अभिनय कर रहा है, कुछ बदलता नहीं. किसीको दिखाना नहीं, कुछ करना नहीं, हृदयका आनंद छलक रहा है अर्थात् बस लीला प्रकट हो गई. यह जो लीला है यह लीला अर्थात् परमतत्व जो एक है वह अनेक होना चाहता है. और ऐसी सामर्थ्य इसमें है. इसे अपनी परिभाषामें **बहुभवनसामर्थ्य** कहते हैं. तो बहुभवनसामर्थ्य जो भगवानमें है कि **एकोहं बहुस्याम् प्रजायेय.** अर्थात् एक हुं अनेकरूप बनूं. अगर हम बनना चाहें तो नहीं बन सकते. हमेंतो अपने सामने बहुतसारे शीशे धरने पड़ेगे और बादमें हम अपने अनेक रूप धारण कर लें इस प्रकार तो हम अनेक रूपोंमें प्रकट हो सकते हैं प्रतिबिंबमें. यह सब मिथ्या होते हैं, पारमार्थिक नहीं होते. सूरदासजी इसके लिये कहते हैं कि **जैसे श्वान कांचमंदिरमें भसी भसी जाय मर्यो.** तो ऐसे अनेक रूप धारण करके मैं मेरे साथ झगड़ा करने बैठ जाऊं, अरे तुम कहांसे आये, तुम कौन? ऐसा अगर मैं करूं तो लोग मुझे पागल कहेंगे. तो इस प्रकार मैं अनेकता प्रकट कर सकता हूं लेकिन वे पारमार्थिक नहीं होंगे. जो बड़की अनेकता है कि एक बड़ अनेक बड़ बन सकता है और यह होते हुये भी बड़पना नहीं खोता, तो यह लीला.

जहां ऐसी सामर्थ्य छिप जाती है वह नाटक. अभिनेताकी सामर्थ्य, अभिनेताका स्वरूप, अभिनेताका व्यक्तित्व छिप जाता है और पात्रका व्यक्तित्व–स्वरूप–भाषा वगैरह प्रकट हो जाती हैं उसका नाम नाटक. और इसके बादमें तीसरा सिनेमा, जिसमें भाषा–व्यवहार– मेकअप सब दिखाई देता है लेकिन होती है खाली स्क्रीन, उसके सिवाय कुछ नहीं होता. ना होता है अभिनेता और न होता है पात्र; भले ही सब कुछ दिखाई सुनाई दे रहा है.

पहले जिसकी बारेमें बातकी थी उस सूफीसंतके उदाहरण द्वारा कि हम जो कुछ देख रहे हैं उनमें दो वस्तु एकत्रित हो गई हैं. जो वास्तवमें दिखाई देती हैं वह और हम उसमें जो देखना चाह रहे हैं वह. तो जो हम देखना चाह रहे हैं उसका चश्मा पहरकर हम दिखाई देती वस्तुको देख रहे हैं. हरा चश्मा पहरकर, दुनियांमें जहां हरियाली नहीं है, वहां भी हरियाली देखनेमें आंखोंको ठंडक पहुंचती है. वह ठंडक हमें दुनियांमें दिखती अच्छी लगती है. यह ठंडक दुनियांमें जैसी अच्छी लगती है अर्थात् यह हरियाली दुनियांमें नहीं है तो भले नहीं है लेकिन हमने आंखोंके ऊपर हरियाली चढ़ा रखी है. बादमें हरा चश्मा पहनकर दुनियांको देखें तो दुनियां जैसी है वैसी नहीं दिखती लेकिन आंखोंके ऊपर चश्मा चढ़े होनेके कारण हरी दिखाई देती है. तो जो देखना चाह रहे हैं वह ही दिखाई देता है. तो आधिभौतिक जो जगत है उसमें भी ऐसी ही कुछ वीणा बज रही है. जो दिखती वस्तु दिखाई दे रही है वह एक और दूसरी वह जो हम वहां देख रहे हैं वह. इसका उदाहरण पहले ही दे चुके हैं कि कोई सुंदर स्त्री हो और वह शेर चीतेके सामने आये तो उसमें उसके सौन्दर्यकी कोई कीमत नहीं, शेर चीतेको तो वह खाली खानेकी वस्तु ही नजर आयेगी, वह तो निर्विकार भावसे खा लेगा. और कोई कामुक होगा उसे अपनी कामवासनाके कारण उसका सौन्दर्य नहीं दीखेगा लेकिन अपनी कामवासनाको पूरी करनेका कोई साधन है, यही दिखाई देगा. शिवाजीकी कथामें आता है कि शिवाजीके सैनिकोंने कोई मुसलमान स्त्री पकड़ ली. वह देखनेमें इतनी सुन्दर थी कि शिवाजीके दरबारमें जब उसे हाजिर किया गया तब शिवाजी एकदम टकटकी लगा कर उसे देखने लगे. तब उस स्त्रीने कहा कि मैंने तो ऐसा सुना था कि तुम बहुत संयमी प्रकृतिवाले राजा हो लेकिन मुझे पता नहीं था कि आपकी दृष्टि इतनी खराब है. तब शिवाजी ने

कहा कि **मैं तो यह देख रहा हूं कि अगर मैं तुम्हारा बेटा होता तो मैं भी तुम्हारा जितना सुंदर होता.** अब स्त्रीका सौंदर्य तो जैसा है वैसा है लेकिन शिवाजीके देखनेमें उसमें मातृभाव स्फुर रहा है.

जो दिखता है वह और जो हम देख रहे हैं, उन दोनोंकी खिचड़ी बनती है. जो शुद्ध दिखाई दे रहा है उसे हम शुद्ध प्रकारसे देख नहीं सकते और जो देखना चाहते हैं उसे भी हम सादे परदेपर देख सकें ऐसी हमारी एकाग्रताकी सामर्थ्य नहीं है. सुंदरमाता कैसी होती है उसे देखनेकेलिये कोई सुंदर स्त्री तो होनी चाहिये ना. शून्यमें सुंदरमाताकी कल्पना करनी बेकार बात है. इतनी हमारे चिंतनकी अथवा योगकी सामर्थ्य नहीं है. अतएव योगकी साधनामें इसकी खास ट्रेनिंग देनेमें आती है कि तुम्हें जो देखना है उसका तुम मानसी रूप घड़ो. इस मानसी रूपको घड़ कर तुम खुली आंखसे देखनेका प्रयास मत करो लेकिन आंखोंको मींचकर उसे देखनेका प्रयास करो. जिसे ध्यान–धारणा कहा जाता है. अयोगीकी तो, यह ध्यान–धारणा, उसकी वासनाओं द्वारा नियंत्रित होती है. इस प्रकार देखनेवाला हरेक मनुष्य योगी ही है, ऐसा कोई मनुष्य नहीं है कि जो योगी नहीं है. अन्तर केवल इतना है कि अगर अपनी ध्यान–धारणा अपनी वासनाओं द्वारा नियंत्रित होती हो तो हम भोगी, जोकि हम सब हैं. हमारी वासना हमारे ध्यान–धारणाकी सामर्थ्यसे अगर नियंत्रित होती है तो हम वास्तविक योगी. बस इतना ही अन्तर है. जो मानसी रूप हमने हृदयमें धारण किया और उसे धारण करनेके बाद यह रूप अपनी आंखोंमें इतना अधिक भर गया होना चाहिये कि बादमें खुली आंख द्वारा भी हम वह मानसी रूप देख सकें. अतएव जैसे शिवाजीने खुली आंखसे उस रूपवती स्त्रीको देखा तो उसमें उन्हें माता दिखाई दी. उनकी रूपवती माताकी ध्यान–धारणा कितनी प्रबल होगी!

इसकेलिये ही योगमें ऐसा कहनेमें आता है कि तुमने जैसा ईश्वरका रूप ध्यान–धारणासे मनमें घड़ना हो वह घड़ो और घड़नेके बाद उसका चिंतन इतना प्रबल बनाओ कि तुम्हारी वासना इसे भगा न दे परन्तु तुम्हारी वासनाके ऊपर इसका साम्राज्य सिद्ध हो जाये. तुम्हारी वासना, तुमने जो हृदयमें रूप धारण किया है, उसके नियंत्रणमें आ जाये, बादमें तुम आंख खोलोगे तो भी तुम्हें खुली आंखोंसे वह रूप जगत्में दिखाई देगा. योगकी साधनाका रहस्य ध्यान–धारणाका कुछ ऐसा ही होता है. अर्थात् वासनासे नियंत्रित ध्यान–धारणा एवं ध्यान–धारणासे नियंत्रित वासना इनमें बहुत कुछ अन्तर होता है. जैसे अपनी शारीरिक वृत्तियोंसे उत्पन्न होती समाधि वह निद्रा और अपनी ध्यान–धारणाकी सामर्थ्यसे उत्पन्न होती निद्रा उसका नाम समाधि. जो निर्विकल्प समाधि है यह एक प्रकारकी निद्रा ही है. लेकिन ये निद्रा आंख मींचकर होनेवाली निद्रा नहीं है. खुली आंखोंसे, खुले कानोंसे, खुली नासिकासे, खुली त्वचासे, ऐसी एक निद्रामें पहुंच जानेकी सामर्थ्य है. सब खुला हो लेकिन मनुष्य अपनी निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो अर्थात् बाहरका कोई भी विषय इसमें दुःखसुख उत्पन्न न कर सके, इसे उद्विग्न न कर सके.

स्वामी दयानंद सरस्वतीके एक कथानकमें पढ़ा था कि हरिद्वारमें सर्दीके दिनों वह खाली बदन बैठे थे. किसी अंग्रेजने इनके पास आकर पूछा कि अरे! इतनी सर्दी पड़ रही है और आपको सर्दी नहीं लगती? दयानंद सरस्वतीने बहुत मजेदार बात उससे पूछी कि इतनी ठंड लग रही है तो आपको आपके मुंह पर ठंड क्यों नहीं लग रही? अंग्रेजने कहा कि मुंहको तो अभ्यास पड़ गया है ठंडको झेलनेका. तब दयानंदजीने कहा कि जो अभ्यास तुमने अपने मुंह पर किया है उसका अभ्यास मेरे पूरे शरीरको पड़ गया है. मूल बात अभ्यासकी है. ठंड तो जो पड़ रही है वह तो पड़ ही रही है. मुझे भी किसी समय

कुछ न कुछ ऐसा ही करनेमें मजा आता है. एक बार मैं जब बर्फ पड़ रही थी तब गुलमर्ग काश्मीर गया. पहले तो बहुत घबराहट हुई. बर्फ पड़ती कभी देखी नहीं थी. घबराहट भी बहुत हुई और ठंड भी बहुत लगी. थोड़ी देर बाद मैंने समझनेका प्रयास किया कि यह है क्या? बाद में वास्तवमें, इतनी ठंड लगनी बंद हो गई. उसके बाद तो मैंने शॉल जो ओढ़ रखी थी वह भी उतार दी और ऐसे ही फिर रहा था. इतनेमें एक मिलीटरी ऑफीसर वहां आया और उसने मुझसे पूछा कि तुम कोई योगी महाराज हो? मैंने कहा कि नहीं. मैं तो गृहस्थ हूं. उसने फिर पूछा कि कुछ बोतल तो नहीं चढ़ा रखी है? मैंने कहा कि नहीं भाई बोतल भी नहीं पी. तो उसने कहा कि इतनी अधिक बर्फ पड़ रही है और आप खाली बदन कैसे खड़े हो? मैंने कहा कि आपको कदाचित इसी बातकी ही खबर होगी कि या तो दारू पीकर ठंड नहीं लगती या फिर योगीको ठंड नहीं लगती; लेकिन तुम भी कपड़े उतार दो तो तुम्हें भी ठंड नहीं लगेगी. कपड़े पहरे हो इसलिये ठंड लगती है. एक बार उतार दो तो तुम्हें भी ठंड नहीं लगेगी. यह जानवर जो कपड़े नहीं पहनते उन्हें कहां ठंड लगती है? उन्हें नहीं लगती. हम कपड़े पहरते हैं इसलिये लगती है. अभी स्वेटर पहनों तो फिर ऊनी कपड़े पहनने पड़ेगें, ऊनी पहननेके बाद चमड़ेके पहनने पड़ेगें. जैसे जैसे कच्चे पड़ते जायेंगे वैसे वैसे अधिक ठंड लगती जायेगी. एक बार निश्चय करो कि हमें तो ऐसे ही रहना है; जितनी ठंड लगती हो तो लगे. बादमें तुम ठंडको भी जीत लोगे.

जितने भी सुखदुःखके विषयोंके अपनी इन्द्रियोंके ऊपर होते आक्रमण हैं, इन आक्रमणोंसे हम घबरा जाते हैं अपनी वासनाओंके कारण. वासनाओंके कारण हम घबरा जाते हैं. अर्थात् यह हमारे सिरपर और ज्यादा चढ़ती हैं. अगर शांत चित्तसे विचारोगे तो वासनाओंके आक्रमण बिल्कुल कुत्तेके जैसे

होते हैं. कुत्ता भौंके और तुम भागो तो तुम्हें काटे बगैर नहीं रहेगा. और कुत्ता भौंकता हो तो उसे भौंकने दो. भले ही तुम घबरा रहे हो तो भी जरा हिम्मतसे पैरोंको जोरसे पटकते चलो तो कुत्ता तुमसे डर जायेगा. यह विचारेगा कि यह डरा नहीं अतएव इसमें कुछ होना चाहिये. फिर तो उसे ही डर लगने लगेगा. अतएव मोटे तौरपर बहुतसे कुत्ते पहले भौंककर मनुष्यको जान लेते हैं कि वह डरता है कि नहीं. आदमी अगर बगैर घबराये चलता रहे तो यह धीरे धीरे भौंकना बंद कर देगा और चला जायेगा. सब विषयोंकी प्रकृति कुत्ते जैसी ही होती है. रूप हमारी आंख पर इतनी भौंका भौंकी करता है कि आंख डर जाती है और सरेन्डर कर देती है. **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** जो सुन्दर आवाजें होती हैं वो कानके ऊपर इतनी भौंकाभौंकी करती हैं कि कान सरेन्डर कर ही देता है. सुंदर सुगंधके सामने अर्जुनकी तरह नाकको शरणागति लेनी ही पड़ती है. और बादमें इन आंखको, कानको, नाकको वह काट लेता है अगर हम शरणागत नहीं होते तो. तो उसके लिये कुछ सामर्थ्य होनी चाहिये. और यह सामर्थ्य हमें तब मिलती है जब इन विषयोंके बारेमें कुत्तेका डर न हो, वैसी निर्भीकता दिखानी. भयकी वासना न हो तो कुत्ता काट ही नहीं सकता. इस प्रकारही हमें विषयोंकी वासना न हो तो फिर विषय हमें काट नहीं सकते. ऐसी स्थिति है.

अतएव विषयोंसे डरकर विषयोंकी शरणागति जो स्वीकारता है वह विषयवासना द्वारा ही देखता है. अतएव विषय भी दिखाई देता है और साथ साथ अपनी इन विषयोंके प्रति वासनाके कारण जो रूप हमने घड़ा था वह रूप भी दिखाई देता है. अब तुम शिवाजीकी तरह सद्वासनाका रूप घड़ो तो तुम्हें उस सुंदर स्त्रीमें माता दिखाई देगी, सुंदर स्त्रीमें तुमने कामवासनाका रूप घड़ा तो यह तुम्हें कान्ता जैसी दिखाई देगी, सुंदर स्त्रीमें तुमने वात्सल्यकी वासना घड़ी तो

तुम्हें वह बेटी जैसी दिखाई देगी. तुम किस प्रकारकी वासना घड़ते हो उसके ऊपर सब निर्भर है. बाकी सौन्दर्य तो तुम्हें दिखाई देगा ही. बाकी खुली आंखमें जो सुंदर हो वह सुंदर दिखता है और जो सुंदर न हो तो वह असुंदर दिखाई देता है. कोई सुंदर सुंदर दिखाई देता है कि असुंदर असुंदर दिखाई देता है उसके साथ साथ हमारी वासनाओंके अनुसार वह हमें बेटी जैसी लगती है, बहन जैसी लगती है, माता जैसी लगती है यह सब दृश्य और दृष्टिकी मिलावट है. जबकि जिसकी जैसी मुखाकृति है वैसी दिखे और उसका सुंदर कि असुंदर दिखना भी अपनी सौन्दर्यदृष्टि अथवा सौन्दर्य बोधकी वासनाओं द्वारा ही निर्धारित होता है. उस अंशमें, परन्तु, इस उदाहरणको इतना आगे बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है.

जैसे आदत पड़नेके बाद हमारा चश्मेंका भाव इतना दृढ़ हो जाता है कि हमें चश्मा दिखाई नहीं देता और चश्मेंसे विषय ही दिखाई देता है. तो जैसे मैंने पहले उदाहरण दिया था कि प्रारम्भमें चश्मा तुम पहरो तो विषय बादमें दिखाई देगा परन्तु चश्मा पहले दिखाई देगा. उसी प्रकार अपनेमें कोई नई वासना उत्पन्न हो, चाहे वह सद्वासना हो कि असद्वासना, उसके मुताबिक ही हमें सब कुछ दिखाई देता है, शुद्ध विषय दिखाई नहीं देता. विषयोंकी ध्यान–धारणा निरन्तर करलें बादमें यह वासनायें हमारी आंखके ऊपर, कानके ऊपर, जीभके ऊपर एक चश्में जैसा काम करने लगती हैं, अर्थात् आधिभौतिक जगत्में जो दीख रहा है वह विषय और वासना दोनों दिखती हैं.

सद्वासना हो या असद्वासना, लेकिन कोई ऐसा मजनू भी होता है कि जिसे खाली वासना ही दिखाई देती है, विषय दीखता ही नहीं. इसके लिये कहा जाता है कि शीरी बहुत ही काली थी लेकिन फरहादको काली बदसूरत नहीं दिखती थी.

उसे तो वह अपनी प्रियतमा ही दिखती थी. क्योंकि इसके प्रेमकी वासना शीरीकेलिये बहुत प्रबल थी. इसकेलिये मुसलमानोंमें इस बारेमें एक बहुत सुंदर उदाहरण प्रसिद्ध है कि एक समय इनके कोई धर्मोपदेशक शेख नमाज पढ़ रहे थे, तो वहां लैलाको खोजते खोजते मजनू उनके सामनेसे निकल गया. उसे विचार नहीं रहा कि शेख नमाज पढ़ रहे हैं अतएव वह उनके सामनेसे निकल गया. शेखको गुस्सा आया और बोला **अरे! मैं अल्लाहकी नमाज पढ़ रहा हूं और तू मेरे सामनेसे बेअदब होकर निकल गया? तुझे ख्याल नहीं है कि कोई नमाज पढ़ रहा हो तो उसके सामनेसे बेअदब होकर नहीं निकलते!** जैसे अपने यहां भी दंडवत करनेवाले और ठाकुरजीके बीचमें समझदार लोग खड़े नहीं रहते. लेकिन मजनू तो मजनू ही ठहरा. उसे तो लैलाकी ही खाली वासना है, धार्मिक कि सामाजिक व्यवहारकी नहीं. उसने जब शेखको गुस्सा होते देखा तो उसने उससे पूछा **तुम नमाज पढ़ कर किसे खोज रहे हो?** शेखने कहा **मैं अल्लाहको खोज रहा हूं.** मजनूने कहा **माफ करना भाई, मैं भी अपनी लैलाको खोज रहा हूं. लेकिन इस खोजमें मुझे यह ख्याल नहीं रहा कि आप भी अल्लाहको खोज रहे हैं. लेकिन आपको यह कैसे पता चला कि मैं आपके आगेसे निकल रहा हूं?** तो शुद्ध वासनाकी मस्ती ऐसी ही होती है. जब ऐसी खोजनेकी मस्तीमें खोजते हैं तो कौन आगेसे निकला और कौन पीछेसे, इसकी परवाह ही नहीं रह जाती. शेखको विचार आया कि लैलाको खोजने वाला मेरे सामनेसे निकल रहा है लेकिन मजनूको यह विचार नहीं आया कि मैं उस शेखके आगेसे निकल रहा हूं जो कि नमाज पढ़ रहा है. यह अपनी प्रियतमाको खोजनेकी शुद्ध मस्ती है. व्यक्ति या विषय बिना अपनी केवल वासनासे ही प्रेरित हो तो पक्का मजनू बनना पड़ेगा, तब ही काम चलेगा. अतएव एक प्रकारकी स्नेहकी व्यसनदशा कि मानसीदशा कि उन्माददशा

कहें ऐसी उत्तम अवस्थाको, गाढ़ कोटिका स्नेह जब तलक सिद्ध न हो वहां तलक शुद्ध वासनामें कोई बिरला ही जी सकता है. जो साधारण मनुष्य जीता है वह विषय और वासना दोनोंमें एक साथ जीता है. सामान्य मनुष्य केवल विषयमें जी नहीं सकता अथवा केवल वासनामें भी जी नहीं सकता.

अतएव श्रीमहाप्रभुजी हमें एक बात समझाते हैं कि यह जो आधिभौतिक जगत् है वह दो प्रकारसे घड़ा हुआ है – एक जगत् जैसा है वैसा और दूसरे जगत्को हम जिस प्रकार समझ रहे हैं वैसा. जगत जैसा है वैसा वह तो ब्रह्मात्मक है और जगतको हम जिस प्रकार समझ रहे हैं वह ब्रह्मात्मक नहीं लेकिन अहंता–ममतात्मक है. मैं अपने अहम्के चश्मेको चढ़ाकर सारे जगत्को देख रहा हूं. मैं मेरी ममताके चश्मेको चढ़ाकर सारे जगत्को देख रहा हूं. अतएव मेरी अहंता और मेरी ममताकी वासनाके साथ मुझे यह सारा जगत् दिखाई दे रहा है. शुद्ध, अहंता–ममताकी वासनाके बिना, जगत् देख सकना बहुत मुश्किल काम है. शुद्ध अहंता–ममताकी वासनाको ही देखना और जगतको नहीं देखना यह भी बहुत मुश्किल काम है. यह कोई साधारण काम नहीं है. कोई बिरला आसुरी व्यक्ति ही ऐसे देख सकता है. क्योंकि हमारी अहंता और ममता इतनी समर्थ नहीं हैं.

अभिनवगुप्तका पहले मैंने उदाहरण दिया था उसमें अभिनवगुप्त भी इस बातको बहुत सुंदर तरीकेसे समझाता है, उदाहरणके तौरपर, मेरी अहंता है कि मैं श्याममनोहर हूं. यह अहंता शबल अहंता है. मुझे ऐसा लगे कि मैं श्याममनोहर नहीं लेकिन ब्रह्म हूं तो मेरी अहंता शुद्ध हो गई. और जो मुझे ऐसा लगे कि मैं ब्रह्मात्मक श्याममनोहर हूं तो मेरी मिश्र अहंता है. इस प्रकार तीन भेद इसमें हैं. अपने यहां भी इसे ऐसेही स्वीकारते हैं कि मेरी शुद्ध श्याममनोहर होनेकी अहंता यह संसार है. मुझे ऐसा लगे कि ब्रह्मही श्याममनोहर रूपमें हुआ है

तो यह संसारात्मक एवं जगदात्मक अहंता है. और जब मुझे ऐसा लगे कि श्याममनोहर है ही नहीं, ब्रह्मही ब्रह्म है, तो यह एकदम स्वरूपात्मक अहंता हो गई. जिस अहंतामें श्याममनोहर लगना बंद हो गया तो वह शुद्ध ब्रह्मात्मक अहंता हो गई.

ऐसे ही ममता भी, जब मुझे ऐसा लगे कि यह सब जगत् मेरे लिये – पैसा तो मेरे लिये, घर तो मेरे लिये, बेटा, बेटी, दुश्मन सब मेरे लिये; यह संसारात्मक ममता है. और जब मुझे ऐसा लगे कि यह कुछ भी मेरे लिये नहीं है, सब भगवानकेलिये है, तो यह ममता शुद्ध हो गई. यह संसारात्मक ममता नहीं रह गई. यह सब भगवानका है और भगवानने अपनी लीलाकेलिये प्रकट किया है. जब मुझे ऐसा लगे कि मैं भगवानका हूं अतएव मेरा सब भगवानकेलिये, इसमें मेरी ममता मेरेलिये भी है और भगवानकेलिये भी है. इस भावको श्रीमहाप्रभुजी समर्पणका भाव कहते हैं, भक्तिका भाव कहते हैं. मेरा सब मेरे प्रभुकेलिये. इसमें पहली ममता तो बोल ही रही है ना? **मेरा सब मेरे प्रभुकेलिये** इसमें भी ममता बोल रही है, लेकिन यह ममता संसारात्मिका ममता नहीं है, अविद्यात्मिका ममता नहीं है. और मेरे लिये कुछ भी नहीं है, सब भगवानका ही है, भगवानकेलिये ही है – ऐसा जब भान हो तब विद्यात्मिका ममता हो गई. लेकिन जब **मेरा सब मेरे भजनीय प्रभुके लिये है** तो यह भक्तिमयी ममता है.

व्रजकी लीलामें पूतना आई थी उस प्रसंगमें श्रीमहाप्रभुजीने अति सुंदर विवेचन किया है. इस विवेचनमें कहते हैं कि पूतनाको भगवानने मार दिया, यह पूतना अपना अज्ञान है. अपना अज्ञान पूतना बन कर आता है. इस अज्ञानको, अविद्याको प्रभुने मार दिया. पूतनाके मरनेके बाद नंदरायजी आये और तब तक ब्रजभक्तोंने मिलकर पूतनाको जला डाला था और उसकी चारों तरफ सुगंध आ रही थी. अब इसमें एक बहुत समझनेकी बात यह है कि पूतना तो

असुर थी और ऐसी दुष्ट थी कि भगवानको मारनेकेलिये आई थी अतएव भगवानने उसको मारा. भगवानने उसे मारनेकेलिये नहीं मारा परन्तु मुक्ति देनेकेलिये मारा. लीलाका एक खास तारतम्य तुम समझो – **अविद्या पूतना नष्टा गन्धमात्रवशेषिता** अर्थात् अविद्याकी पूतना नाशको प्राप्त हुई लेकिन अभी भी व्रजमें उसकी थोड़ी सुगंध रह गई है. अविद्या खत्म हो गई लेकिन उसकी सुगंध बाकी रह गई. अर्थात् जैसे हम हाथमें इत्र लगायें तो हाथ चिकने हो जाते हैं, बादमें हाथोंको धो पोंछ लेते हैं, तो चिकनाहट तो दूर हो जाती है लेकिन सुगंध थोडी बहुत बाकी रह जाती है. जैसे कोई सेन्ट लगाकर हमारे पाससे गुजर जाये तो उसके जानेके बाद भी थोड़ी देर तक उसकी सुगंध विद्यमान रहती है. यह सेन्ट कोई वहां लगा नहीं है. यहीं गीतामें भगवान कहते हैं – **वायोः गन्धान् इव आशयात्** वायुमें यह विशेषता होती है कि वह जिन फूलोंमेंसे गुजर जाये तो यह उन फूलोंकी गन्ध लेकर चलती है. वायु पुष्पको लेकर नहीं आती लेकिन पुष्पकी सुगंधको लेकर आती है. अतएव भगवान द्वारा मारी गई पूतनाको जलादेनेके बाद भी उसकी सुगंध चारों तरफ व्याप रही थी. इस प्रकार अविद्या अथवा अज्ञानकी भी सुगंध हो सकती है. शृंगी ऋषिको स्त्री–पुरुषके भेदका ज्ञान नहीं था यह अज्ञान उनके ऋषिजीवनकी सुगन्ध थी.

उसी प्रकार ज्ञानकी दुर्गंध भी हो सकती है. इस ज्ञानकी दुर्गंधका वर्णन भागवतकार इस प्रकार करते हैं कि जिस समय तुम्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ कि **मैं और ब्रह्म एक ही** ऐसा ब्रह्मज्ञान जो तुम्हें भक्तिमें सहायक नहीं होता तो ऐसे ज्ञानमें किसी प्रकारकी दुर्गंध आ रही है तुम्हारे अहंकारकी. जब कि तुम्हारा अहंकार ब्रह्मज्ञानके कारण जल गया है, क्योंकि ब्रह्माग्नि यह ऐसी अग्नि है कि जिसमें तुम्हारा अहंकार जल जाता है. उसकेलिये ही उपनिषद् ऐसा कहते हैं कि **योहमस्मि**

ब्रह्माहमस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा अर्थात् मैं जो कुछ हूं वह ब्रह्म हूं और मैं मेरे अहंकारको ब्रह्मरूपी अग्निमें होम रहा हूं. तो हम अपने अहंकारको होम देते हैं. वह होम देनेके बाद भी जैसे पूतनाका अग्निसंस्कार हो गया वैसे ही ब्रह्माग्निमें अपने अहंकारका अग्नि संस्कार हो जानेके बाद भी किसी समय उसकी दुर्गंध बाकी रह जाती है. वह दुर्गंध यह कि **मैं स्वयं ब्रह्म हूं तो मुझे भगवानकी सेवा करनेकी क्या जरूरत?** इसकेलिये भागवत् कहती है – **येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धयः. आरूह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततो पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदंघ्रयः.. तथा न ते माधव तावकाः क्वचित् भ्रश्यंति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः. त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भयाः विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो..** अर्थात् इन लोगोंने **अहं ब्रह्मास्मि** इस ज्ञानको प्राप्त करनेकेलिये अहंकारकी आहुति ब्रह्माग्निमें दी, अहंकारका अग्निसंस्कार करनेके बाद लेकिन जब **मैं ब्रह्म हूं अतएव मुझे भगवद्भजन करनेकी कोई जरूरत नहीं है** ऐसी मनोवृत्ति रखते हैं उनमें अहंकारकी एक दुर्गंध बाकी रह गई है ऐसा जान पड़ता है.

उसी प्रकार भगवन्माहात्म्यज्ञानकी अग्निमें अपनी अविद्याका अग्निसंस्कार करनेके बाद भी उसमें ऐसी दुर्गंध बाकी रह सकती है. ब्रह्मको मेरी सेवाभक्तिकी कोई जरूरत नहीं है. ब्रह्मको दूध पीनेकी जरूरत होती है? ब्रह्म क्या छोटे बच्चे जैसा है कि जिसे दूध पीना है और दूधके लालचमें हम उसे विष पिला दें? इसे दूधकी गरज नहीं है. **योऽसौ विश्वंभरो देवः** यह तो विश्वंभर देव है, इसे हमारे दूध भोग धरानेकी कोई ऐसी गरज नहीं है. लेकिन ऐसा होते हुये भी अविद्यारूपी पूतनाके कारण हमें ऐसा लगता हो कि भगवानका दूधका नेग जितना है वह तो हमें पूरा करना ही पड़ेगा. हमारे पास नहीं हो तो गांवमेंसे भिखारीपन करके भी भोग धरें क्योंकि नेग भोग धरनेके प्रमाणको पालना है, नहीं तो भगवान हमें खा

जायेगा. हमारे प्रभु ऐसे कोई राक्षस, भूत, पिशाच जैसे नहीं हैं. यह तो लीलार्थ बालभावसे प्रकट हुवा है. अतएव यह ऐसी अविद्याकी वृत्तिसे धरा गया भोग नहीं आरोगता, लेकिन कुछ अविद्या जल गई हो और उसके बाद आती सुगन्ध जो है उससे आरोगता है. ब्रह्मको किसीकी कुछ गरज नहीं है फिर भी **पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति. तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः** अरे आत्माको भूख या प्यास नहीं लगती. तपस्या करनेवाले कितने ही सिद्ध जैन साधु, देहधारी होते हुये भी, भूख–प्यासके ऊपर काबू पा लेते हैं. और तुम भी अगर अभ्यास करो तो भूख प्यासके ऊपर काबू पा सकते हो क्यों नहीं पा सकते? यह तो हम प्रयत्न नहीं करते इसलिये काबू नहीं होता. तो जो इन देहधारियोंको यह सामर्थ्य है तो परमेश्वरको भूख प्यास लग सकती है? नहीं ही लगती. नहीं ही लगती. भूख प्यास नहीं लगे तो नहीं लगे परन्तु मेरी भक्ति मुझे ऐसा कहती हो कि जो मेरे घर बिराजता है तो जो मैं किसी वस्तुका उपभोग करूं तो उसे समर्पण किये बगैर उसका उपभोग कैसे करूं? ऐसी थोड़ी अविद्याकी सुगंध, **अविद्या पूतना नष्टा गंधमात्रवशेषिता** मस्तिष्कमें रखोगे तो फिर भगवान भी ऐसे कहेगें कि **अच्छा, ऐसी जो भक्तिकी सुगंधसे भरपूर दूध तुम मुझे भोग धर रहे हो तो मुझे आरोगनेमें भी अच्छा लगेगा. दूध ही नहीं जो कुछ भी वस्तु भोग धरोगे तो मुझे आरोगनेमें अच्छी लगेगी, लेकिन जो तुम किसी अविद्यासे धरोगे तो मैं उसे आरोगने वाला नहीं हूं.** इसमें अविद्या नहीं लेकिन अविद्याकी प्रसरित एक सुगंध है कि प्रभुको कुछ नहीं चाहिये तो भी मैं भक्ति द्वारा धरूंगा. तो भगवान कहेंगे **अगर ऐसी बात है तो मैं ले लूंगा. आरोगना नहीं है फिर भी भक्ति द्वारा तू मुझे भोग धरेगा तो मैं आरोग लूंगा. मैं प्यासा नहीं हूं फिर भी भक्तिसे तू मेरी झारी भरेगा तो मैं पानी भी पी लूंगा. मुझे नींद नहीं आती लेकिन भक्तिसे**

शैया बिछा कर तू मुझे कहेगा कि गैया चरा कर आनेमें आप थक गये होगे अतएव प्रभु आप पोढ़ो, तो मैं पोढ़ भी जाऊंगा.

यह सब संभव है अगर भक्ति हो तो. और भक्ति यह बहुत नाजुक प्रकारका भाव है. यह न तो है शुद्ध अज्ञान और ना ही है शुद्ध ज्ञान, यह दोनोंके बीचका एक संधिस्थल है. ऐसा भाव कि जिसमें अज्ञान और ज्ञान दोनोंके विभाग समाहृत हो जाते हैं. जैसे पुरुषोत्तममें अव्यय और अश्वत्थके दोनों विभाग समाहृत हैं. आत्माको जब किसी वस्तुके भोगकी जरूरत नहीं है तो परमात्माको कि ब्रह्मको किस प्रकार हो सकती है? तो यह गंधमात्रवशिष्ट जीवात्माकी परमात्माके प्रतिकी ममता है. यह गंधमात्रवशिष्ट अविद्या है. भक्तिमें इस अविद्याकी गंध और ज्ञानकी गंध दोनों होनी चाहिये. ऐसे दोनों इसमें समाविष्ट हों तो भक्ति हो सकती है.

रवीन्द्रनाथ टेगोरने एक बहुत सुंदर बात कही है – **तोमाय आमार प्रभु करे राखी! आमार आमार आमि सेइ टुकु थाकबाकि. तोमाय आमी कोथाओ नांहि ढाकी. आमार आमार आमि सेइ टुकु थाकबाकि. तोमार लीला होवे ऐ प्राण भरे. ऐ संसारे रेखे छे ताइ धरे. रहिवो बांधा तोमार बाहु डोरे. बंधन आमार सेइ टुकु थाकबाकि.** अर्थात् हे प्रभो! ज्ञान तो मिला लेकिन मेरे इस ज्ञानके कारण ऐसी मेरी दुर्गति किसी दिन न हो कि इस ज्ञानके कारण मैं यह भान भूल जाऊं कि तू मेरा प्रभु है. तुझे सर्वदा मैं अपना प्रभु मानता ही रहूं. मेरी इतनी ममता तो रहनी ही चाहिये. बाकी जो ममता निवृत्त करनी हो तो फटाफट कर दो लेकिन मेरे भीतरसे अगर सारी ममता मिटा देगो तो फिर मैं तुझे अपना प्रभु नहीं मान पाऊंगा. अतएव थोड़ीसी ममताकी गंध मेरेमें रहने दो. बाकी सारी ममता बेकार, लेकिन मैं तुझे अपना प्रभु मानता हूं, इतनी ममता सच्ची. मेरी अहंता और मेरी ममता इतनी तो मेरे हृदयमें रहनी ही चाहिये. मैं तुझे कभी भी ढक नहीं दूं, नहीं तो मैं

बहुत ज्ञान बढ़ने पर अपनी अहंतासे ही शायद तुझे ढक दूंगा. मेरेमें बहुत विषयोंकी वासनायें बढ़ जायें तो मेरी ममतासे ही तू ढक जायेगा.

जब हमें ऐसा लगता है कि वृत्त्यर्थ सेवा करनी यह कोई आपत्तिजनक नहीं है तो हमने अपनी ममता द्वारा अपने प्रभुको ढक दिया. वृत्त्यर्थ सेवा करी जा सकती है, **नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति** हमें धनलाभ हो, हमारी पूजनीयता बढ़े, इस कारण हम प्रभुकी सेवा करते हैं, तो अपनी ममता द्वारा हम अपने प्रभुको ढक रहे हैं. रवीन्द्रबाबू पुष्टिमार्गीय नहीं हैं तो भी पुष्टिकी कितनी ऊंची भावना गा रहे हैं! यह कहते हैं कि **मैं तुझे कभी भी ढकूं नहीं. इतनी मेरी अहंता और ममता हरेक समय मेरेमें रहनी ही चाहिये. तोमार लीला होवे ए प्राणभरे ए संसार रेखे छे ताइ धरे** जिस दिशामें भी मैं बढूं तो तुझे खोजनेकेलिये बढूं. मेरे हृदयमें इतनी तो अहंता–ममता रहनी ही चाहिये कि मैं पूर्वमें, पश्चिममें, उत्तरमें, आकाशमें, पातालमें, कहीं भी जाऊं तो वहां भी तेरी लीला ही खोजूं. **रहिवो बांधा तोमार बाहु डोरे, बंधन आमार सेइ टुकु थाकबाकि** तेरी बाहुओंकी डोरीसे मैं बंधा ही रहूं, कहीं छिटक नहीं जाऊं, अलग न हो जाऊं, इतनी अहंता ममता मेरेमें कायम रख. यह प्रभुकेलिये आती भावना अविद्याजन्य अहंताममता, यह सुगंध है, भक्तिकी सुगंध है. यह बहुत उच्च कक्षाकी बात है समझे. कवितामें बोलदेना और सुन लेना तो बहुत सरल लगता है लेकिन वास्तवमें जीवनमें आना व्यवहारमें आना बहुत मुश्किल बात है, प्रभु कृपा करें तो ही आ सकती है.

प्रभुके बारेमें ऐसी मजनूकी रीति बहुत उच्च कक्षाकी बात है कि अपनी वासनाही ऐसी प्रभुमय हो जाये. जहां जायें वहां प्रभुको ही खोजना. लाभ और पूजाको हम नहीं खोजें, केवल प्रभुको ही खोजें. ऐसा तो प्रभु हम पर बहुत अनुग्रह करें

तो ही संभव है. लेकिन ऐसा होते हुये भी एक बात समझ लेनी चाहिये कि जगतको जब हम देख रहे हैं, उस जगतको देखनेमें हमारी वासना और विषय दोनों अनुभूत होते हैं. यह हमारी अहंताममतासे भरी हुई वासनाको जब भगवद्वासनावाली बनायें तब यह अज्ञान और यह अहंकार हमारे उपायके तौर पर साधक बन जाते हैं. नहीं तो यह वासना ही हमारे भगवन्मार्गमें बाधक बनती है.

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम् असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा :

अतएव गीताकार यहां कहते हैं कि **अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम् असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा** विषयोंके प्रति रही अपनी वासनाको हम किस प्रकार छेद सकते हैं? तो भगवान कहते हैं कि विषयोंमें असंग होना चाहिये. अर्थात् विषयोंका संग मत करो, यह तुम्हारी अहंताममतासे भगवत्संग करोगे तो यह भगवत्संगके कारण वासनाका विषयोंमें असंगताका भाव जगेगा. पहले भी मैंने श्रीमहाप्रभुजीके वचन उद्धृत किये थे उसके अनुसार **ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यं, ब्रह्म जगतो अतिरिच्यतइति न तत्र आसक्तिः कर्तव्या** अर्थात् ब्रह्मरूप जगतको जानना चाहिये लेकिन ब्रह्मरूपका आनन्द नहीं लेना चाहिये. किसी तार्किकसे अथवा गणितज्ञसे अगर पूछोगे कि जो जगत् ब्रह्मरूप है तो उस जगत्का किस कारण आनन्द नहीं लेना चाहिये? अगर गणितके समीकरणके आधार पर खोजोगे तो बात गलत लगेगी. गणितका समीकरण तो ऐसे कहेगा कि जो जगत् = ब्रह्म; और, ब्रह्म = आनन्द लिया जा सके ऐसा तत्व; तो जगत = आनन्द लिया जा सके ऐसा तत्व सिद्ध होता ही है. क = ख, ख = ग, तो क = ग ऐसा ही होना चाहिये. लेकिन इसमें थोड़ी गड़बड़ है. क्योंकि अव्यय ब्रह्म स्वयं अश्वत्थ बना है. और अपनी अव्ययरूपताको छोड़कर नहीं बल्कि साथ लेकर. अतएव अश्वत्थरूपकी तात्विक

अव्ययता जान लेनी चाहिये कि यह अव्यय ही अश्वत्थ बना है. लेकिन अव्ययकी अश्वत्थताका आनन्द नहीं लेना चाहिये बल्कि अश्वत्थमें छिपी हुई अव्ययताका ही आनन्द लेना चाहिये. क्योंकि अश्वत्थका जब हम आनन्द लेने बैठेंगे तब रोनेके सिवाय और कोई चारा बचेगा ही नहीं.

मेरी एक जानकार वैष्णव हैं. उन्होंने मुझसे बहुत बार कहा कि मुझे स्वरूप पधरा दो. मैंने उसको स्वरूप नहीं पधराया. अब एक बार इनके घरकी छत पर मोरनीने अण्डे दिये. अब उनमेंसे मोर और मोरनी जनमें. उन्होंने दोनोंको भगवत्स्वरूपके तौर पर सेवामें पधरा लिया और मुझे चिट्ठी लिखदी कि आपने तो ठाकुरजी नहीं पधराये लेकिन मेरे घरके छप्पर पर राधा और श्याम दोनों प्रकट हो गये! अतएव मैंने तो सेवा शुरु करदी. अब किसी कारणवश छप्परसे वह मोर नीचे गिर गया और पक्षीओं में ऐसा होता है कि जो गिर गया तो गिरही गया. हमारे पुष्टिमार्गीय गिर गयेका भी संग्रह करते हैं. हमारे श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **महापतित व्है जायगो मेरो नाहिं कहावेगो.** लेकिन हम ऐसे गिरे हुये पुरुषोत्तमोंका भी संग्रह करते हैं. पक्षियोंमें तो गिरा तो गिरा. **सो मेरो नाहिं कहावेगो.** तो यह तो फिर आये नहीं. अब पंद्रह दिनों बाद यह राधा–कृष्ण (मोर मोरनी) लीलामें पधार गये! उस बहिनने मुझे फिर चिट्ठी लिखी कि अब मैं क्या करूं? तो मैंने कहा तुम्हें पूछे बिना सेवामें पधराना ही नहीं था. ऐसे तुम्हारे पास मोर मोरनी या कुछ भी आये और तुम उन्हें सेवामें पधरा दो, तो ऐसे काम नहीं चलता.

हम जब अश्वत्थको पकड़ेंगे तब कुछ न कुछ ऐसी मुसीबत होती ही है. अतएव अश्वत्थको अव्ययके तौर पर पहचानना है कि यह अश्वत्थरूपका अभिनय अव्यय कर रहा है. अश्वत्थ यह अव्ययकी लीला है; अव्ययमें प्रकट होती लीला है. अतएव जानना चाहिये अश्वत्थको अव्ययके तौर पर, लेकिन

अश्वत्थका आनन्द नहीं लेना चाहिये. आनन्द लेना चाहिये केवल अव्ययका ही. अतएव भगवान् कहते हैं कि मैं अश्वत्थ एवं अव्यय दोनों प्रकारका वृक्ष हूं. पत्ते तो कितने सारे झड़ जाते हैं! प्रत्येक ऋतुके अनुसार पत्ते तो झड़ते ही रहते हैं लेकिन वृक्ष स्थिर रहता है. वृक्ष अव्यय होता है और पत्ते अश्वत्थ हैं. तो विषयकी कोंपलें सब झड़ने वाले अश्वत्थ हैं और वृक्ष अव्यय होता है.

अतएव भगवान कितनी सावधानीसे कह रहे हैं कि तुम ऐसी भ्रमणामें मत रहो कि इस अश्वत्थको तुम काट सकते हो. यह तो सुविरूढमूल है. इसकी जड़े मेरेमें रोपी हुई हैं – **दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया. मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते.** यह तो मेरी माया है कि मैं अव्यय होते हुये भी अश्वत्थरूपमें तुम्हारे सामने आ रहा हूं.

अरे तुम शुतुरमुर्गकी तरह गलत भ्रमणामें मत जीओ. शुतुरमुर्गके पीछे शिकारी पड़ जाते हैं तो जहां तलक वह भाग सकता है भागता है; अन्तमें जब भाग नहीं सकता तो रेतमें अपनी गरदन घुसा देता है और शिकारी दीखना बंद हो जाता है तो उसे ऐसे लगता है कि शिकारी गायब हो गया होगा! लेकिन ऐसा नहीं होता शिकारी तो रहता ही है और आखिरमें शुतुरमुर्ग पकड़ा जाता है. अर्थात् आंख मींचनेसे दुनियां गायब नहीं हो जाती. दुनियांको गायब करना इतना आसान नहीं है कि हम आंखे मींच लें, क्योंकि हमारी आंख खोलनेसे तो दुनियां उत्पन्न नहीं हुई थी. हुई होती तो अपनी आंख मींचनेसे दुनियां गायब हो जाती. दुनियांमें हमारी आंख खुलती है, आंख खुलनेसे दुनियां खड़ी नहीं होती.

पुराने जमानेमें तो नवजात शिशु एक महीना तलक आंख नहीं खोलता था. आजकल बच्चे भी गिलिंडर हो गये हैं, दूसरे तीसरे दिनही आंख खोल देते हैं. सारे ज्ञानी पैदा हो गये हैं! पहलेके जमानेमें बालकोंकी गर्भमें रहनेके कारण

दुनियांकी चमकदमक देखनेकेलिये आंख ही नहीं होती थी. अब ना मालूम कैसे भीतरसे ऐसे पक्के निकलते हैं कि जन्म लेनेके दूसरे तीसरे दिन ही आंखें खोलकर टुकुर टुकुर चारों तरफ देखना चालू कर देते हैं! इसके लिये ही नंबर अधिक आ जाता है, क्योंकि पहले आंख खुलती है अतएव नंबर भी पहले आ जाता है. अब बहुत फास्ट हो गया है. सब फटाफट हो जाता है. इसमें भक्ति भी हम फटाफट कर देना चाहते हैं. अपने घरमें पधरानेका गलत काम करना ही नहीं! हवेलीमें पैसा दिया, प्रसाद लिया और बस भक्ति पूरी हो गई. दूसरी अफरातफरीमें पड़ना ही नहीं. इससे हमारी भक्तिकी आंखमें नंबर भी ज्यादा आ जाता है.

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं .. यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी :

भगवान ऐसा कहते हैं कि यह बहुत सुविरूढमूल है, इसे तुम बहुत प्रयत्न करनेके उपरान्त भी काट नहीं सकते. यह तो मैं जब मायाका उपसंहरण करूं तो ही यह माया उपसंहृत हो सकती है. यह होते हुये भी भगवानने एक स्वतंत्रता तुम्हें प्रदानकी है कि इस जगतमें तुमने अश्वत्थका संग करना हो तो विषयोंका संग करो; और अव्ययका संग करना हो भगवत्संग करो. इसकेलिये तुम्हें थोड़ी स्वतन्त्रता देनेमें आई है. तुम्हारे पात्रमें परोसनेवालेने तो दोनों प्रकारकी सामग्री परोस दी; अश्वत्थकी भी परोसी है और अव्ययकी भी परोसी है. जगत् भी है और संसार भी है तुम्हारे पात्रमें. अब तुम्हें किसका आनन्द लेना है और किसका नहीं यह तुम्हारे ऊपर निर्भर करता है. तुम संसारका आनन्द लेते हो तो निश्चित समझो कि तुम्हें अश्वत्थको ही मानना है, अव्यय जगत्का आनन्द नहीं लेना चाह रहे. जो तुम्हें अव्ययका आनन्द लेना हो तो जगत्का आनन्द ले सकते हो और अव्ययका आनन्द लेनेमें, जगतमें, तुम्हारी वासना काम नहीं आयेगी. सांसारिक

वासनाकी दृष्टिके कारण जो तुम देखना चाह रहे हो उस प्रकार नहीं, लेकिन जैसा जगत है उसी प्रकार जगतको देखनेका प्रयास करोगे तो तुम्हारी वासनाओंसे तुम छूट सकते हो. इस संसार और जगत दोनोंमेंसे पहले संसारका छेदन तुम्हें करना पड़ेगा. अर्थात् जैसा दिखाई दे रहा है वह वस्तु और जिस प्रकार तुम उसे देखते हो उन दोनोंको छोड़ना पड़ेगा. संसार और जगत्की जो खिचड़ीकी तरह एकदूसरेमें मिलावट हो जाती है, इसमेंसे वासनाको थोड़ासा अलगकरके शुद्ध विषयको देखना शुरु करो. श्रीमहाप्रभुजी अतएव आज्ञा करते हैं **विषयो भगवान् विषयता मायाजन्या. विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टिः सविषया स्यात्** विषयता जो है वह विषयके बारेमें अपनी वासनाके कारण उसका दिखता रूप है. जबकि विषय रूप तो स्वयं भगवान ही प्रकटे हैं. विषय जो है वह अव्यय है और विषयता जो है वह अश्वत्थ है उस प्रकारसे इसे समझो. उसे जो हम अपनेसे अलग करेंगे तो हमें **असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ततः पदं तत् परिमार्गितव्यम्** यह परम पद समझमें आयेगा.

गुलशन हो निगाहोंमें तो जन्नत न समझना. देखे तुझे जो कोई हसरतकी नजरसे. थोड़ीसी इनायतको मौहब्बत न समझना. ऐसे किसी शायरने कहा है कि थोड़ासा तुम्हें उपवन या बागीचा दिखाई दे तो ऐसे नहीं समझ लेना कि तुम्हें स्वर्ग मिल गया. **देखे तुझे जो कोई हसरतकी नजरसे, थोड़ीसी इनायत को मौहब्बत न समझना.** प्रत्येक व्यक्ति किसीको कभी हसरतकी नजरसे देखता हो तो उससे हमें कुछ भ्रमणा हो जाती है. कोई थोड़ासा हमें हसरतसे देखता है तो हमें ऐसा लगता है कि हमारेलिये उसे मौहब्बत हो गई. इसमें बहुत बार हमें जूते भी खाने पड़ते हैं. तो यह तो बहुत थोड़ीसी इनायत प्रभुने हमारे ऊपर करी कि जिस इनायतके कारण हम बस इतना ही समझ सके कि विषय अलग है और विषयमें रही हुई

अपनी वासना यह अलग है. इन्हें अलग करनेके बाद एक दूसरा अध्याय प्रारम्भ होता है....

अतएव श्रीमहाप्रभुजी बहुत सुंदर बात कहते हैं – **शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्या विशारदः भगवत्सेवने योग्या नान्ये**..... कितनी सुंदर बात कही है कि भगवत्सेवा कौन कर सकता है? भगवत्सेवा करनेका अधिकारी कौन? उसकी शर्त श्रीमहाप्रभुजी बताते हैं कि **शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः** सुननेमें तो बहुत बड़ी बात लगती है और वास्तवमें बहुत बड़ी बात भी है. शुद्धि इस प्रकार कि विषय और वासनाकी मिलावट नहीं होनी चाहिये. विषय और वासनाकी मिलावट दूर करो. ऐसी शुद्धि जो होगी अपने भीतर तो हमें सुख मिलेगा. क्योंकि जो कुछ विषय हमें दुःख दे रहे हैं वह अपनी वासनाके कारण दे रहे हैं. जब मुझे वासना ही नहीं है तो मुझे कोई भी विषय दुःख नहीं दे सकता. जब मुझे किसी विषयकी रूपकेलिये वासना नहीं है तो कोई विषय मुझे सुख नहीं दे सकता. विषय स्वयंमें सुख अथवा दुःख नहीं देता, हमारी वासनायें हमें सुख अथवा दुःख देती हैं. नहीं तो यही बेटा बहुत आज्ञाकारी बन कर रहता हो तो सुख देता लगता है और आज्ञाका भंग करे तो दुःखदाई लगता है. तो यह बेटेके बारेमें अपनी वासनायें हमें तकलीफ दे रही हैं. विषय न तो सुख देता है और ना ही दुःख देता है, विषय तो वैसेका वैसा ही है. रोज रोज पाउडर, लिपस्टीक साड़ी या गहने देता हो तो पति परमेश्वर लगता है. एकाद दिन ना करदे तो भाव दूषित हो जाता है कि धंधेमें ही लगा रहता है, मेरी भावनाओंकी तो कुछ परवाह ही नहीं है! लो भाई, पति परमेश्वरकी जगह परम शैतान हो गया! तो पति कि पत्नी सुख या दुःख नहीं देते परन्तु पति पत्नी में रही हुई वासनायें ही सुख या दुख देती हैं. जब हम वासनाओंसे अलग होंगे तो

फिर कोई हमें सुखदुःख नहीं दे सकता. तब प्रत्येक वस्तुसे हमें आत्मसुख ही मिलेगा.

हम जब विषयसे सुख नहीं लेना चाहते तब आत्मामें रहा हुआ सुख अपनेमें प्रकट होना चालू हो जाता है. जैसे कि दूधमें चीनी मिलाये बगैर दस पंद्रह दिन दूध पियो तो प्रारम्भमें तुम्हें फीका लगेगा लेकिन बादमें दूधमें रही हुई मिठास तुम्हें अनुभूत होगी. ऐसेही तुम्हारी आत्मामें एक सुख भरा हुआ है यह सुख तुम्हें नहीं मिलता. क्यों? क्योंकि हर समय तुम्हारी आत्मामें तुम विषयवासनाकी चीनी मिलाना चाहते हो, हरेक समय आत्माकी अनुभूतिकी अहंतामें विषयवासनाकी ममताकी चीनी मिला मिला करही तुम्हें इसका स्वाद चाहिये. विषय वासनाकी ममताकी चीनी मिलाना बंद करो तो फिर हौले हौले इसमें आत्मसुख मिलना शुरु हो जायेगा.

एक बात समझो कि यहीं पर रुक गये तो ज्ञानी अथवा कर्मी; भक्तकेलिये तो अभी बहुत लम्बी यात्र करनी बाकी है – **सितारों से आगे जहां और भी हैं. अभी इश्कके इम्तहां और भी हैं.**

अभी एक परीक्षा देनी और बाकी है – ब्रह्मको जाननेकी, पहचाननेकी. ब्रह्मको तुम पहचानो, इस पुरुषोत्तमको पहचानो; अव्यय और अश्वत्थ दोनों जिसमें समाहृत हैं, दोनों जिसमें एकगत भाव हो रहे हैं. इस ब्रह्मविद्यामें तुम विशारद होओगे तो फिर तुम भगवत्सेवाके योग्य हो. अतएव श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि इस पुरुषोत्तमके अनुभवकी ऊंचाई तुम्हें मिलेगी तो फिर इस विषयसुखके कीचड़के खड्डेमें पड़नेकी जरूरत तुम्हें नहीं रह जायेगी. कहा भी गया है – **मेरो मन अनत कहां सुख पावे. जैसे उडि जहाजको पंछी पुनि जहाजपे आवे. सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावे!**

अतएव पुरुषोत्तमकी अनुभूति तुम्हें एक बार मिलेगी तो तुम्हें पता चलेगा कि इन विषयोंके सुख, अर्थात् अश्वत्थके

सुख और अव्ययके सुख दोनों इस पुरुषोत्तमके सुखमें तो एक अंश ही बन रहे हैं.

तब तुम्हें समझमें आयेगा कि इस अश्वत्थ और अव्यय की लीला जिस पुरुषोत्तमके द्वारा प्रकट हुई है उसकी शरणागतिमें तुम्हारे जानेकी जरूरत है. उस पुरुषोत्तमके शरणागत होओगे तो फिर इस अश्वत्थ और अव्ययके द्वंद तुम्हें परेशान करना बंद कर देंगे. अपनी दृष्टिमें एक ऐसी भक्तिकी उज्ज्वलता प्रकट करो कि जिसके कारण पुरुषोत्तमकी अनुभूतिमें तुम्हें अश्वत्थ और अव्यय दोनों दिखाई दें. इनके विरोधाभासी द्वंद समाप्त हो जायें. तो जिस स्थिति पर, जिस उंचाई पर पहोंचकर अव्यय और अश्वत्थके द्वंद समाप्त हो जाते हैं उसके बाद अश्वत्थ विषयके सुख दुःख देने वाले जो द्वंद हैं वह तो किसी भी दिन तुम्हें कष्ट नहीं दे सकते. जैसे नाटकके सुखदुःखमें मोह पाये बिना रसिक दर्शक नाटकके कथानककी रसानुभूतिका लाभ ले सकते हैं.

निर्मानमोहा..... पदमव्ययं तत् :

उसके लिये भगवान् बहुत सुंदर कहते हैं कि **निर्मानमोहा** कितना सुंदर शब्द प्रयोग किया है. मान और मोह. ध्यानसे देखो – मान मनुष्यको कब होता है जब अहंकार बढ़ता है और मोह तब होता है जब ममता बढ़ती है. अर्थात् अपने भीतर रहा हुआ अहंकार हमें मान लेनेकेलिये प्रेरित करता है. अपने भीतर रही हुई ममता अपनेमें मोह जगाती है. **निर्मानमोहा** अर्थात् जिसे मान और मोह नहीं है वह, जो अहंता–ममताकी मनोविकृतिसे रहित है वह. फिरसे ध्यान दो कि इस अहंताममतासे इस प्रकार रहित नहीं होना कि ब्रह्मकी पुरुषोत्तमकी अनुभूतिमें यह रहितता आड़े आ जाये. निर्मानमोहा इस अर्थमें कि इस मानमोहकी वासनासे विषयोंका जो संग हम करते हैं उनके ऊपर काबू पाना है. विषयोंका संग करना

है लेकिन मानपानेकी वासनासे या विषयके प्रति मोहकी वासनासे नहीं. विषयोंकेलिये वासना नहीं प्रकट करनी परन्तु भगवानकेलिये प्रकट करनी. यह हो जाये तो संगदोषको जीत लिया कहा जायेगा. क्योंकि दोनों तुम्हारे नजदीक हैं – विषय तुम्हारे चारों तरफ फैला हुआ है और वासना तुम्हारे भीतर ठूंस ठूंस कर भरी हुई है. अतएव सन्यास लेनेके उपरान्त भी कहीं न कहीं वासना फूट ही पड़ती है. वासनाका अपने भीतर अटूट खजाना है. मनुष्य बूढ़ा हो जाये तो भी वासनाओंका खजाना कभी टूटता नहीं.

ऐसा कहा जाता है कि किसी ज्योतिषीने एक सेठकी जन्मकुंडली देखकर बताया कि आपके भाग्यमें सात पीढ़ी तक पैसा खर्चो तो भी खत्म नहीं होगा इतना धन है. यह सुनकर सेठ तो रोने लगा **तो मेरी आठवीं पीढ़ीका क्या होगा?** इतना मोह मनुष्यमें हो सकता है!

एक संतकी कथामें आता है कि उनका पुत्र मर गया अतएव पुत्रकी मां और परिवारके दूसरे सदस्य खूब रो पीट रहे थे लेकिन संत नहीं रो रहे थे. अतएव किसीने आकर इनको कहा कि इतनी दुःखद घटना हो गई और आप रो नहीं रहे? ऐसा कठिन हृदय तुम्हारा कैसे हो गया? तो संत ने कहा – नहीं ऐसा नहीं है. मुझे समझमें नहीं आ रहा कि किस प्रकार रोऊं. कल मैंने एक स्वपन देखा कि मेरी पत्नीने आठ लड़कोंको जन्म दिया और आठके आठ मर गये. अतएव मैं मुश्किलमें पड़ गया हूं कि स्वपनमें तो आठ थे और वे आठोंके आठ मर गये. तो एकको रोऊं कि आठको, यह समझमें नहीं आ रहा? तो उस आदमीने कहा कि जो सच्चा बेटा है उसे रोओ, स्वपन तो स्वपन ही है उसमें रोने जैसी क्या बात है? तो संतने कहा कि अब तो यह सच्चा बेटा भी स्वपन हो गया, स्वपनकी तरह यह कथा खत्म हो गई. अतएव जो अब इस एक सच्चेको रोना जरूरी है तो पहले स्वपनमें आठ मरे

हुओंको भी तो रोना ही पड़ेगा! तो यह संतके हृदयकी कठोरताकी बात नहीं है लेकिन असंगताकी बात है – **आयातम् आयान्तम् अपेक्षणीयं गतं च गच्छन्तम् उपेक्षणीयम्. अलं वृथा खेदनमोदनाभ्याम् यद् अस्मदीयं न हि तत् परेषाम्.**

अर्थात् आये हुये और आने वालेका स्वागत् करो, गये हुये और जानेवालेको विदा दो. बहुत रोने अथवा खुश होनेसे कोई लाभ होनेवाला नहीं है. क्योंकि जो तुम्हारा है, वह तुम्हें मिलनेवाला ही है और जो तुम्हारा नहीं है वह नहीं मिलना. अतएव जो मिलना है उसे कोई छीन सकनेमें समर्थ नहीं है और जो तुम्हारे पाससे छूट रहा है उसके लिये रोने धोनेसे कुछ फायदा होनेवाला नहीं है.

असंगताकी वृत्ति ऐसी होती है. जो मुझे प्रभुने दिया है उसे मैं प्रभुके साथ भोगूंगा. जो मेरे पाससे प्रभुने छीन लिया है उसके बारेमें प्रभुकी इच्छा मान लूंगा. प्रभुकी इच्छा क्या कि मुझसे छीने हुये विषयसे वह मेरे साथ उसको भोगना नहीं चाहते कि मैं इस विषयको उनकी सेवाके उपयोगमें लाऊं. इसकेलिये चौरासी वैष्णवोंकी वार्तामें एक वार्ता आती है कि एक स्त्री वैष्णवके दो बालक चले गये और यह रो रही थी. वह चले गये इसलिये नहीं लेकिन अब उसके श्रीठाकुरजीके साथ कौन खेलेगा? इस चिंतामें रो रही थी. यह पुत्र प्रति खाली मांकी ममता पुत्रवासनासे ग्रस्त नहीं थी लेकिन भगवद्वासनासे मंडित थी. पुत्रके बारेमें पुत्रवासनाका संग और पुत्ररूपी विषयके बारेमें भगवद्वासना रखनी उसका इस वार्ताकार ने हमें सोदाहरण प्रमाण दिया है. उसी प्रकार **निर्मानमोहाः** कहा अतएव अहंता कि ममतासे सर्वथा रहित नहीं हो जाना, भगवान्को भी **दासोहं** कह या मान न सकें इतना अहम् भी न रहे अथवा तो श्रीकृष्ण के लिये **श्रीकृष्णःशरणं मम** में प्रकट होती ममता भी न रह जाये, इतने भी **निर्मानमोहा** नहीं होना चाहिये. केवल अहंममकी वासनासे विषयोंका संग

करनेकी वृत्तियोंको काबूमें लाना है. उसका उपाय कहते हैं **अध्यात्मनित्याः.** अध्यात्म् अर्थात् आत्मसंबंधी जो भाव अथवा वृत्तियां, उनमें नित्य रचेपचे रहना वह कब संभव हो सकता है? जब अहंतात्मिका ममतात्मिका वासनाऐं विषयसंग छोड़कर आत्मगामी बन जायें. विषयकामनाऐं निवृत्त हो जायें भगवत्कामनाके कारण. विषय विषयकेलिये नहीं चाहिये, भगवद्भक्तिकेलिये चाहिये. यह जो भाव प्राप्त हो जाये तो विषयवासनाके कारण होते सुखदुःखके द्वन्दोंसे मुक्त हो जायेगें. ऐसे अमूढ़ व्यक्तिको वह दिव्य पद प्राप्त होता है.

न तद् भासयते.....तद्धाम परमं मम

वह पद कैसा है उसे बतानेकेलिये गीताकार कहते हैं – मेरे परमानन्दका एक धाम है. परमानंदका यह परमधाम कि जिसमें जाकर किसीको संसारमें वापिस आनेकी जरूरत नहीं रह जाती. क्योंकि **अब न सुहाय विषय रस छिल्लर वा समुद्रकी आस.** वह समुद्र तुमको मिल गया कि जिसको पानेके बाद विषयरस छिल्लर तुमें अच्छे नहीं लगेंगे. उस धाममें पहुंचनेके बाद तुम कहीं भी जाओ, यह धाम तुम्हारे हृदयमें साथ ही चलेगा. उस धाममें जाते ही यह धाम तुम्हारे हृदयमें आ जाता है. अतएव श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि व्यापिवैकुण्ठ तो तुम्हारे हृदयमें भी है अगर तुम मानसी भक्ति कर सकते हो तो. व्यापिवैकुण्ठ तो तुम्हारे घरके कोने में है जहां तुम प्रभुकी सेवा करते हो तो. इस पुरुषोत्तमके इस धामका प्रकाशन करनेकेलिये बिजलीका फ्यूज कभी उड़ता नहीं है, कोई बांध टूट जाये तो इसका जेनेरेटर फेल नहीं होता. क्योंकि इस धामको प्रकाशित करनेकेलिये सूर्यकी गरज नहीं है, इस धाममें शीतलता लानेकेलिये चंद्रकी गरज नहीं है, इस धाममें स्नेहकी उष्मा जाननेकेलिये लौकिक अग्नि अथवा पावककी अपेक्षा नहीं है. इस बारे में एक कवि ने कहा है –

तू अपने दिलसे निकाल एक शम्माऐ गैरफानी. चिरागे देरोहरम तो अय दिल जला करेंगे बुझा करेंगे.

इस दिलमें, हृदयरूपी व्यापिवैकुण्ठमें, यह धाम प्रगट होना चाहिये कि जिसमें पुरुषोत्तमका अनुभव हो. इस जगत्में इस पुरुषोत्तमके अनुभवकेलिये यह धाम प्रगट होना चाहिये. मंदिर और मस्जिद के दीये तो जलेंगे वह भी ठीक और बुझेंगे वह भी ठीक. भक्तिदीप, परन्तु, तुम्हारे हृदयमें प्रज्वलित हो तो इस परमधामका प्रकाशन निरन्तर होता रहेगा. इसे हम भी अनुभूत कर सकते हैं; बशर्ते, भक्तिको पुरुषोत्तमकेलिये उपयोगमें लाना और पुरुषोत्तमको भक्तिकेलिये समझे तो.

यहां तलक तो पुरुषोत्तमविवेचनाके अंतर्गत तदादेशरूप द्वारा अर्थात् परोक्षरूप वर्णन शैलीमें जिस प्रकार पुरुषोत्तमका वर्णन हो सकता था उस प्रकार पुरुषोत्तमका वर्णन किया गया. इस शैलीके उपसंहाररूपमें भगवानने **न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम** यह श्लोक कहा. अब एक खास बात समझनेकी यह है कि पुरुषोत्तमको परब्रह्म या परमात्माके रूपमें देखें तो वह तो बाह्याभ्यन्तर सकल जड़–चेतन पदार्थोंमें व्याप ही रहा है. अतएव परब्रह्म जिस प्रकार जड़ वस्तु और प्रत्येक चेतन प्राणीमें अवस्थित है वैसे परमात्मा रूपमें भी तो वह सर्वत्र विद्यमान है. तो उसका धाम कहां नहीं है!? प्रत्येक कण परमात्माका धाम ही है. तो फिर उससे अलग अनोखा परमात्माका दूसरा धाम कैसा? पहले हम जो विचार कर आये हैं उससे तो यह लगता है कि बड़े बड़े धनवान लोगोंके तीन चार बंगले होते हैं – एक उनके मूल गांव या शहरमें, दूसरा उस स्थान पर जहां उनका धंधा व्यापार चलता है, तीसरा किसी हिलस्टेशनपर या समुद्र किनारे पर छोटीसी कॉटेज जहां छुट्टी बिताने आते जाते हों, चौथा तीर्थक्षेत्रमें गेस्टहाउस

जैसा इत्यादि इत्यादि. ऐसे बहुत सारे धाम होते हैं वैसे ही पुरुषोत्तमका कहीं कुछ ऐसा ही धाम परमधाम होना चाहिये.

श्रीमहाप्रभुजी ने बहुत सुंदर इसका स्पष्टीकरण अणुभाष्यमें दिया है कि **परम** का तात्पर्य क्या है? तो सामान्य रीतिसे तो परम अर्थात् ▪ऊंचेसे ऊंचा, अच्छेमें अच्छा इसे हम **परम** कहते हैं. पहले भी हम देख चुके हैं कि बहुत सारे शब्द रूढिमें प्रचलित होते हैं और किसी समय शास्त्रमें और अपनी बोलचालकी भाषामें भी रूढिके बजाय यौगिक शब्दोंका भी प्रयोग हम लोग करते हैं. जैसे मेरा नाम गोस्वामी श्याममनोहर है और मैं इसके एक एक अक्षर को लूं तो **गो.श्या.म.** तो बड़े शब्दोंमें से पहला अक्षर लेकर एक छोटा शब्द तो बनाया जा सकता है. जैसे कि वेदमें ही **तज्जलानिति शान्त उपासीत** वचनमें **तस्मिन् जायते, तस्मिन् लियते इति 'तज्जलान्'** ऐसे छोटे छोटे शब्द बने हुये मिलते हैं. उसी प्रकार यौगिक शब्द भी बनाये गये हैं. उदाहरणतया – भैंसको भैंस क्यों कहते हैं? भैं+स = भैंस. लेकिन भैं एवं स का कोई अर्थ नहीं होता अतएव यह शब्द यौगिक शब्द नहीं है लेकिन रूढ शब्द है. रूढिमें भैंसको भैंस कहते हैं. लेकिन **पंकज** अर्थात् पंक=कीचड़ उसमें से जो जन्मता हो खिलता हो उस पुष्पको **पंकज** कहते हैं. यह रूढ नहीं है यौगिक शब्द है. क्योंकि पंक+ज= पंकज. इसी प्रकार **अश्वत्थ**के दो यौगिक अर्थ पहले हम देख चुके हैं. उसी प्रकार यहां भी **परम**का अर्थ भाष्यकारने यौगिक अर्थ दिखाया है कि **परो मीयते अस्मिन् इति परमः** अर्थात् उस परतत्वको जहां जाना जा सके उसे **परम** कहते हैं. इस **परतत्व**को कहां कहां जाना जा सकता है? उत्तररूपमें पूछा ही जा रहा है कि **परतत्व**को कहां नहीं जाना जा सकता? उसे तो सब ही जान सकते हैं. जो सर्वव्यापी है उसे सर्वत्र जाना जा सकता है.

समस्या यह नहीं है कि इसे कहां जाना जा सकता है लेकिन हमारी समस्या यह है कि हम इसे कहां जान सकते हैं. जहां हम इसे जान सकते हैं, वह हमारे लिये उसका **परमधाम** बन जायेगा. तुम जहां नहीं समझते कि यह यहां भी हो सकता है तो तुम्हारेलिये उसका वहां परम धाम नहीं है लेकिन सामान्य धाम है. यह तो बिचारा सर्वव्यापी होनेके कारण सब स्थानोंपर बिराजता ही है. लेकिन तुम्हारी ऐसी कुछ सीमायें हैं, मुश्किलें हैं, जिसके कारण तुम उसे वहां नहीं जान सकते. अतएव भगवान गीताजीमें आज्ञा करते हैं – **शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः** कुत्ते, चाण्डाल, ब्राह्मण अथवा जो कोई भी हो, ब्रह्मज्ञानी सब जगह ब्रह्मको ही देखता है. क्योंकि ज्ञानचक्षुसे इसे अव्यक्त अव्यय परब्रह्म परमात्माके ही सर्वत्र दर्शन होते हैं.

भक्तकी कुछ अलग मुश्किल है क्योंकि वह परमेश्वरको सर्वत्र विद्यमानतया स्वीकारने पर भी ज्ञानीकी तरह शान्त नहीं बैठ जाता. भक्तको तो भगवानकेलिये भीतर भी और बाहर भी मिलनेकी मधुर उद्विग्नता पैदा हो जाती है. मुश्किल यह कि सर्वत्र उसे जाना जा सकता है परन्तु सर्वत्र भजना शक्य नहीं है. वह कैसी कठिनाईयां है? उन मुश्किलों को हमें गीता द्वारा समझना है. भगवानने विभूतियोगमें अर्जुनको सब विभूतियोंका वर्णन करते हुये कहा कि मैं कहां कहां और किस किस प्रकार बिराजमान हूं. जैसे कि **अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्, ऐरावतो गजेन्द्रानाम्, नराणाम् च नराधिपो वृष्णीनां वासुदेवः, पाण्डवानां धनंजयः** इत्यादि तो कितने सारे भगवानके ठिकाने हैं. यहां विचारणीय बात यह है कि पांडवोंमें अर्जुन वैसे ही वृष्णियोंमें स्वयं वासुदेव रूपमें बिराजमान हैं वह जानते हुये भी अर्जुनने स्वयंकी शरणागति नहीं ली, वासुदेवकी शरणागति ली. अतएव जो इसे जहां देख सकता है वहां ही भज सकता है, सर्वत्र नहीं. जैसे **हरि तेरे नाम तो हजार, कहां भेजूं तुझे पत्री?** तो

किस पते पर चिट्ठी लिखनी? ठीक बात है. उस गांवका नाम मिलना मुश्किल है जहां तलक हम निश्चयसे निर्धार नहीं करते कि किस गांवमें उसे खोजना है. निश्चय करो कि इस गांवमें मुझे उसे ढूंढना है, और उस गांवका पता लिखो; वहां उसे पत्री मिल जायेगी. तात्पर्य यह कि बाहर, अंदर, ऊपर नीचे, घरमें, मंदिरमें, पर्वतमें, नदीमें, सब जगह यह व्याप्त है, जिस गांवमें तुमने इसे पत्री लिख कर भेजनी हो वहांका निश्चयेन निर्धारण पहले कर लो. फिर जिस गांवमें तुम इसे पत्री लिख कर भेजोगे वहां इसे पत्री मिल जायेगी. यह पक्का आयेगा भी. क्योंकि भगवान स्वयं आज्ञा करते हैं **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्** जो जिस प्रकारसे मेरे समक्ष प्रपन्न होता है उसके सामने मैं उसी प्रकार पहुंच जाता हूं.

इसके लिये शास्त्रें में एक सुपरिभाषित व्यवस्था दिखानेमें आई है कि – **अग्नौ क्रियावतां देवो दिवि देवो मनस्विनाम्. प्रतिमास्वल्पबुद्धिनां योगिनां हृदये हरिः.** जिन लोगोंको यज्ञ–यागादि कर्मकांड करना है, उनकेलिये देव अग्निमें बसता है. किसी मनस्वीको ऐसा लगे कि मेरा मन अग्निमें नहीं मानता, कि जिस प्रकार कर्मशास्त्रेंने विधान किया है, तो अग्निकुंडमें तू पत्रीको स्वाहा मत कर, वह उसे नहीं मिलेगी. मनस्वीके शास्त्र ऐसा कहते हैं कि तेरेलिये तो देवी–देवता सब ऊपरही बसते हैं. अतएव तेरी आमंत्रण पत्रिका तू ऊपर भेज. भू भुव स्वः मह जन तप सत्य कैलाश या वैकुण्ठ, इत्यादि जो हम विचार सकते हों यहीं विचार लेना. बहुत खोज छानबीन नहीं करनी कि पत्री कहां भेजूं, तो उसकी एक प्रतिमा घड़ो और भजन शुरु कर सकते हो. अब अव्ययकी प्रतिमा तो घड़नी शक्य नहीं है **न तस्य प्रतिमा विद्यते** ऐसा लगता हो भगवान कहते हैं अव्यक्तकी प्रतिमा नहीं घढ़ सकते, यह बात तो ठीक है परन्तु वह अव्यक्त परमात्मा तुम्हारे हृदयमें भावरूपसे व्यक्त होना चाहता हो तब

उसकी अव्यक्तता उसके आड़े नहीं आती. यह भाव रूप जब हृदयमें व्यक्त हो, तो फिर वह भावरूप व्यक्त परमात्मा कैसा है, यह तुम्हारा हृदय तुम्हें समझा देगा. भावरूप परमात्माके स्वरूपके अनुरूप तुम उसकी प्रतिमा घड़ सकते हो. इसकेलिये ही हमारे यहां कहते हैं **जाकी रही भावना जैसी प्रभुमूरत तिन देखी तैसी.** तो जैसी तुम्हारी भावना हो उसके द्वारा ही तुम उसे घड़ सकते हो. शुद्ध भावना होनी चाहिये, यह बात पक्की है. कपटकी भावना नहीं चलेगी कि अभी तो स्वरूप सिद्ध करुं फिर धंधा चालू करुं और गांवमें प.भ. के तौरपर पुजने लगूं. ऐसा नहीं होना चाहिये. अगर तुम्हारी शुद्ध भावना है कि इस प्रकार मुझे इसे भजना है, तो ऐसी शुद्ध भावनासे स्वरूप घड़ोगे तो अव्यक्तको भी तुम तुम्हारी भावनाकी छैनी हथोड़ेसे घड़के व्यक्त कर सकते हो.

भागवतने हमारे लिये स्वीकार ही रखा है – **त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्. यद्–यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तद्–तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय.** तुम्हारे हृदयमें रहे हुये भावयोगसे और तुम्हारी सात्विकबुद्धिसे जब तुम इसकी जैसी विभावना करते हो तब उसका पारमार्थिक स्वरूप धारण करके यह तुम्हारे सामने प्रकट होता है.

इसको सिद्ध करनेकेलिये श्रीकृष्णने हमें प्रमाण दिया है. जब श्रीकृष्ण मथुरा पधारे तब – **मल्लानाम् अशनिः नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रेः शिशुः. मृत्युर्भोजपतेः विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः** जो पहलवान थे उनकी भावनाके अनुरूप यह छोटासा बच्चा उन्हें पहलवान जैसा दिखाई दिया, सामान्य मनुष्योंको कोई श्रेष्ठ नर जैसे भगवान् दिखाई दिये, स्त्रियोंको कमनीय साक्षात् कामदेव जैसे दिखाई दिये, कंसको मृत्यु आती दिखाई दी,

वसुदेव–देवकीको अत्यंत कोमल बालक दिखाई दिया, योगियोंको अपने हृदयमें बिराजता परमेश्वर दिखाई दिया, वृष्णियोंको परदेवता दिखाई दिया. अतएव भागवतकार बहुत प्रकारसे वर्णन करते हैं.

अनेक भावनाओंके अनुरूप भगवान अपनी मूर्ति एककालावच्छिन्न घड़कर तुम्हारे सामने प्रगट हो सकता है. भावयोगसे इस स्वरूपको तुम स्वयं घड़ सकते हो. तो अव्यक्तका रूप भी तुम व्यक्त कर सकते हो, ऐसी सामर्थ्य प्रभुने तुम्हें दी है, और उस सामर्थ्यको तुम भोग सकते हो.

जैसे लोकतांत्रिक सरकारमें सरकार वह ही कि जिसे हमने चुना है. चुन लेनेके बाद वह अपने ऊपर शासन करती है, लेकिन वास्तवमें तो शासन कौन करे उसे चुननेका अधिकार हमारा है. ऐसे ही परमात्माने हमें अधिकार दिया है कि तू तेरे इष्टदेवको चुन, और जिस रूपको तू चुनेगा उस रूपमें मैं तेरी सरकार बन जाऊंगा. शुद्ध वोट तुम मुझे देते रहो, धोखाधड़ीका वोट नहीं. और वोटमें भी तुम्हें पता होगा कि कमलपर, दीयेपर, पेड़पर, साईकलपर, ऐसे बहुतसे निशानों पर तुम ठप्पा लगा दोगे तो वोट इनवेलिड रद्द हो जाता है. अर्थात् **अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते. तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्.** तात्पर्यतः सब निशानोंपर ठप्पा नहीं लगाना होता. चुनावकी प्रक्रिया अभी भी बहुतसे लोग नहीं समझते, अतएव बहुत मुश्किल पड़ जाती है. सबही निशानोंपर तुम ठप्पा लगा दोगे तो यह तुम्हारा **नित्याभियोग** नहीं कहलायेगा. इसके लिये तुम्हें थोड़ी अच्छी तरहसे चुननेकी प्रक्रिया समझनी पड़ेगी कि तुम्हारा जो वोट है उसे सबको मत दो. ब्रह्मरूपी बैलट पेपर पर तो सबही भजनीय देवोंके रूप या निशान विद्यमान हैं, लेकिन तुम्हारी सरकार वह ही बनेगी कि जिसके ऊपर तुमने ध्यानभक्तिका ठप्पा लगाया होगा. वह ही तुम्हारेलिये परब्रह्म परमात्मा भगवान बन जायेगा.

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति. तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विद्धाम्यहम्. स तया श्रद्धया युक्तो तस्याराधनमीहते. लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्. अतएव चुननेकी प्रक्रिया सबसे पहले प्रभुने हमें समझायी है. इसमें कपट या मूर्खता करेंगे तो चुननेकी प्रक्रियामें ही गड़बड़ हो जायेगी तो वह चुनाव किस प्रकार जीत पायेगा?

मूलमें तो समझनेकी बात इतनी ही है कि तुम्हारी अनन्य अव्यभिचारिणी भक्तिसे इसे चुनो. जिस रूपमें तुम इसे चुनोगे तो उस रूपमें यह तुम्हारा पुरुषोत्तम हो जायेगा. बात समझनेकी यह है कि इस अव्यक्तका भी हम व्यक्त आकार घड़ सकते हैं. और उसका प्रमाण एक डोकरीकी वार्ता है कि इसने कभी भी बालकृष्णलालके दर्शन नहीं करे थे. इसके यहां एक आगन्तुक वैष्णव सेवा पधरा कर बाहर कुछ काम काजकेलिये गये. तो डोकरीने झांपी खोली और बालकृष्णलाल पधराये तब उसे ऐसा लगा कि इन्हें तो ठंड लगती होगी इसलिये ऐसे सिकुड़ कर बिराजे हैं! अतएव इस डोकरीने तो श्रीठाकुरजीकी तेलमालिश चालू करदी. पहले टेढ़ेपनको दूर करूं. फिर दूसरी सेवा. मालिश करती गई और आखिरमें श्रीठाकुरजीको भी, **त्वं भावयोगपरिभावित....** वचन प्रमाणसे बालकृष्णलालजीका रूप छोड़कर मदनमोहनजीका रूप धारण करना पड़ा. अतएव भावयोगसे परमात्माके रूपको बदला जा सकता है, लेकिन भक्ति अव्यभिचारिणी होनी चाहिये. शुद्ध–भोलीभाली भक्ति; इसमें छलकपटकी कोई बात नहीं. ऐसे नहीं कि बालकृष्णलालके दर्शन करवानेके कारण थोड़ी भेंट आती है, थोड़े मनोरथी आते हैं, इसलिये उन्हें मदनमोहनजी बना देना!

एक गांवके वैष्णव मेरे पास शिकायत लेकर आये कि वहां पुष्टिमार्गका एक मंदिर है जो कि बहुत ही पुराना हो गया है और उसका पुनरुद्धार करवाना है तो किस प्रकार

करें? तो मैंने पूछा कि पुनरुद्धारकी क्या जरूरत है? यह श्रीठाकुरजी जिसके हैं उसे पधरा दो; और उसे कहो कि अपने घरमें पधराकर श्रीठाकुरजीकी सेवा करे. तो उन लोगोंने कहा कि दो तीन पीढ़ी पहले कोई इन स्वरूपकी सेवा करते थे. अब तो उनके वंशज सेवा करनेके इच्छुक नहीं हैं. अतएव यह अब सार्वजनिक मंदिर बन गया है. और अब इसका कोई पुनरुद्धार नहीं करता, हवेली बहुत पुरानी हो गई है तो क्या करना? मैंने कहा कि इसमें मैं कुछ नहीं कर सकता, तुम्हें जैसे समझमें आये करो. पुराना घर पड़ जाता है तो आदमी बैंकमें से पैसे निकालकर उसका स्वयं पुनरुद्धार करा देता है. गांवकी हवेलीका कौन पुनरुद्धार करायेगा? अपनी जेबका पैसा खर्चनेकी इच्छा तो किसीको भी नहीं होती ना! अतएव लक्ष्मी के नाथके नाम पर भीख मांगनेके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है. अब इन लोगोंने गांवमेंसे भीख मांगनी चालू कर दी. फिर तो इन्होंने देवीके भक्तोंसे, इतर देवोंके भक्तोंसे, सांईबाबाके भक्तों से; मतलब कि हिन्दु मुस्लिम सिख ईसाई सबको मेरा सलाम करके सबसे भीख मांगकर मंदिरका जीर्णोद्धार करा दिया. मंदिरका जीर्णोद्धार तो ठीक तरहसे हो गया लेकिन बादमें एक बड़ी पंचायत खड़ी हो गई कि जीर्णोद्धारमें जिन लोगोंने ज्यादा पैसा दिया था उन्होंने कहा कि इतना सारा पैसा तुम ले गये हो तो हिसाबकिताबमें घोटाला न हो इसके लिये मैनेज्मेंट कमेटीमें हमें भी लो. जिसने ज्यादा पैसा दिया है उसके सामने अब किसीकी कुछ चले भी नहीं. तो उनका नाम मैनेज्मेंट कमेटीमें डाल दिया गया. अब सार्वजनिक मंदिर होनेके कारण हिन्दु मुस्लिम सिख ईसाई सब समभाव वाले. अब इन्हें लगा कि यहांके ठाकुरजी तो बहुत छोटे हैं तो उनके दर्शनभी ठीक तरहसे नहीं होते, अतएव मंदिरका जीर्णोद्धार तो फंडसे बहुत अच्छा हो गया लेकिन इस नई हवेलीमें इतने छोटे ठाकुरजीसे हमें मजा नहीं

आता इसलिये बड़े ठाकुरजी पधराओ. अब इन लोगोंको जुलाब लगा कि जो बड़े ठाकुरजी पधरायें तो इन छोटे ठाकुरजीकी हवेलीकी पूजाविधि सब बदल जायेगी. तो इन्होंने विचार किया कि कौनसे ठाकुरजी पधराने? तो प्रत्येक व्यक्तिने अपने अपने आराध्यका नाम नोट करवा दिया. अब सबके नाम अलग अलग होनेसे सब लड़ने लगे. हनुमान भक्तोंने कहा कि हनुमानजी पधराओ, महाराष्ट्री लोगोंने कहा पांडुरंग विट्ठलनाथजी पधराओ, तो सांईबाबाके सेवकोंने कहा कि सांईबाबाकी मूर्ति पधराओ. तो वे सब फिर मेरे पास आये कि आप इस गांवमें प्रवचन करो कि पुष्टिमार्गमें अन्याश्रय नहीं किया जाता, बंधी हुई हवेलीमें छोटे बालकृष्णलालकी ही सेवा होगी. मैंने कहा कि ''मैंने पहले ही कहा था कि जिसके ठाकुरजी हैं उसके घरमें पधरादो. तो तुमने पधराये नहीं. गांवके लोगोंसे फंड एकत्रित किया इसलिये ये लोग मैनेज्मेंट कमेटीमें आये.'' छोटे बालकृष्णलालजीसे इनका भाव सन्तुष्ट नहीं कारण कि बालकृष्णलाल इनके देव नहीं. किसीके देव हनुमानजी हों, किसीके देव सांईबाबा हों, सब अपने अपने देवोंको लाना चाहें. अतएव इन लोगोंको जुलाब लगा कि सबके देव जो यहां आ जायेंगे तो यह फिर पुष्टिमार्गीय हवेली ही नहीं रहेगी!

हवेली तो घर ही होती है सार्वजनिक मंदिर नहीं. परन्तु ठोठेशभाई टबुकड़ाकी समझ उल्टी कि हवेली अर्थात् मंदिर. वास्तवमें हवेली अर्थात् घर. इसलिये घरमें सेवा करनी होती है. और जिसे घरमें सेवा नहीं करनी और सार्वजनिक मंदिरमें ही करनी है, तो सार्वजनिकमें तो सब आ ही सकते हैं. इसमें तुम सांईबाबाके भक्तोंको रोक नहीं सकते; जिसने फंडमें पैसा दिया है वह तो आयेगा ही और तुम ना नहीं कह सकते. जिसे जिसे तुम दर्शन करने दोगे वह सब अपने इष्टदेवोंकी मांग करेंगे ही.

एक हवेलीका ट्रस्ट हुआ. इसके ट्रस्टीओंने इसमें सूचना पट्टी लगाई कि हिन्दु, मुस्लिम, सिख, ईसाई सबको पुष्टिमार्गमें सेवा करनेका अधिकार है. हमारा इतिहास देख लो कि ताजबीबी और अलीखान पठान भी सेवक थे. अरे भाई! ताजबीबी और अलीखान पठान ये मुसलमान नहीं थे, ये कंठीबंध वैष्णव थे. किसने कहा कि हिन्दु, मुसलमान, सिख, ईसाई सबको सेवाका अधिकार है? हमारे यहां तो अस्वमार्गीय ब्राह्मणोंको भी अधिकार नहीं था और स्वमार्गीय मुगल पठानोंको भी सेवाका अधिकार है. मुगल–पठान सब मुसलमान नहीं होते, यह तो जातिके नाम हैं धर्मके नाम नहीं. इसलिये किसीभी जातिका आदमी जिसने ब्रह्मसंबंध लिया हो उसे अधिकार है, जिसने ब्रह्मसंबंध नहीं लिया उसे तो अधिकारही नहीं है. यह होते हुये उन्होंने ट्रस्टकी स्कीममें ऐसे लिखा दिया और सबसे बड़ी पंचायत तो यह हुई कि यह श्रीठाकुरजी जिस गोस्वामी बालकके माथे बिराजते थे उन बालकोंकी वहांसे छुट्टी करदी गई. ट्रस्टीओंने कहा कि हमें गोस्वामी बालक नहीं चाहियें, हम हवेली चला लेंगे. ठोठेशभाई टबुकड़ाकी बुद्धिके आधार पर हम पुष्टिमार्गको समझना चाहते हैं. अरे! इसका नाम पुष्टिमार्ग नहीं है भाई! घरमें सेवा करो. अपने तनसे और अपने धनसे. और अपने घरमें कृष्णसेवा करो तो इतने सारे ऊधम मचें ही नहीं. गांवसे पैसा इक्ट्ठा करोगे तो गांवको रोक नहीं सकते. वास्तविकता तो यह है कि जिसने पैसा दिया है वह तो अपना हक मांगेगा ही. तुम पैसा ले लो और हक नहीं दो तो वह बेईमानी कहलाती है. तो किसीको हक देना हो तो ही उनसे पैसा लेना चाहिये. हक नहीं देते तो उनके पाससे पैसा भी नहीं लेना चाहिये. जब हमें गांवका हक स्वीकारना हो तो गांवको दर्शन कराने चाहियें. तब इसे **हवेली** मत कहो; इसे गांवका मन्दिर कहो. ऐसा कभी भी नहीं कहना **यह मेरा घर है,** यह तो फिर गांवका धर्मादा मंदिर है. अगर

अपना घर कहना हो तो अपने घरकेलिये गांवसे पैसा नहीं लेना चाहिये.

मुद्दे की बात यह है कि अपने भावसे हम कहीं भी खोंजे तो इसे रूप दे सकते हैं. इसमें घर, हवेली कि मूर्ति यह सब हेतु नहीं बनते. उसके लिये ही कहा गया है **योगिनां हृदये हरिः.**

योगीजनोंको हवेली, पर्वत, मंदिर, नदी या घर किसीकी भी जरूरत नहीं होती. योगी एकान्तमें किसी वृक्षके नीचे बैठा होता है, इसके तो हृदयमें हरि हैं. अतएव तुमने उसके दर्शन जहां करने हों वहां उसका परम धाम है. तुमने कहां दर्शन करने हैं, पहले उस स्थानका निश्चय करो. भटका–भटकी करके, सबको वोट देनेकी पद्धतिसे, सबका पैसा खा जानेकी पद्धतिसे भगवान तुम्हें किसी भी दिन दर्शन नहीं देगा. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि भागवत हमारा सर्वसंदेहवारक शास्त्र है. वह भागवत ऐसा कहती है – **यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तामात्मानमीश्वरम्. हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः** जो परमात्मा प्राणीमात्रमें बिराजा हुआ है उसकी इन धातु–शिलाकी मूर्तिमें भजन करना यह तो बुझी हुई आगमें आहुति देने जैसी मूर्खता है.

अब या तो भागवतको हम अप्रमाण मानें, क्योंकि अग्निकुंडमें आग जब बुझ जाती है तब यज्ञके नियमके अनुसार इसमें आहुति नहीं डालनी चाहिये. जब ज्वाला निकलती हो तब ही आहुति डालनेका नियम है. और भागवतमें पक्का वर्णन आया है कि प्राणीमात्रमें बिराजमान परमात्माका केवल मूर्तिमें भजन करना बुझी हुई अग्निमें आहुति डालने जैसा है. अतएव या तो भागवतको अप्रमाण मानो या फिर मूर्तिपूजनको अप्रमाण मानों.

श्रीमहाप्रभुजीने हमें बहुत गजबकी बात समझाई है उसे समझो. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि यह बात इसके लिये कही

जा रही है कि जिसे परमात्माको मूर्तिमें ही दर्शन करने हैं. वस्तुमात्र कि प्राणीमात्रमें जो परमात्मा बिराजता है वह क्या मूर्तिमें नहीं बिराजता? इस बातको अच्छी तरहसे समझो.

मूर्तिमें अगर नहीं बिराजता तो ब्रह्मकी व्यापकता खंडित हो जाती है. इसकेलियेही एक सूफी संतने इस बातको बहुत सुंदर तरीकेसे समझाया है – **मुसलमां गर बेदानिश्ती के बुत चीस्त. बेदानिश्ती कि दीं दर बुतपरस्तीस्त. चुं अशया हस्त हस्तीरा मजाहिर. बुवद् जुम्ला यके बुत बाशद् आखिर.** अर्थात् मुसलमानोंको पता ही नहीं है कि सच्चा दीन ईमान किसमें है, इसलिये ये लोग हिन्दुओंके साथ झगड़ा करते हैं कि क्यों हिन्दु लोग पत्थरकी मूर्तिको भगवान् समझ कर पूजते हैं. इसलिये सब हिन्दु लोग काफिर हैं. लेकिन मुसलमानको सच्चे दीन–ईमानकी खबर अगर हो तो इन्हें यह बात स्वीकारनी पड़ेगी कि अल्लाहका नूर तो एक एक धूलके कणमें प्रगट हो रहा है, तो जो एक एक रजकणमें परमात्माका नूर प्रगट होता है तो क्या यह मूर्तिको छोड़कर नूर प्रगट हो रहा है? तो क्या यह मूर्तिके कणको छोड़कर एक एक कणमें बिराजमान है? यह वास्तविकता अगर मुसलमानको समझमें आ जाये तो इनके लिये झगड़नेका कोई हेतु बाकी नहीं रह जाता कि बुतमें अल्लाह नहीं है. अरे यार बुतमें भी अल्लाह हो सकता है और मस्जिदमें भी अल्लाह हो सकता है. सर्वव्यापी अल्लाह जो मस्जिदमें हो तो बुतमें–मूर्तिमें भी है ही, और जो मूर्तिमें नहीं है तो मस्जिदमें भी कैसे हो सकता है? इतना बड़ा परमात्मा छोटी या बड़ी जुमामस्जिदमें कैद होकर किस प्रकार रह सकता है? लेकिन जो यह छोटी मस्जिद या जुमा मस्जिदमें रह सकता है तो मूर्तिमें किस कारण नहीं रह सकता? जो सर्वव्यापी है वह सर्वत्र तुम्हारी प्रार्थनाको सुन सकता है, स्वीकार सकता है.

प्रश्न यह नहीं है कि यह कहां है और कहां नहीं. प्रश्न यह है कि तुम इसे कहां खोजना चाहते हो? कहां भजना चाहते हो? कहां इसका आनन्द लेना चाहते हो? जहां तुम इसे खोजना, भजना, इसका आनन्द चाहते हो, उस स्थान पर परमात्मा है. तुम पहले अपना निश्चय करो – **पहले तो अपने दिलकी रजा जान जाइये. फिर जो निगाहेयार कहे मान जाइये.** पहले तुम्हारा हृदय तुम्हें क्या गवाही दे रहा है कि तुम्हें परमात्माको कहां खोजना है इसे पहले अच्छी तरहसे समझ जाओ. फिर तुम्हारे प्रियतमकी दृष्टि तुम्हें समझा देगी कि मैं कहां हूं. तुम इसे जहां खोज रहे हो यह वहीं है, मूर्तिमें खोजते हो तो वहां है, मस्जिदमें खोजते हो तो वहां है, हृदयमें खोजते हो तो वहां है, वैकुण्ठमें खोजते हो तो वैकुण्ठमें है. शिवमें खोजते हो तो शिवमें भी तुम्हें मिलेगा और विष्णुमें खोज रहे होगे तो विष्णुमें भी मिलेगा. पहले तुम्हारा हृदय तुम्हें क्या छूट दे रहा है उसे तो निश्चित करो. किस रूपमें तुम्हें परमात्माका आनन्द चाहिये, उस रूपके लिये, दिलकी रजाको तो पहले जानो. पहले तुम्हारा माननीय कौन है, उसका निशान कमल, ऊंट कि हाथ उसे तो जान लो, निश्चित करलो और फिर उस पर ध्यानभक्तिका ठप्पा लगाओ. इसे चुनने पर यह तुम्हारे पास आ जायेगा.

लेकिन तुम्हें पता ही नहीं है अतएव या तो तुम जो कोई भी निशान सामने आयेगा उसके ऊपर ठप्पा मार दोगे या फिर सबके ऊपर ही मार दोगे. पिछली बार चुनावोंमें दीवार दीवार पर लिखा हुआ था '' जात पर न पांत पर, मोहर लगाओ हाथ पर''. अब गांवोंके लोगोंने अपने हाथ पर मोहर लगाई और चल दिये! पंजा पर अर्थात् अपने हाथ पर **अहं ब्रह्मास्मि का ठप्पा लगा दिया. बेचारा उम्मीदवार हार गया. हमें ऐसा लगता है कि अहं ब्रह्मास्मि** मैं स्वयंही ब्रह्म हूं. हो गई छुट्टी. सब देवता कैन्सल हो गये. तो यह सब

सावधानी हमें रखनी चाहिये. हमें पता होना चाहिये कि किस प्रकार हमें इसे चुनना है? इसकेलिये ही श्रीमहाप्रभुजीने सुबोधिनीमें स्पष्ट किया है कि सर्व प्राणीयोंमें जिसे परमात्माका भजन करना है उसके लिये यह वचन हैं कि मूर्तिमें जो भजना चाहता है वह बुझी अग्निमें आहुति देना चाह रहा है. लेकिन जब सर्व वस्तुओं में, कणकणमें, परमात्मा विद्यमान है उसकेलिये मूर्तिमें परमात्मा बुझी अग्नि नहीं लेकिन प्रज्ज्वलित परमात्मा है. यह बात समझ लेनी चाहिये.

इसकेलिये शास्त्रमें ऐसा कहने में आया है **शिलाबुद्धिर्न कार्या च तत्र नारद कर्हिचित् ज्ञानानंदात्मको विष्णुर्यत्र तिष्ठत्यचिन्त्यकृत्** अर्थात् स्वयंकी भजनीय भगवन्मूर्तिमें किसी दिन पत्थरकी बुद्धि नहीं करनी चाहिये. क्योंकि ज्ञानानन्दात्मक परमात्मा वहां मौजूद है. और जो वह ज्ञानानन्दात्मक शिला कि धातुकी मूर्तिमें न हो तो प्राणियोंमें भी नहीं हो सकता. क्योंकि प्राणी भी गाय, भैंस, ढोर हैं; तो इनमें परमात्मा किस प्रकार हो सकता है? और जो भैंस, ढोर, मुर्गा, चोर, गिलीन्डर, गुंडोंमें इन सबमें जो परमात्मा हो तो मूर्तिमें क्यों नहीं हो सकता? मूर्ति कमसे कम किसीकी डकैती, छीनाझपटी या किसीकी जेब तो नहीं काटती. मूर्ति तो बहुत संत स्वभावकी होती है. मूर्ति किसी भी दिन किसीको भी परेशान नहीं करती, किसीको कभी भी तकलीफ नहीं देती. इतने शांत स्वभावकी मूर्ति होती है. तो एक बात समझो कि ज्ञानानन्दात्मक विष्णु वहां बिराजमान ही है. लेकिन इसकेलिये तुम्हारी दृष्टि अव्यभिचारिणी भक्तिकी हो तो यह वहां बिराजमान है. अव्यभिचारिणी भक्ति तुम्हारेमें नहीं है तो यह प्राणीमात्रमें भी नहीं है.

साक्षात् कृष्ण जब भूतल पर अवतरित हुये थे उस समय भी बहुत लोगोंकी कृष्णमें भगवद्बुद्धि नहीं थी. यह लोग इन्हें कुछ दूसरा ही समझते थे. शिशुपालने तो इन्हें गाली भी दी

हैं. और इन बहुत सारी गालियोंमें इन्हें ऐसा भी कहा है कि तूने पूतना मारी तो क्या हुआ? यह तो कोई भी मनुष्य मार सकता है. कदाचित नहीं भी मारी हो तो अफवाह फैला दो कि पूतनाको मारा तो कौन देखने जा रहा है कि मारी कि नहीं मारी! ऐसी बहुतसी गालियां दी हैं. तुम कहते हो कि गिरिराज धारण किया. अरे ! कोई छोटासा पत्थर उठाया होगा और लोगोंने बातको बढ़ा चढ़ा कर बता दिया कि गिरिराज धारण किया. शिशुपालने ऐसी गालियां कृष्णके सामने उनके मुखारविन्दके ऊपर दी हैं. तो एक बात समझो कि जिसे नहीं दिखाई देता उसके सामने तो साक्षात् कृष्ण प्रकट हो जायें तो भी नहीं दिखाई देगा, मूर्ति अथवा प्राणीकी बात तो एक तरफ रही. जिसे दिखाई देता है उसे तो कहां नहीं दिखाई देता? उसे तो सबही ठिकानोंपर दिखाई देगा. हमारे भी ऐसा ही कहा जाता है कि वस्त्रकी भी सेवा होती है, मोजाजी पधराओ तो उसकी, ठाकुरजीके अंगरागको पधराओ तो अंगरागकी भी सेवा हो सकती है. इसकेलिये ही श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं **तव परियेचरन्ति** की सुबोधिनीमें कि **त्वत्संबन्धिनं यं कंचन पदार्थम् अनुचरन्ति** अर्थात् हे भगवान! तेरे साथ जुड़ी हुई कोई भी वस्तु हमारे लिये सेवनीय है, तू ही सेवनीय है खाली ऐसाही नहीं. अतएव लैलाकी गलीका कुत्ता भी मजनूकेलिये आदरणीय है. कुत्ता है तो क्या हुआ, है तो मेरी लैलाकी गलीका ना! ऐसे श्रीठाकुरजीके प्रसादी वस्त्रकी हम सेवा कर सकते हैं, प्रसादी वेणुकी, प्रसादी मोजाजीकी सेवा कर सकते हैं. बस श्रीठाकुरजीके संबंधमें आनी चाहिये. जहां श्रीठाकुरजीका संबंध आया वहां हम सेवा कर सकते हैं.

यहां एक बात और समझो. आज तो ठोठेशभाई टबुकडाको ऐसा लगता होगा कि गोस्वामी बालक सब पुरुषोत्तम हैं, लेकिन प्राचीन शास्त्रेंका सिद्धान्त ऐसा नहीं होता था कि ठोठेशभाई टबुकडा पुरुषोत्तम होते हैं. शास्त्रका

सिद्धान्त यह था कि गुरु तुम्हें परमात्मासे संबंधित दिखाई देता है तो जैसे परमात्मसंबंधी वस्त्र तुम्हारेलिये पूजनीय है वेसे ही परमात्मासे संबंध बंधवानेवाले गुरुकी भी हम परमात्मबुद्धिसे सेवा करते थे. उसकेलिये ही उपनिषदमें ऐसे कहनेमें आया है **आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव.** लेकिन ठोठेशभाई टबुकडाको खबर ही नहीं पड़ती कि इसका अर्थ क्या है, यह तो फिर ठोठेशभाईका माहात्म्य है. शास्त्र ऐसे नहीं कहता कि आचार्य–माता–पिता देव हैं, अतिथि देव हैं. क्योंकि जो अतिथि देव हो और वह एक दिन आनेके बाद घरसे निकले ही नहीं, आया तो आ गया. मथ्थे पड़ गया मफतलाल. तो इसे निकालना कैसे? हम कहें कि अपने घर जाओ तो यह कहे कि ना भाई ना यह मेराही घर है. शास्त्रमें एक कहावत है **मातृवत् परदारेषु** अर्थात् दूसरेकी पत्नीको माता समान मानना. तो ठोठेशभाई टबुकडा कहेगा **हां, मेरे बच्चोंकी माता समान सब रूपवती स्त्रियोंको मैं मानता हूं!** मैं कहां माता समान नहीं मानता. शास्त्र दूसरी आज्ञा करता है **परद्रव्येषु लोष्ठवत् आत्मवत् सर्वभूतेषु** तो इसे लगेगा कि अरे! दूसरेका द्रव्य अर्थात् मिट्टी जैसा. इसकी कोई कीमत नहीं, खूब खर्चो और दूसरेके पैसेसे मौज मारो, क्योंकि यह तो माटीवत् है! तुम्हारे घरमें आकर बैठ जाये, और कहे **किसने कहा कि तुम्हारा घर मेरा घर नहीं है, तुम्हारा घर यह मेरा ही घर है.** अब ऐसे अतिथिको देव नहीं कहा जाता समझे! ऐसोंकी तो गरदन पर हाथ मार कर छुट्टी कर देनी होती है.

शास्त्रमें कहा गया है कि अतिथिकी तुम देव जैसी सेवा करो. अतिथि यह देव नहीं है, लेकिन देवकेलिये तुम्हारे हृदयमें जो आदर होता है वैसा आदर इसे दो. इसही प्रकार आचार्यकेलिये जिसकी देवबुद्धि हो ऐसा तू बन. श्रुति ऐसा नहीं कहती कि आचार्य स्वयंमें देव है. आचार्यकेलिये जिसमें देवता

जैसा आदर हो वैसा तू बन. **आचार्यदेवो** बहुब्रीहि समास है **आचार्यो देवो यस्य** यह कोई कर्मधारय नहीं है **नीलकमल** या **वैयाकरणखसूची**की तरह. विशेषण–विशेष्यके समासको कर्मधारय कहते हैं. **नील** कि **खसूची** यह विशेषण और **कमल** कि **वैयाकरण** वह विशेष्य. ऐसा कर्मधारय समास यहां नहीं है. अतएव **आचार्यदेव** अर्थात् जितना देवताकेलिये आदर होता है ऐसाही आदर गुरुकेलिये भी हो. श्रुति कहती है कि माता पिता आचार्य अतिथिकेलिये परमात्मा जैसा आदर रखना चाहिये. लेकिन माता पिता हिरण्यकशियपु जैसा हो तो ऐसेको न तो देव मानना और ना ही पूजना. देव मानकर तो नृसिंहजीको पूजना होता है. हिरण्यकशियपुको नहीं. हिरण्यकशियपु अर्थात् जो सारा सोना अपने सिरके नीचे रखकर सोता हो वह. कशियपु अर्थात् तकिया और हिरण्य अर्थात् सोना. अतएव सोनेके बारेमें अपनी पत्नी पर भी विश्वास नहीं रखे, और अपने सिरके नीचे रखे हुये सोनेको कोई हाथ भी लगाये तो उसकी नींद उड़ जाये, यह हिरण्यकशियपु. ऐसे पिताको देव नहीं मानना होता, नहीं तो समाजका बट्टा ही बैठ जायेगा. हिरण्यकशियपु भक्त है कि संत है कि शैतान है उसका विवेक तो रखना ही पड़ेगा. उसकी हरेक हां में अपनी हां नहीं मिलानी होती. अतएव समझो कि देवका जो निरूपण करनेमें आया उस भगवत्संबंधसे देवत्वका यहां निरूपण किया गया. क्योंकि माता पिताने हमें मानवजन्म दिया है कि जिससे परमात्माकी दिशामें आगे बढ़ा जा सके, इसके कारण **मातृ–पितृदेवो भव.** आचार्य भी हमें भगवानकी तरफ ले जाने वाले होते हैं. उसके लिये श्रुति कहती है **आचार्यदेवो भव** और इस प्रकार हम आचार्यको देव मानेंगे तो ही हम परमात्माकी ओर बढ़ सकते हैं, नहीं तो प्रभुकी ओर हम आगे नहीं बढ़ सकते.

अतएव प्रभुसे संबंधित जो कुछ पदार्थ हो उसकी सेवा हो सकती है. मूल मुद्देकी बात समझो कि जब हम प्रभुकी सेवा करते होते हैं तो उससे पहले हमें निर्धारित करना पड़ेगा कि हमें प्रभुके दर्शन कहां करने हैं. **तद् धाम परमं मम** कहे अनुसार वह तुम्हारे लिये परमधाम बन जायेगा. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि **पर** का हमें **मान** होता हो, **मान** अर्थात् भान होता हो, वह उसका परम धाम है. और जहां तुम्हें परत्व अनुभूत नहीं होता हो, जहां तुम इसे परमात्माके तौर पर भज नहीं सकते हो वह सब उसके धाम हैं लेकिन परम धाम नहीं. अतएव जो क्रियावान हैं उनका परमधाम अग्नि है, जो मनस्वी हैं उनका परमधाम दिव्यलोक हैं और जो बहुत अधिक बुद्धिसे निरर्थक छानबीन करे बगैर तुरन्त ही परमात्माको खोजना चाहते हैं तो उनका परमधाम आकार अर्थात् प्रतिमारूपी जो आकार है, उसमें है. अतएव एकलव्यकी बात समझो कि एकलव्य धनुर्विद्या सीखनेकेलिये द्रोणाचार्यके पास गया और द्रोणाचार्यने ना कर दी. तब एकलव्यने द्रोणाचार्यकी मूर्ति घड़ी और धनुष संधान शुरु किया. और इसे अर्जुनसे भी अच्छा तीर चलाना आ गया. क्योंकि इसका लक्ष्य एकही था और वह यह कि मुझे द्रोणाचार्यके पास तीर चलाना सीखना है.

इसकेलिये ही आचार्यचरण भी आज्ञा करते हैं – **कृष्णसेवा परं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम्. श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्. तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्. परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्.**

अर्थात् जो कृष्णसेवामें तत्पर हो, जो स्वयं कृष्णसेवा दंभ इत्यादि हेतुसे; अर्थात् अपना पुजापा बढ़ानेकेलिये नहीं कि अपना पेट भरनेकेलिये, कृष्णसेवा न करता हो और जो श्रीमद्भागवतके वास्तविक सिद्धान्तोंको समझकर उन्हें दूसरोंको समझा सकता हो, ऐसे व्यक्तिको गुरु मानकर और उसके पाससे कृष्णसेवाका उपदेश ग्रहण करो और उसका

अनुसरण करो. लेकिन **तदभावे** अर्थात् जो कृष्णसेवा न करता हो, कृष्णसेवा करता हो लेकिन दंभसे करता हो, तुम्हें कृष्णसेवाके वास्तविक सिद्धान्त नहीं समझा सकता हो तो, एकलव्यकी भांति **तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्** प्रभुकी मूर्ति तुम्हारे घरमें पधरावो और सेवा करो. **परिचर्या सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्** तुम स्वयं ही इसकी सेवा करनी शुरु कर दो. जब तुम खुद सेवा करनी शुरु कर दोगे तो परमात्मा वहां ही स्थित है. जरा भी शंका तुम अपने हृदयमें मत करो, क्योंकि सर्वव्यापि परमात्मा तुम्हारे भावकी प्रतीक्षा कर रहा है. किसीके पैसोंके भावोंकी प्रतीक्षा नहीं करता लेकिन तुम्हारे भक्तिभावकी प्रतीक्षा रहा है. यह बात अपने हृदयमें स्पष्ट समझ लेनी चाहिये. एकलव्य हो तो तुम्हें, अर्जुन जिस गुरु द्रोणाचार्यके पास सीखा था उससे अधिक, उससे अच्छे बाण चलाना अपने आप आ सकते हैं. इसके लिये ही यह बात श्रीमहाप्रभुजीने भी हमको निबंधमें समझायी है **तदभावे स्वयं वापि.**

।।2. पुरुषोत्तमके मुखारविन्द द्वारा पुरुषोत्तमयोग।।

स्वमुखारविन्द द्वारा अंहकारादेश शैलीमें पुरुषोत्तमका निरूपण :

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।7।। शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।8।। श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।9।। उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजीनं वा गुणान्वितम्। विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।10।। यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। यतन्तोऽप्यकृतात्मनो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।11।।

जीवलोके = इस जीवलोकमें, **जीवभूतः** = जीवात्मा, **मम** = मेरा, **एव** = ही, **सनातनः** = सनातन, **अंशः** = अंश है (और वह ही यह), **प्रकृतिस्थानि** = त्रिगुणवाली प्रकृतिमें स्थित हुयी हुई, **मनःषष्ठानि** = मन और दूसरी पांच ऐसे कुल छः, **इन्द्रयाणि** = इन्द्रियोंका, **कर्षति** = आकर्षण करता है, **वायुः** = वायु, **आशयात्** = गन्धके स्थानसे, **गन्धान्** = गन्धको, **इव** = जिस प्रकार (जिस प्रकार ग्रहण करके ले जाती है उसी प्रकार ही), **ईश्वरः** = देह इत्यादिका स्वामी जीवात्मा, **अपि** = भी, **यत् शरीरम्** = उस पहले शरीरको, **उत्क्रामति** = त्यागता है, **तस्मात्** = उससे, **एतानि** = इस मनके साथ इन्द्रियोंको, **गृहीत्वा** = ग्रहण करके, **च** = फिर, **यत्** = जिस, **शरीरम्** = शरीरको, **अवाप्नोति** = प्राप्त करता है, **(तस्मिन्)** = उसमें, **संयाति** = जाता है, **अयम्** = यह जीवात्मा, **श्रोत्रम्** = कान, **चक्षुः** = आंख, **च** = और, **स्पर्शनम्** = स्पर्शेन्द्रिय, **च** = और, **रसनम्** = जीभ, **घ्राणम्** = नाक, **च** = और, **मनः** = मनको, **अधिष्ठाय** = आश्रय लेकर, अर्थात् सबकी सहायता लेकर, **एव** = ही, **विषयान्** = विषयोंको, **उपसेवते** = सेवन करता है. **उत्क्रामन्तम्** = शरीर छोड़कर जाने वालेको, **वा** = अथवा,

स्थितम् = शरीरमें रहनेवालेको, **भुंजानम्** = विषयोंको भोगनेवालेको, **वा** = अथवा, **गुणान्वितम्** = तीनों गुणवालेको, **अपि** = भी, **विमूढ़ा** = अज्ञानी, **न अनुपश्यन्ति** = जान नहीं सकते, (केवल) **ज्ञानचक्षुषः** = ज्ञानरूपी चक्षुवाले (ज्ञानीलोग ही), **पश्यन्ति** = तत्त्वद्वारा जानते हैं, **योगिनः** = योगी (भी), **आत्मनि** = अपने हृदयमें, **अवस्थितम्** = रहे हुये, **एनम्** = इस आत्माको, **यतन्तः** = यत्न करते करतेही, **पश्यन्ति** = तत्त्व द्वारा जान सकते हैं. **अचेतसः अकृतात्मनः** = जिन्होंने स्वयंका अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है (ऐसा) अयोग्य, **न पश्यन्ति** = नहीं जान सकता ।।**7—11**।।

'यो जगद् भूत्वा क्रीडति' का अंहकारादेशकी शैलीमें निरूपण :

अपने अनेकानेक परमधामोंके होते हुये भी एक और परमधामका अब भगवान निरूपण करना चाह रहे हैं. एक बात समझो कि तुम्हारे पास दस तोला सोना है. इसमेंसे दो तोले सोनेकी तुमने कंठी बनवाली. तो इस दो तोलेकी कंठीमें सोना है कि नहीं? सोना तो है ही ना! दस तोले सोनेका यह दो तोला अंश है. यह अंश है इसलिये सोना नहीं है ऐसा तो नहीं है. सोना तो है ही. सोनेका एक दूसरा नाम और एक दूसरा रूप हमने घढ़ लिया. अतएव अब सोनेका टुकड़ा न रहकर सोनेकी कंठी बन गई लेकिन सोना तो ऐसेका ऐसा ही रहा. **घाट घड्या पछी नाम रूप जूजवा अंते तो हेमनुं हेम भासे.** अतएव कंठी भी आखिरमें तो सोना ही है. उसी प्रकार इस जीवलोकमें जीवभूत जो तत्त्व है यह भगवानका ही अंश होनेके कारण इसमें भी भगवान्को खोजना हो तो वह जीवात्मा भी परमात्माका परमधाम बनता है. अर्थात् प्रत्येक जीवात्मामें भी परमात्मा बिराजमान है ही, यह बात समझ लेनी चाहिये. इस कारण परमात्माका यह वर्णन, तदादेशकी शैलीमें न होकर जीवात्माके आत्मस्वरूपका प्रबोधन, अर्थात् अहंकारके आधार

पर उसे समझानेमें आ रहा है. इसे **अहंकारादेश** कहा जाता है. भगवान तुम्हें यह समझाना चाह रहे हैं कि तुम्हें **मैं परमात्मा हूं** ऐसी भाषामें परमात्माको समझना हो तो कैसी समझ वास्तविक समझ कहलायेगी? तदादेशकी शैलीमें तो पहले समझा ही दिया है कि **वह अव्यय परब्रह्म परमात्मा भगवान् इस अश्वत्थ वृक्षका मूल है.** पुरुषोत्तमको समझानेकेलिये पहले श्लोकसे लेकर छटे श्लोक तक परोक्ष निरूपणकी भाषा प्रयोग की गई. अब अपरोक्ष **मैं** की भाषा, अर्थात् अहंकारादेशकी भाषा प्रयोग करके गीताकार हमें समझाना चाह रहे हैं. परमात्माको समझनेकेलिये अहंकारकी भाषा कैसी होनी चाहिये? ऐसी भाषा नहीं होनी चाहिये कि **समग्र जगत् मैंने बनाया है, जगत् मेरेमें स्थित है, मेरेमें लीन होने वाला है,** इस प्रकार मत समझो लेकिन इस प्रकार समझो कि आखिर **मैं** कौन हूं? उसही परमात्माका अंश हूं, अतएव मेरेमें और उसमें कोई भेद नहीं है. तो तुम्हें तुम्हारी हस्तीमें ही परमात्माकी उपस्थिति अनुभूत हो जायेगी. उसके लिये ही वेद बहुत सुंदर कहते हैं – **[1]हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् प्रजापते! न त्वदेतान्यान्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव. [2]असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्. अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति.**

[1] वस्तुमात्रका पति ऐसा तू हिरण्यगर्भ पहले वास्तवमें था ही. और तू केवल एकाकी देवाधिदेव था. हे प्रजापति! तेरे सिवाय दूसरा कुछ था ही नहीं, यह सब तो बादमें तेरे चारों ओर बना है. [2] यह मनुष्य अपने अस्तित्वको इन्कार रहा है, जो ब्रह्मको इन्कार रहा है. जो इसकी सत्ताको स्वीकारता है वह स्वयं भी है ही.

क्योंकि परब्रह्म सकल नाम–रूप–कर्मात्मक जगतकी समष्टि है. सारी ही व्यष्टि जीवात्माओंकी समष्टि वह परमात्मा है. सब ही व्यष्टि देवोंकी समष्टि देवाधिदेव वह पुरुषोत्तम है.

और वह सबकी केवल समष्टि ही नहीं है परन्तु कुछ अधिक ही है. वेदमें कहा गया है कि **स भूमिं विश्वतो वृत्त्वा अत्यतिष्टद् दशांगुलम्** स्वयं सबमें व्याप्य है इतना ही नहीं लेकिन दश अंगुलि कि एक बिलांत अधिक ही है. यहां बिलांतका बारह कि दश अंगुलियोंका मुद्दा मुख्य नहीं है लेकिन सर्वव्यापिता और असीमता ही मुख्य मुद्दा है. जैसे जूनागढ़में इतने सारे मकान हैं. उन सबमें व्यापकर जूनागढ़ रहता है और उससे कुछ अधिक ही है. निर्मित मकानोंकी चारदीवारोंके बाहर जो खाली जमीन होती है वह भी जूनागढ़ नगरपरिसरमें आती ही है. अतएव अगर तुम जूनागढ़का अस्तित्व इन्कार रहे हो तो जूनागढ़की हवेलीओंको भी इन्कार ही रहे हो, क्योंकि जूनागढ़ ही न हो तो जूनागढ़की हवेली कहांसे हो सकती हैं? जूनागढ़की हवेली जूनागढ़का एक अंश है. तो यह तो संभव हो ही नहीं सकता ना! जो अंश समग्रके अस्तित्वको इन्कारता है तो वह तो अपने अस्तित्वको भी इन्कार रहा है. और जो ऐसे कहते हैं कि हां जूनागढ़ है, तो इसमें कहीं न कहीं जूनागढ़की हवेली भी होनी ही चाहिये. जो ऐसा कहता हो कि ना जूनागढ़ तो नहीं है लेकिन जूनागढ़की हवेली है, तो हमें समझ जाना चाहिये कि इसका ऊपरका हिस्सा खाली है. इसे तो ठोठेशभाई टबुकडा समझना चाहिये.

वेद आगे जाकर ऐसे कहते हैं कि **सन्तम् एनं ततो विदुः** ब्रह्मकी सत्ताको स्वीकारने वाला स्वयं भी है ऐसे मानो. ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान् अहंकारादेशकी शैलीमें वर्णन करते हुये एक बहुत मुद्देकी बात समझाते हैं कि तो तुम्हें अहंकारादेशसे, अहंकी भाषासे परमात्माका स्वरूप समझना हो तो तुम इस रहस्यको समझो कि कोई भी जीवात्मा परमात्माका अंश ही है और अंशीअंशमें तात्त्विक भेद संभव नहीं हो सकता केवल रूपभेद ही हो सकता है. कितने ही व्याख्याकार ऐसे समझाते हैं कि भगवान् जब **ममैव अंश** कहते

हैं उसका अर्थ **मेरा ही अंश** ऐसा न करके **मेरी तुलनामें जीव, अंश जितना होता है,** ऐसा अर्थ करना चाहिये. जैसे एक किलो सोनेके ढेरकी तुलनामें पाव किलो तांबा इसका अंश जैसे मान लें, तदानुसार. इस व्याख्यारीति में **मम–एव** में के साथ प्रयोग किया गया **एव**कार निरर्थक प्रयोग बन जायेगा. क्योंकि **मेराही** कहते मेरे सिवाय किसी दूसरेका नहीं इस ध्वनितार्थका अस्वीकार संभव नहीं है. साथ साथ अंशीकी तुलनामें अंश छोटा होता ही है तदानुसार सर्वव्यापी परमात्माकी तुलनामें शरीरके बाहर कुछ भी अनुभूत नहीं करने वाली जीवात्मा सर्वव्यापी कैसे हो सकती है?

अब जीवात्मा परमात्माका अंश है, यह वास्तविकता समझनेके लिये अपने पास साधन क्या हैं? तो कहते हैं कि जीवात्माके साथ यह ज्ञानेन्द्रियां, यह कर्मेन्द्रियां, यह मन बुद्धि अहंकार और चित्त जो जुड़े हुये हैं उस वास्तविकताका गंभीर विचार करते हुये जीवात्मा परमात्माका अंशरूप है वह बात अच्छी तरहसे समझी जा सकती है. क्योंकि यह सब इसे कहांसे मिलता है? तो कहते हैं कि इस जड प्रकृत्तिमें इन्द्रियां मन बुद्धि अहंकार इत्यादिका निर्माण स्वयं जीवात्माने नहीं किया. क्योंकि बाह्येन्द्रियां और अन्तःकरण न जुड़े हो तो स्वयं अपने आप, आनन्दांशके तिरोधानके कारण, शुद्ध चेतनामें निरुपाधिक कर्तृत्व भोक्तृत्व या दृष्ट्रत्व संभव नहीं हो सकता. अतएव अन्तःकरण और बाह्येन्द्रियां बिना जीवात्माके कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हैं. स्वयं जीवात्माका कर्तृत्व जो इन्द्रिय अन्तःकरण इत्यादिसे घढ़ा हुआ हो तो वैसा स्वयं उसका घड़नेवाला कैसे हो सकता है? चक्षु कर्ण नासिका रसना त्वचा मन बुद्धि अहंकार और चित्तको घड़नेवाला जीवात्माके बजाय कुछ अनोखा या कोई अनोखा ही है. अगर जड प्रकृतिको ही जड–चेतना दोनोंका उपादान एवं कर्ताके तौर पर स्वीकारें तो जड प्रकृतिमें जडता और चेतना बननेके दो अव्यक्त

गुणधर्मोंको एक साथ स्वीकारना पड़ेगा. ऐसा मानने पर तो **प्रकृति** परमात्माका एक नामान्तर सिद्ध होगा. क्योंकि प्रकृति स्वयं जो जडपदार्थों और जीवचेतना दोनोंको प्रकट करनेवाली हो तो प्रकृतिको **जडप्रकृति** कहना अयोग्य सिद्ध होगा. सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशमें चेतनाके तिरोधान द्वारा अव्यक्त जड प्रकृति प्रकट होती है वह गीताकार हमें समझा रहे हैं. वैसे ही परब्रह्म परमात्मा भगवान पुरुषोत्तमके भीतर जड–चेतन दोनों गुणधर्मोंके मूल रहे हुये हैं, स्पष्टीकरण भी करते हैं – **भूमिरापोनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च. अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा. अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्. जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगद्.**

अर्थात् मेरी अष्टधा प्रकृतिमें मैंने यह सब तत्त्व उपलब्ध कर रखे हैं. यह जड उपकरण और जीवात्माएं यह दोनोंके बीचमें ऐसा पारस्परिक आकर्षण भी मैंने खड़ा किया है कि वह स्वयं मिलकर एक–दूसरेको खोज निकालते हैं. अतएव आंख और आत्माको अलग करो तो न आंख देख सकती है और ना ही आत्मा. आत्मा स्वयं देख नहीं सकती. इसे इसकेलिये चक्षु इन्द्रिय चाहिये. चक्षु इन्द्रिय जो स्वयं देख सकती होती तो निर्जीव आंख भी देख सकती. अतएव आत्मा और आंख दोनोंको एक दूसरेकी गरज होती है. जहां परस्पर गरज होती है वहां परस्पर आकर्षण सहजतया रहनेका ही है, लोहे और चुम्बकके बीचमें होता है वैसा. ऐसा इतरेतराश्रित बाह्याभ्यन्तर करण एवं शुद्ध चेतनाका एक दूसरेके साथ मिलन करानेवाला परमेश्वर होता है. आंखके उदाहरणके अनुसार जो विचारें तो दूसरी सभी इन्द्रियोंकेलिये भी यह बात सच्ची पड़ती है. क्योंकि कान भी स्वयं नहीं सुन सकता, यह जो सूप जैसी जो दो आकृति हैं यह तो मुर्दमें भी होती हैं. आत्मा इसमेंसे निकली कि कानका सुनना बंद. और उसी प्रकार इस आत्मामेंसे सुननेकी सूक्ष्मशक्ति जब परमात्मा वापिस खेंच लेता

है तो, आत्मा भी सुन नहीं सकती. तो कानकी सूक्ष्मशक्ति और आत्मा दोनों एक दूसरेके सहयोगसे सुनते हैं. दोनों एकदूसरे पर निर्भर होते हैं. दोनोंमें एक दूसरेके प्रति आकर्षण है. आत्माको अंतःकरण–बहिःकरणका और अंतःकरण–बहिःकरणको आत्माका.

इस शरीरको जब आत्मा प्राप्त करती है उससे पहले इस शरीरमें देखनेकी, सुननेकी शक्ति नहीं होती. आत्मा शरीरमेंसे निकलती है तब भी यह स्थूलरूप लेकर नहीं निकलती. अतएव कोई आत्मा इस शरीरको छोड़कर जाती है तब आंखके डेलेको लेकर नहीं जाती, या कानके सूपको लेकर नहीं जाती. लेकिन देखनेकी, सुननेकी, सूंघनेकी, विचारनेकी शक्ति इन सब शक्तियोंको लेकर जाती है. इतनी सारी जीवात्मायें मरती हैं; तो क्या इस खोपड़ीको लेकर मरती हैं? ना, खोपड़ीको तो छोड़कर ही जाती है. अतएव यह सुननेकी, विचारनेकी शक्ति लेकर देहको छोड़ती है और इन शक्तियोंको लेकर देहमें प्रविष्ट होती है. ऐसा ऐश्वर्य आत्माको देनेमें आया है. यह ऐश्वर्य जीवात्माको किसने दिया? जैसे कि इस बिजलीको माइकके साथ और लाउडस्पीकरके साथ कनेक्ट किसने किया? बिजली अपने आप कनेक्ट हो सकती है? अगर ऐसा हो तो बहुत मुश्किल हो जायेगी. यह तो लाइटफिटिंगवाला भाई साथ हो तो ही हो और तो ही अपनेको विश्वास भी होगा. अगर सब अपने आप चलने लगे तो बहुत भयंकर दृश्य खड़ा हो जायेगा, भूतल पर रहने जैसा रहेगा ही नहीं. कल्पना करो कि ऐसा कुछ ऊधम अपने आप कहीं शुरु होना हो जाये तो मनुष्यकी खोपड़ी खराब हो जाये! समुद्रमें कूदना पड़ जाये. जीनेकी इच्छा ही खत्म हो जाये. अतएव यह सब अपने आप नहीं होता, कोई इसका ईश्वर है. बिजलीके तारके साथ, माइकके साथ, लाउडस्पीकरके साथ जोड़नेवाला कोई एक ईश्वर है. यह ईश्वर कहां है यह प्रश्न

उपस्थित होता है, क्योंकि ईश्वर तो दिखाई देता नहीं. तो भगवान कहते हैं कि यह जो आत्मा है वह मैं परमेश्वर हूं. अतएव यह आत्मा ईश्वरका अंश है और उसी कारण इसमें आंशिक प्रकारसे ऐश्वर्य विद्यमान है. अतएव यह अपने शुभाशुभ कर्मसे इन इन्द्रियोंके साथ अपनेको जोड़ लेता है, ऐसा ऐश्वर्य इसमें रहा हुआ है.

अतएव इस प्रकार अपनी आत्माको अगर हम उस ब्रह्मके अंशके तौर पर पहचान लेंगे तो ही पुरुषोत्तयोग हमें समझमें आयेगा. क्योंकि **यो यदंशः स तं भजेत्** जो जिसका अंश होता है वह ही उसे भजेगा. आधुनिक विज्ञानानुसार जैसे हमारी पृथ्वी सूर्यका अंश है, तो पृथ्वी भी सूर्यके चारों तरफ घूमती है कि नहीं? सूर्यमें से सूर्यका पदार्थ बाहर फटकर अलग गिरकर पृथ्वी बन गया. अतएव सूर्य जिस प्रकार पृथ्वीका अंशी है वैसे उपादान कारण भी है. वैसे ही सकल जीवात्मायें चिंगारीकी तरह अग्निरूपी परमात्मामेंसे बाहर प्रकट हुई या व्युच्चरित हुई हैं. उसके सिवाय भूगर्भमें अंशीरूप सूर्यकी अंशीरूप गरमीका अंशरूप गरम गोला अभी भी भड़क रहा है. तदानुसार जीवात्माके भीतर भी आनन्दात्मक अन्तर्यामी सर्वदा बिराजमान है ही. ऐसे **ममैवांशो जीवभूतः सनातनः** वचनका स्वारस्य हमें सरलतासे समझ में आ जायेगा. क्योंकि अंशी ब्रह्म वह जीवात्माका उपादान कारण है. उसमेंसे, सूर्यमेंसे पृथ्वीकी तरह, चिदंश व्युच्चरित होकर बाहर प्रकट होकर अनेक जीवात्मायें बनीं. अतएव अंशी और अंश दो पदार्थ हैं तो एक ही. पृथ्वीके भीतर जैसे अभी भी गरम गोला धधक रहा है, वैसे जीवात्माओंके भीतर भी सर्वदा अन्तर्यामी रूपी परमात्मा विद्यमान है ही. जड सृष्टिके प्रकट होनेकी प्रक्रिया हमने अव्ययमेंसे अश्वत्थके प्राकट्य रूपमें समझी उससे अलग प्रकार जीवात्मा सनातन चिदंशरूपमें प्रकट होता है, उसकेलिये भगवान कहते हैं **ममैवांशो जीवभूतः सनातनः** जीवात्मा अश्वत्थ

नहीं है लेकिन उस अव्ययय परमात्माका अव्यय = सनातन अंश है. श्रीमहाप्रभुजीके मतानुसार जीवात्माका अंशरूप होना और सनातन = अव्यय होना तो यह पुरुषोत्तमयोगको समझनेकी एक अपरिहार्य शर्त है. अतएव जीवात्मा परमात्माका अगर अंश न हो तो न तो उसमें सात्त्विक बुद्धि होकर स्वयंकी विभक्ततामें एक अविभक्त परमात्माका बोध वास्तविक हो सकता है; न तो पुरुषोत्तमके प्रति जीवात्माकी अव्यभिचारिणी भक्ति भी उसका अकृत्रिम सहज गुणधर्म हो सकता है.

अतएव श्रीमहाप्रभुजीके मतानुसार भगवद्भक्तिके भावमें सबसे अधिक विघातक दो मान्यतायें है और वह : एकतो जड–जीवात्मक सृष्टि मिथ्या है; और दूसरी यह कि जीवात्मा या तो व्यापक है अथवा तो इसकी अंशरूपता वास्तविक न होकर प्रतिबिंब जैसी होकर मिथ्या है.

आपश्री कहते हैं – **प्रपंचमेव मिथ्या इति उक्त्वा शुद्धं भजनं वारयन्ति तथा अन्ये जीवं व्यापकम् उक्त्वा.** कोई विचारक जगतको मिथ्या कहकर तो दूसरे विचारक जीवको व्यापक कहकर शुद्ध भजनकी दोनों शक्यताओंको खत्म कर देते हैं. वैसे ही हम यह भी देख चुके कि पुरुषोत्तमयोग मुख्यतया भक्तिकी वास्तविक समझ देनेकेलिये है; जैसे कि भक्ति पुरुषोत्तमका वास्तविक आनन्द लेनेकेलिये होती है. अतएव जीवात्माको परमात्माके अंशके तौर पर स्वीकारने पर यह अंशांशिभाव प्रयुक्त अभेदको पहचानकर इस सीमा तक ले जाना उचित नहीं है कि भक्तिका भाव ही रौंद दिया जाये. भक्तिका भाव कब रौंदा जाता है? जब देहेश्वर–जगदीश्वर जीवात्मा–परमात्मा कर्ता–कारियता भक्त–भगवान कि सेवक–सेव्यभाव के सारे लीलात्मक तारतम्योंको मिटानेका षडयन्त्र करनेमें आता हो. पुरुषोंका अनेकानेक विभागोंमें जब एक पुरुषोत्तम होनेकी बात सार्थक हो तो ही भक्तिके भावको अवकाश मिलता है. नहीं तो अति–अद्वैतके कारण अंशरूप

पुरुष एवं अंशीरूप पुरुषोत्तमके भेदको मिटाने जायेंगे तो जाने–अनजाने हम पुरुषोत्तमयोगमें ही रद्दोबदल करते होंगे.

अतएव भगवद्गीतानुसारी शुद्धाद्वैतवादमें **सोऽहम्** कभी भी **दासोऽहम्**के भावमें आड़े नहीं आता; वैसे ही **दासोऽहम्**का भाव भी कभी **सोऽहम्**के भावको कभी मूक बना देता है तो भी मिटाता नहीं है. यह अत्यन्त महत्वपूर्ण मुद्दा है.

अतएव भगवान कहते हैं **अपरा इयम् इतस्तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां महाबाहो यया इदं धार्यते जगद्** जो भगवानकी जीवभूता परा प्रकृति इस समग्र जगतको धारण करती है तो किस कारण श्रीकृष्णने अपनी विराटताका दर्शन करानेकेलिये अपने श्रीअंगमें ही विश्व दिखाया, किस कारण अर्जुनको ऐसे दिव्यचक्षु नहीं दिये कि जिसके कारण वह अपनेही शरीरमें विश्वदर्शन कर लेता? जबकि भगवान स्वयं ही **सर्वभूतस्थम् आत्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः** ऐसा उपदेश अर्जुनको दे चुके हैं! लेकिन नहीं! क्योंकि अर्जुनका अंगीकार भगवानने केवल एक सर्वत्र समदर्शी योगीकी तरह नहीं किया परन्तु **भक्तोसि मे सखा चेति** रूपमें किया है अतएव उसे दिव्यदृष्टि भी ऐसी ही दी कि अपने शरीरके बजाय भगवानके श्रीअंगमें ही विश्व अवस्थित दिखाई दिया. और यही बात भगवानने विराट दर्शन करानेके बाद भी अर्जुनको समझाई है कि **भक्त्या त्वनन्यया शक्यम् अहम् एवंविधो अर्जुन ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च** अर्थात् सर्वत्र समदर्शन करनेमें समर्थ ज्ञानयोगीयोंमें भी जोकि भगवानकेलिये अनन्यभक्ति अथवा अव्यभिचारिणी भक्तिके भाव धारण करते हैं, उनके स्वयंके देह कि आत्माके बजाय, परमात्माके श्रीअंगमें ही स्वयं एवं समग्र विश्व भी अवस्थित दिखाई देता है. इसकेलिये ही भगवानने ऐसा भी कहा है कि **योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेन अन्तरात्मना श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः** अर्थात् सबसे श्रेष्ठ ज्ञानी, और उन

ज्ञानीयोंमें भी श्रद्धापूर्वक जो भगवान्‌को भजता हो वह भगवानको युक्ततम लगता है. आत्मभजनके बजाय परमात्म–भजनकी श्रेष्ठताका इससे प्रबल प्रमाण दूसरा क्या हो सकता है? समग्र पुरुषोत्तमयोगका रहस्य इसमें समाहित है.

अतएव श्रीमहाप्रभुजी इस रहस्यको ऐसे समझाते हैं कि सारे ही उपनिषदोंके वचनोंका वर्गीकरण दो प्रकारसे हो सकता है : एक तो ऐसे कि कितने ही वचन **उस परब्रह्ममेंसे यह समग्र नाम–रूप –कर्मात्मक जड जगत् प्रकट हुआ है. उसमें स्थित है; और अन्तमें उसमें ही लीन होने वाला है, अतएव जगत्‌का वह एकमात्र जगदीश है.** ऐसा अनोखा माहात्म्य उसका वर्णित होता है. दूसरे कितने ही वचन वह परब्रह्म परमात्मा एवं जड–जीवात्मक जगत्‌से भिन्न नहीं हैं ऐसे समझाते हैं. माहात्म्यका निरूपण उसके माहात्म्यज्ञान देनेकेलिये होता है. परमात्माके साथ जीवात्माओंके अभेदका निरूपण, उसकेलिये अपने भीतर सहज–स्वाभाविक रति जागे, उसकेलिये ही करनेमें आता है. भक्तिकी परिभाषा **उसके माहात्म्यको अच्छी प्रकार जानकर उसकेलिये जब सुदृढ़ सर्वतोधिक रति प्रकट हो तो उसे भक्ति कहते हैं,** ऐसे देनेके कारण समग्र उपनिषदोंका प्रमुख तात्पर्य जीवात्मामें परमात्माके प्रति भक्ति प्रकट करना ही रहा है. अतएव श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **रतिः स्नेहो देवत्वं माहात्म्यं तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति** अतएव हम जिसका अंश हैं उसका जो हमें अच्छी तरह भान हो जाये तो अपने निजात्मस्नेहको परमात्मस्नेहके अंशके तौर पर पहचान सकते हैं. अगर अपनी आत्मा परमात्माका अंश हो तो अपना निजात्मस्नेह परमात्मस्नेहका अंश सिद्ध है ही. ऐसे निजात्मस्नेहके प्रति अपनी ऐसी सभानताको श्रीमहाप्रभुजी निरुपाधिक भक्तिके तौर पर मानते हैं.

अतएव जो परमात्माको नहीं चाहते तो अपने साथ ही द्वेष कर रहे हो. जो परमात्माको चाहता है वह अपनी आत्माको

ही चाह रहा है. इतनी बात अगर समझमें आ जाये तो आत्मादेशकी शैलीमें पुरुषोत्तमयोग अच्छी प्रकार समझमें आया नहीं तो नहीं. क्योंकि अपने भीतर उस पुरुषोत्तमके लिये सहज स्नेहका लबालब खजाना भरा हुआ है, अतएव हम अपनेसे ही तो स्नेह कर रहे हैं. हम अपने आपसे स्नेह कर रहे हैं उसी कारण अपनी देहके साथ अपनी अहंताके साथ कि ममताके बंधनोंमें बंधी हुई प्रत्येक वस्तु कि व्यक्तिको भी स्नेह करते हैं.

सह परिवत्सरोंसे अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियां एवं उनके विविध विषय, कर्मेन्द्रियां एवं उनसे सम्पन्न होती विविध क्रियायें, पति–पत्नी बंधु–बांधव घर धन सगे संबंधी यश–अपयश इत्यादिकेलिये यह जीवात्मा उसही परमात्मस्नेहके अटूट भंडारमेंसे झोली भर भरके स्नेहकी क्षुद्रराशियोंको लुटाती रहती है. इस स्नेहके मूल भंडारके तौर पर परमात्माको पहचान लेना पुरुषोत्तमयोगका उपक्रम है. अतएव अब भगवान आगे ऐसा समझाना चाहते हैं कि किस कारण जीवात्मा जन्मोंजन्मसे देहेन्द्रिय अन्तःकरण उनके अलग अलग क्रियाकलाप पति–पत्नी घरबार, इत्यादिकेलिये आकर्षित होता रहता है? दिशा–दिशा में हवाकी तरह युग–युग से बहता कि भटकता यह जीवात्मा किस कारण उन उन इन्द्रियविषयोंकी गन्ध कि वासनाओंका वाहक बनकर भटकता रहता है? उन उन इन्द्रियोंके विषयोंकेलिये अपने स्नेहको सतत लुटाता होते हुये भी किस कारण जीवात्मा स्नेहके इस अटूट खजानेके प्रति सभान नहीं होता?

शरीरं यद्वाप्नोति..... नैनं पश्यन्त्यचेतसः :

जैसे फूलको स्पर्श करती कोई वायु बहती होती है तो फूलको तोड़ कर नहीं लाती लेकिन फूलकी सुगंध हमारे पास तक पहुंचा देती है. ऐसे ही प्रत्येक देहमेंसे बहता यह परमात्माका जीवात्मारूपी अंश इस देहमें रही हुई सत्कर्म एवं

असत्कर्मकी सुगंध एवं दुर्गन्धको लेकर जाता आता रहता है. यह देहके स्थूलरूप आंख–कान–नाकको लेकर नहीं जाता या आता. यह वायुकी तरह सूक्ष्मरूपमें आता है और सूक्ष्मरूपमें जाता है.

आंख, चमड़ी, नाक, मन सबमें यह आत्मा अधिष्ठित रहती है. जैसे बिजली माइकमें अधिष्ठित होती है तत्पश्चात् अपना अपना काम चालू हो जाता है, ऐसे.

इस सूक्ष्मतत्त्वको विषयविमूढताके कारण हम देख नहीं सकते. चर्मचक्षुओंसे देखोगे तो आत्मा नहीं दिखेगी. यह परमात्माका अंशरूप जो आत्मतत्त्व है इसे देखनेकेलिये किसी ज्ञानचक्षुकी आवश्यकता है. चर्मचक्षुसे आत्माका दर्शन नहीं हो सकता. अतएव योगी जब अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे अलगकरके, विषयोंके संगसे मनको अलगकरके, जब आत्मसंगी बनाते हैं तब आखिरमें कभी इन्हें आत्माके दर्शन होते हैं. जिन्हें वास्तवमें आत्मदर्शन करना नहीं, जिन्हें विषयके ही दर्शन करने हैं वह लोग ऐसा प्रयास भी करेंगे तो भी उन्हें आत्माके दर्शन नहीं होंगे. जो **अचेतस** भानरहित व्यक्ति हैं, जिनकी आत्मदर्शनकी साधनामें निष्ठा नहीं है, उन्हें तो कभी भी आत्मदर्शन हो ही नहीं सकता. अतएव एक बात समझो कि जैसी अव्यभिचारिणी भक्ति कि परमात्मरति परमात्मदर्शनमें सहायक होती है उसी प्रकार अव्यभिचारिणी आत्मरति होगी तो ही आत्मदर्शन हो सकते हैं. बाकी तो हवा मारनेसे न तो आत्मरति जागती है अथवा आत्मदर्शनही होता है. हम लेबोरेट्रीमें शरीरकी चीरफाड़ करके देखेंगे तो कहीं भी आत्मा दिखाई नहीं देगी.

एक बात सुनो, गांवके एक आदमीने एक घड़ी खरीदी. बादमें यह घड़ी कहीं गिर गई अतएव इसका अंदरका कोई पुरजा टूट गया. अब इसकी घड़ी चलनी बंद हो गई. अब इसे तो बहुत चिंता हो गई कि यह घड़ी कैसे बंद हो गई? यह

आदमी होशियार था. इसने घड़ी खोलकर देखी तो इसमें स्लो–फास्ट करने के कोनेमें से एक मक्खी भीतर घुसकर मर गई थी, वह उसे मिली. तो इसे ऐसा लगा ''ओहोहो, अब पता चला कि भीतर बैठकर यह मक्खी घड़ी को चलाती थी और अब यह मक्खी मर गई तो घड़ी कैसी चलेगी?'' हम घड़ीको खोलकर बैठेंगे तो हमें समझ ही नहीं आयेगा कि यह कैसे चलती है? यह तो घड़ीवालेको समझमें आती है. हमें तो मक्खी जैसा ही कुछ चारों तरफ फिरता खून कि धड़कता दिल जैसा कुछ मिल जायेगा. और यह मक्खी मर गई अतएव दूसरी मक्खी डाल दो इससे कहीं घड़ी चलने वाली नहीं है. घड़ीका भी एक मैकेनिज्म है; यह चलता हो तो घड़ी चलेगी. ऐसे ही अपनेमें भी हम कुछ कुछ डालें और निकालें और बादमें कहें कि आत्मा इसमें दिखती नहीं, तो कहांसे दिखेगी?

आत्माको देखनेका जो साधन है उसे तो तुम अभी समझे नहीं. आत्मरति यह आत्माको देखनेका साधन है. जैसे घड़ीसाज आईग्लास प्रयोगमें लाते हैं ऐसा आईग्लास प्रयोगमें लाओ और इसके सूक्ष्मयंत्र तुम्हें दिखाई दें तो तुम इसे रिपेयर कर सकते हो. लेकिन स्थूल आंखसे छोटीसी घड़ीको ठीक करने जाओगे तो घड़ी ठीक नहीं होगी और खराब हो जायेगी. जैसे परमात्मदर्शनकेलिये अव्यभिचारिणी परमात्मरति होनी चाहिये ऐसे ही आत्मदर्शन करनेकेलिये अव्यभिचारिणी आत्मरति होगी तो ही उसका दर्शन होगा. विषयरति होगी तो आत्मदर्शन नहीं होंगे.

ऐसा कहकर भगवानने आखिरमें इस परमेश्वरको अहंकारादेशसे कैसे समझना इसका अपनेको थोड़ा सा प्रकार दिखाया है.

आधुनिक पुष्टिमार्गीयोंकेलिये अहंकारादेशकी शैलीमें पुरुषोत्तमयोगमें अपेक्षित सावधानी :

अंतमें उपसंहारमें एक बात अतिशय सावधानीके साथ समझनी जरूरी है और वह यह कि कोई आधुनिक पुष्टिमार्गी, चाहे वह कोई पू.पा.गो.बा. हो अथवा प.भ.बापा.–बापी हो, सभीका मूल पुरुषोत्तमके अंशरूप जीवात्मा होनेसे अपनेको अथवा दूसरेको पुरुषोत्तमके तौर पर माने कि पुजवाये उसमें हेतु मूल पुरुषोत्तमके साथ अपने तादात्म्यका निर्दोष मजा लेना हो तो कोई तकलीफ नहीं. लेकिन महाप्रभूपदिष्ट श्रीकृष्णकी सेवाभक्तिसे जो अपनेको अथवा दूसरेको विमुख बनानेका हेतु हो तो वह पुरुषोत्तमयोग न रह कर पुरुषोत्तरोगकी ग्रन्थि अथवा मनोविकृति ही है. श्रीमहाप्रभुजी सुस्पष्ट शब्दों में कहते हैं – **अयमेव महामोहो हीदमेव प्रतारणम्. यत्कृष्णं न भजेत्प्राज्ञः शास्त्रभ्यासपरः कृती. तेषां कर्मवशानां हि भवएव फलिष्यति. भगवद्विरोधाचरणे तु नरकेऽपि पातो, भवः संसारो दुःखात्मकः फलिष्यति.**

अर्थात् जीवनमें इससे बढ़कर कोई मोह कि निष्ठुर छलकपट हो नहीं सकता कि श्रुति–उपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र भागवत आदि शास्त्रेंको पढ़नेवाला उन्हें समझनेकी बुद्धि धारण करनेवाला होकर श्रीकृष्णकी सेवा न करे. ऐसे लोग अपने कर्मबंधनके आधीन दुःखरूप संसारमें ही रचे पचे रहेंगे. भगवान्के साथ विरोधके भाव रखनेवालोंको तो नरकमें ही गिरना पड़ेगा. पुष्टिमार्गके साथ प्रतिस्पर्धा करनेवाले कितने ही अपने गुरुओं द्वारा उपदेशित श्रीकृष्णभक्तिके बारेमें भी नजरअंदाजी करते दिखते हैं. गुरु वास्तवमें महात्मा और श्रीकृष्णभक्त होनेके कारण, जब भी ज्वरसंनिपात होता है तब अपने रोमरोममें श्रीकृष्णको अनुभूत करते थे, ऐसे उद्गार इन्होंने प्रकट करे हैं. उनका उल्टा ही अर्थ शिष्य ऐसे निकालते हैं कि श्रीकृष्णतो हमारे गुरुके एक रोमकी जैसी हल्की हैसियत रखते हैं. अतएव वास्तविक पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण नहीं बल्कि अपने गुरु! यह पुरुषोत्तमयोग नहीं है बल्कि

मानसिक विकृतिजन्य पुरुषोत्तमरोग है. वर्तमानमें हमारे श्रीमहाप्रभुजीके उपदेशसे द्वेष करनेवाले भी कितने ही वल्लभपंथीओंमें भी यह पुरुषोत्तमरोगकी मनोग्रन्थि केंसरकी तरह फूट रही है. वह भी विसंप्रदायीओंकी तरह **वल्लभके एक रोममें कोटी गोवर्धननाथ** जैसी काव्योक्तिओंका अनुचित लाभ लेकर श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुजीके विभागमें एक अविभक्त पुरुषोत्तमको इन्कारते हैं. वास्तवमें तो ये लोग श्रीमहाप्रभुजीकी पीठमें ही छुरी चलाना चाहते हैं. उसी प्रकारही पुष्टिमार्गमें कहलाने वाले बोलते – चालते पुरुषोत्तमोंने भी, श्रीमहाप्रभुजीके वंशज होते हुये भी, इस दिव्य पुरुषोत्तमयोगको पुरुषोत्तमरोगकी एक विकृत मानसिक ग्रन्थिके तौर पर बहुत अच्छी तरह अपना लिया है. अपने मूलाचार्यके उपदेशानुसार पुष्टिमार्गीयोंको अपने अपने घरमें श्रीकृष्णसेवाकेलिये ही ब्रह्मसंबंधदीक्षा लेनी थी. वह अपने चेले बढ़ानेकी अदम्य लालसाके वश होकर आज सामान्यरूपमें सबको ब्रह्मसंबंध दीक्षा प्रदान करते हैं. दीक्षा देनेके बाद, वह ब्रह्मसंबंधी अपने घरमें अपने तनमनधनपरिजनके विनियोगवाली भगवत्सेवा कहीं करने न लग जाये अतएव, अपरस कि असमर्पितत्याग कि नेगभोगके वैभवसे प्रभुसुखका बहाना बनाकर उन्हें निरुत्साहित करते हैं. वह तो खुद यूरोप–अमेरिका पधारते हैं तब अपरसकी बहुत सी मर्यादायें छोड़ते ही हैं. मोटे तौर पर गोस्वामी बालक मठडी–मोहनथाल सिवाय दूसरी सामग्रियों के बारेमें असर्मिपतत्यागका आग्रह भी स्वयंमें नहीं रखते. अपने माथे बिराजते प्रभुकी सेवामें स्वयं स्वयंकी चरणभेंटका विनियोग द्वारा नेगभोगरागके वैभव नहीं निभाते. गांवसे इक्ट्ठे करे पैसेसे भगवत्सुखका बिगुल बजाते रहते हैं. ऐसी छूट खुद लेते हैं लेकिन अनुगामी जनताको नहीं देना चाहते. यह कैसा पुरुषोत्तमरोग है? अरे कोई तो ऐसा भी कहते हैं कि **मर्यादामार्गमें भी जब गुरु गोविंद दोनों खड़े किसके लागूं**

पांय, बलिहारी गुरुदेवकी जिन गोविंद दियो बताय. वचनानुसार अपने गुरुको शिष्योंसे भगवानकी तुलनामें अधिक मनवाना हो तो वाल्लभ संप्रदायमें तो **सर्वं खलु इदं ब्रह्म** फिलोसिफी मान्य होनेसे गुरुको पुरुषोत्तम के तौर पर स्वीकारना कि नहीं यह प्रश्न भी अप्रासंगिक है!'' वास्तवमें तो पहले पैर किसके छूना इस समस्याका निराकरण गुरुने गोविंदकी ओर इशारा करके किया है. अतएव ऐसे गुरु ऊपर बलिहारी होनेकी प्रेरणा भी यहीं मिल सकती है. खैर, समग्र जगत् ब्रह्ममें से प्रकट होनेके कारण ब्रह्मरूप हो तो अपने घरोमें बिराजते श्रीठाकुरजीकी पुरुषोत्तमीभावसे वैष्णव सेवा कर सकते हैं कि नहीं? ऐसा प्रश्न करो तो फिर दूसरी तरफ छिटक जाते हैं कि सामान्य वैष्णवोंके यहां ठाकुरजी पुरुषोत्तमभावसे नहीं बिराजते लेकिन गुरुभावसे बिराजते हैं. क्या पुरुषोत्तमभावसे बिराजते ठाकुरजी पू.पा.गो.बा.की मोनोपोली (एकाधिकार) है? अगर वास्तवमें यह धारणा भी सच्ची हो कि पू.पा.गो.बा. पुरुषोत्तमके ठेकेदार हैं तो केवल ठेकेदारी सिद्ध होती है लेकिन स्वयंमें तो पुरुषोत्तमता सिद्ध नहीं होती, ऐसे बात तो वहींकी वहीं फिर आ गई ना! यह कैसी स्वार्थान्धता कि अपनेको पुरुषोत्तमके तौर पर खपाना है लेकिन वैष्णवोंके तो ठाकुरजीको भी पुरुषोत्तमभावसे मंडित नहीं होने देना है!! ठीक है जिनसे अपने घरमें भगवत्सेवा नहीं निभती वैसे वैष्णवोंके उद्धारकेलिये सार्वजनिक भगवद्मंदिर भी धंधेकी तरह चलायें तो वैसे मन्दिरोंमें बिराजते भगवत्स्वरूप पुरुषोत्तम हैं कि नहीं? तो कहते हैं कि वैसे सार्वजनिक मंदिरोमें कोई गोस्वामी बालकका ठेका न होते हुये भी कहनेकेलिये वह ट्रस्टकमेटीमें गोस्वामी बालकको वंशवारिस ट्रस्टीके तौर पर स्वीकारने में आता हो तो शुद्धपुष्टि तो नहीं परन्तु मर्यादामिश्रित पुष्टिपुरुषोत्तम जैसे सार्वजनिक देवालयोंमें भी बिराजते भगवत्स्वरूप हो सकते हैं! ऐसे बहुतसे छलप्रपंच

क्यों करने पड़ते हैं इसका कारण एक ही है कि मोटे तौरपर अपने बारेमें पुरुषोत्तम होनेकी भ्रमणामें भटकते इन लोगोंके पास धंधेकी तरह भगवत्सेवा सिवाय अपने पेटको भरनेका पौरुष भी नहीं होता.

अतएव ऐसे पुरुषोत्तमरोगग्रन्थिकी पीड़ासे यह लोग दूसरे लोगोंको पुष्टिप्रभुकी पुष्टिभक्तिके अनुसार सेवाभक्तिसे वंचित रखें वैसे छलप्रपंचकेलिये यह पुरुषोत्तमयोग नहीं वर्णन किया गया. प्रत्येक प्रत्येक जीवात्मा भगवद्‌ंश होनेके कारण पुरुषोत्तमात्मक है अतएव प्रत्येक प्रत्येक जीवात्माके भीतर पुरुषोत्तम बिराजता है. प्रत्येकके भीतर जो भावरूप या अन्तर्यामीरूपमें बिराजता है उनके घरके किसी कोनेमें, कि किसी कमरेमें, कि अपने फ्लैट या किसी अलग भवनमें भी, अपने तन–मन–धन–परिजनोंका विनियोग करनेकेलिये बाहर पधरानेमें आये तो वैसे करनेकी छूट प्रत्येकको है. वह किसीकी ठेकेदारी नहीं हो सकती. अतएव पुरुषोत्तमयोग पुरुषोत्तमरोगकी मनोग्रन्थि न बन जाये उसकी सावधानी रखना प्रत्येक पुष्टिमार्गीयका पवित्र उत्तदायित्व है.

इस प्रकार पुरुषोत्तमयोगकी अहंकारादेशकी शैलीमें साधना अथवा वर्णन बहुत विस्तार मांगता है; लेकिन अपने पास समय नहीं है अतएव उतने विस्तारमें नहीं जाते.

00000000000

।।3. पुरुषोत्तमके मुखारविन्द द्वारा पुरुषोत्तमयोग।।

स्वमुखारविन्द द्वारा आत्मादेश शैलीमें पुरुषोत्तमका निरूपण :

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।12।। गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।13।। अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।14।। सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्।।15।। द्वाविभौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरएव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।16।। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।17।। यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।18।। यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।।19।। इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ। एतद् बुद्धवा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।।20।।

यत् = जो, **तेजः** = तेज, **आदित्यगतम्** = सूर्यमें स्थित होकर, **अखिलम्** = संपूर्ण, **जगत्** = जगत्को, **भासयते** = प्रकाशित करता है, **च** = और, **यत्** = जो (तेज), **चन्द्रमसि** = चन्द्रमामें स्थित है (और), **यत्** = जो (तेज), **अग्नौ** = अग्निमें (स्थित है), **तत्** = उसे (तू), **मामकम्** = मेराही, **तेजः** = तेज, **विद्धि** = जान, **च** = और, **अहम्** = मैं (ही), **गाम्** = पृथ्वीमें, **आविश्य** = प्रवेशकरके, **ओजसा** = मेरी शक्तिसे, **भूतानि** = सब प्राणियों को, **धारयामि** = धारण करता हूं, **च** = और, **रसात्मकः** = रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय, **सोमः** = चन्द्रमा, **भूत्वा** = होकर, **सर्वाः** = सर्वे, **औषधीः** = औषधियोंको अर्थात्

वनस्पतियोंको, **पुष्णामि** = पुष्ट करता हूं, **अहम्** = मैं (ही), **प्राणिनाम्** = सब प्राणियोंके, **देहम्** = शरीरमें, **आश्रितः** = रहा हुआ, **वैश्वानरः** = वैश्वानर अग्निरूप, **भूत्वा** = होकर, **प्राणापानसमायुक्तः** = प्राण और अपानसे युक्त होकर, **चतुर्विधम्** = चार प्रकारके, **अन्नम्** = अन्नको, **पचामि** = पचाता हूं, **च** = और, **अहम्** = मैं (ही), **सर्वस्य** = सब प्राणियोंके, **हृदि** = हृदयमें, **संनिविष्टः** = अन्तर्यामीरूपसे रहा हुआ हूं (तथा), **मत्तः** = मुझसे ही, **स्मृतिः** = स्मृति, **ज्ञानम्** = ज्ञान, **च** = और, **अपोहनम्** = विस्मरण अथवा अज्ञान, **(भवति)** = होता है. **च** = और, **सर्वैः** = सब, **वेदैः** = वेदोंसे, **अहम्** = मैं, **एव** = ही, **वेद्यः** = जानने योग्य विषय हूं, **वेदान्तकृत्** = वेदान्तोंका कर्ता, **च** = और, **वेदवित्** = वेदोंका वेत्ता, (भी) **अहम्** = मैं, **एव** = ही (हूं), **लोके** = इस जगत्में, **द्वौ** = दो प्रकारके, **क्षरः** = नाशवान्, **च** = और, **अक्षरः** = अविनाशी, **एव** =भी, **इमौ** = यह, **पुरुषौ** = पुरुष हैं. (इसमें) **सर्वाणि** = सब, **भूतानि** = भूतप्राणीओंके शरीर अथवा तो शरीराभिमानी जीवात्मा तो, **क्षरः** = नाशवान् (होती हैं), **च** = और, **कूटस्थ** = नाशवानोंके बीचमें रहते हुये भी नाशको न पानेवाला, **अक्षरः** = अविनाशी, **उच्यते** = कहलाता है. **उत्तमः** = उत्तम, **पुरुषः** = पुरुष, **तु** = तो, **अन्यः** = दूसरा ही है, (अथवा), **यः** = जो, **लोकत्रयम्** = तीनों लोकोंमें, **आविश्य** = प्रविष्ट होकर, **बिभर्ति** = सबका भरण पोषण करता है. (इसलिये) **अव्ययः** = अविनाशी, **ईश्वरः** = परमेश्वर (और), **परमात्मा** = परमात्मा, **इति** = ऐसे, **उदाहृतः** = कहलाता है. **यस्मात्** = कारण कि, **अहम्** = मैं, **क्षरम्** = नाशवान जड क्षेत्रसे तो, **अतीतः** = बाहर हूं, **च** = और, **अक्षरात्** = अविनाशी अक्षरसे, **अपि** = भी, **उत्तमः** = उत्तमहूं, **अतः** = अतएव, **लोके** = लोकमें, **च** = और, **वेदे** = वेदमें, **पुरुषोत्तमः** = पुरुषोत्तमके तौर पर, **प्रथितः** = प्रसिद्ध, **अस्मि** = हूं. **भारत** = हे भारत, **एवम्** = इस प्रकार, **यः** = जो,

असंमूढः = मोहरहित ज्ञानी पुरुष, **माम्** = मुझे, पुरुषोत्तम (के तौरपर), **जानाति** = जानते हैं, **सः** = वे, **सर्ववित्** = सर्वज्ञ पुरुष, **सर्वभावेन** = सब प्रकारसे हमेशा, **माम्** = मुझे वासुदेव परमेश्वरको ही, **भजति** = भजते हैं, **अनघ** = हे निष्पाप, **भारत** = अर्जुन, **इति** = ऐसा, **इदम्** = यह, **गुह्यतमम्** = बहुत रहस्यवाला गुप्त, **शास्त्रम्** = शास्त्र, **मया** = मेरे द्वारा, **उक्तम्** = कहा गया है. **एतद्** = इसे, **बुद्धवा** = तत्त्वसे जानकर, (मनुष्य), **बुद्धिमान** = ज्ञानी, **च** = और, **कृतकृत्य** = कृतार्थ, **स्यात्** = हो जाते हैं।।12–20।।

'यो जगद् भूत्वा क्रीडति' का आत्मादेश शैलीमें निरूपण :

अब हम आत्मादेशके विषय पर आते हैं. अहम्की भाषामें पुरुषोत्तम कैसे समझना उसे तो हम देख आये. अब आत्माकी भाषामें समझना हो तो किस प्रकार समझना उसका निरूपण भगवान यहां करते हैं. छः से ग्यारह श्लोकों तक भगवानने जीवात्माके दृष्टिकोणसे उनके अहंकारको कंठोक्त प्रकारसे नहीं वर्णन किया परन्तु **ममैवांशो** कहकर अपने **ममत्व**के आधार पर जीवात्माका निरूपण किया है. उस ममत्वका अनुयोगी अर्थात् उसके साथ जुड़ता तो जीवात्माका अहं ही होता है. अतएव उसे अहंकारादेशके तौर पर स्वीकारना ठीक है. यहां जब भगवान स्वयंका सर्वात्मा अथवा विश्वात्मा होनेका निरूपण करते हैं तो वह अपने अहं को रख कर ही करते हैं, परन्तु यह होते हुये भी भार भगवानके अहंकार पर न होकर चेतनाचेतन वस्तुमात्रमें जो आत्माकी तरह बिराजमान हैं, उसके ऊपर समझना चाहिये.

पहले जड पदार्थोंका अश्वत्थके तौर पर वर्णन करनेमें आया था तब तदादेशकी शैली अपनानेमें आई थी. क्योंकि क्षर पदार्थोंका मूल होते हुये भी भगवान इस बातके ऊपर भार देना चाहते हैं कि अश्वत्थमेंसे अव्यय प्रकट नहीं हुआ परन्तु

अव्ययमेंसे अश्वत्थ प्रकट हुआ है. अव्ययरूपमें पुरुषोत्तम अश्वत्थातीत है. अश्वत्थरूप कभी अव्ययातीत नहीं हो सकता. भगवान कहते हैं **विष्टभ्य अहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्** क्योंकि भगवानके एक अंशमें यह समग्र सृष्टि अवस्थित है. अतएव वहां तदादेशकी शैली ही उपयोगी थी.

अपने सदंशोमें निरन्तर परिवर्तनशील नाम–रूप–कर्म प्रकट करके बड़े बड़े तत्त्ववेत्ताओंकी विचारशक्तिको भगवानने भ्रमित कर रखा है. अतएव जो परिवर्तनशील है वैसी वस्तुमें उसका असत्में से सत् और सत्में से फिर असत् बन जाना स्वीकारते हैं. दूसरे कितनेही ऐसा मानते हैं कि प्रत्येक अनुभूत वस्तु, मूलमें असत् होते हुये भी अपनी वासनाके कारण, उस उस नाम–रूप–कर्मकी भ्रमणा पैदा करती है. तीसरे विचारक ऐसा कहते हैं कि अनिर्वचनीय निर्गुण– निराकार निष्क्रिय निर्विशेष ब्रह्मके अधिष्ठान पर नाम रूप कर्म माया द्वारा आरोपित हैं.

श्रीमहाप्रभुजीका मत इस बारेमें सर्वथा स्पष्ट है कि – **अयं प्रपंचो न प्राकृतो, नापि परमाणु–जन्यो, नापि विवर्तात्मा, नाप्यद्रष्टादिद्वारा जातो, नाप्यसतः सत्तारूपः किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्टापन्नवस्तुकृतिसाध्यः, तादृशोऽपि भगवद्रूपो; अन्यथा, असतः सत्ता स्यात्.** यह जगत् जडप्रकृतिका केवल परिणाम नहीं है. उसी तरह विविध परमाणुओंके एक दूसरेके साथ केवल संयोजनसे ही यह जगत् अस्तित्वमें आ गया हो ऐसा भी नहीं है. जो स्वयं इस जगतमें जन्मा है उसकी केवल मानसिक भ्रमणारूप यह जगत कैसे हो सकता है? पूर्व कल्पमें मनुष्य द्वारा करे गये वैयक्तिक कर्मोंके कारण यह अवैयक्तिक जगत प्रकट हुआ हो वह बात भी यहां संगत नहीं लगती. क्योंकि यह जगत् तो भगवानने अपनी परमकाष्ठापन्न कृतिके तौर पर अर्थात् अपनी एक लीलारूपमें प्रकट किया है. वास्तवमें तो भगवान् स्वयं ही जगत रूपमें प्रकट हुये हैं. जैसे

कोई कुम्हार घड़ा बनाये तैसे अविनाशी भगवानने यह नाशवन्त जगत् बनाया है ऐसी धारणा भी नहीं बन पाती. जैसे अपने आप कोई भी सर्पको पैदा करनेवाला कारण व्यापार न कर नेवाली रस्सी पर जैसे अंधकार और भयग्रन्थिके कारण सर्पका आरोप भासित होता है, वैसे अवाच्य निरूप निष्क्रिय ब्रह्म पर नाम रूप कर्मकी भ्रमारोपित सत्ता भास रही है, यह पक्ष भी योग्य नहीं है. क्योंकि अश्वत्थ वृक्षके पत्ते इत्यादि रूपमें अव्यय मूल रूपमें स्वयं ही विलस रहा है. वह स्वयं सत्= अर्थात् सनातन सत्ता है. वह स्वयं चित् = अर्थात् अपनी सत्ताके प्रति सभान है. उसकी आत्मसभानतामें कोई शोक मोह या क्लेशका एक भी छींटा नहीं है. अतएव उसने अपनी अव्यय सत्तामें अश्वत्थ अर्थात् आविर्भाव–तिरोभावशाली नाम रूप कर्मोंको प्रकट किया है. यह नाम रूप कर्म देश–काल–स्वरूपकी सीमाओंमें अनुभूत होते हैं. अतएव आत्यन्तिक भेद उत्पत्ति – नाशकी भ्रमणा विचारकोंमें प्रकट होती है. वह अपनी अव्यय चेतनामें, देशिक सीमाओंमें घिरे हुये अविनाशी और एक दूसरेसे स्वरूपतः भिन्नतया भासते, चिदंशोंको जीवात्मा या पुरुषके तौर पर प्रकट करता है. तो कभी त्रिविध परिच्छेदरहित आत्मानन्दकी मस्तीमें अर्थात् देश काल या स्वरूपतया सीमित = परिच्छिन्न न हो ऐसे अनेक दिव्य रूप भी यह प्रकट करता है. अतएव श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि **अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा तदेवैत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्** अक्षरब्रह्ममें यह क्षररूप जगत् कैसे प्रकटा उसके स्पष्टीकरणमें वह वह वादी बहुत सारी मान्यताऐं–

1. आवरण – विक्षेपरूपा मायाके कारण यह जगत प्रकटा है. 2. तीन गुणोंवाली प्रकृतिके कारण यह जगत प्रकटा है. 3. परमाणुओंके जुड़नेके कारण यह जगत् प्रकटा है. 4. कोई भी कारण बिना यह जगत् प्रकटा है. इत्यादि इत्यादि

प्रस्तुत् करते हैं. वास्तवमें, परन्तु, श्रुतिओंके अनुसार तो माया प्रकृति परमाणु या कर्म सबरूपमें ब्रह्मही प्रकटा है.

अतएव जो गाय–बैल–घोड़ा या हाथी जैसे विभिन्न जानवरोंको जब एक ही प्रकारके डंडेसे नहीं हांका जा सकता तो, भगवान द्वारा प्रकट किये गये विविध नाम रूप कर्मोंको कोई एक क्षुद्र असद्वाद् कि विवर्तवादकी धारणाओंके खूंटेमें कैसे बांधा जा सकता है?

सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम सकल क्षर नाम–रूप–कर्म रूपी सदंशोका आत्मा है :

दसवें अध्यायमें विभूतियोगके उपदेशान्तर उपसंहार करते हुये भगवानने एक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण दिया है कि जो कुछ इस जगत्में वस्तुऐं हैं उनका बीज स्वयं भगवान हैं, भगवान् बगैर चराचर जगतकी कोई भी वस्तु न तो उत्पन्न हो सकती है और न ही स्थित रह सकती है – **यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन. न तदस्ति विना यत् स्यात् मया भूतं चराचरम्. नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप. यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा. तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्.** अतएव क्षर या अश्वत्थ नाम रूप कर्मोंवाला सदंशोका बीजरूप स्वयं भगवान हैं. अब यह बात सामान्यबुद्धिसे समझ लेनी चाहिये. विविध वृक्ष तने डालियां पत्ते पुष्प या फलका आकार रंग रूप गन्ध या स्वादमें जो विविधता है, उसे प्रकट करनेकी शक्ति अगर बीजमें न हो तो, किस कारण कोई माली या किसान किसी बीजका आग्रह रखेगा? अतएव क्षर या अश्वत्थ नाम रूप कर्ममें जहां भी किसी प्रकारका वैभव सौन्दर्य या सामर्थ्य दिखती है वह ब्राह्मिक संभावनाओं, पारमात्मिक लीलासौन्दर्य या भगवत्सामर्थ्यकी आंशिक अभिव्यक्ति है. क्योंकि सबके बीजरूपमें आखिरमें वह भगवान् स्वयंही विलस रहे हैं.

अतएव अब इस पंद्रहवें अध्यायमें क्या क्या किस प्रकार अपना आंशिक तेज या विभूति या पौरुषोत्तमी दिव्य सौन्दर्य और सामर्थ्य स्वयं प्रकट करते हैं उसे भगवान बता रहे हैं. आकाश वायु तेज जल पृथ्वी तत्त्व रूपमें प्रकट होकर विविध नाम रूप कर्म रूपी पंचभौतिक जगत्की जो प्रणाली है उस प्रणालीको प्रभुने यहां लिया है. इस क्षर जगत्में अपनी पौरुषोत्तमी सामर्थ्य किस प्रकार काम कर रही है उसे दिखाते हैं **यद् आदित्यगतं तेजः** वचन द्वारा.

सोचो कि सूर्य ठंडा पड़ जाये तो धूप नहीं रहेगी. धूप नहीं रहेगी तो इस समुद्रका पानी भाप बनकर ऊपर नहीं जायेगा. भाप ऊपर नहीं जायेगी तो बादल नहीं बनेंगे. बादल नहीं बनेंगे तो पानी बरसेगा नहीं. पानी नहीं बरसेगा तो खेतोंमें अनाज उत्पन्न नहीं होगा. और अनाज उत्पन्न नहीं होगा तो प्राणी जी नहीं सकेंगे. सब मर जायेंगे.

भगवान पूछते हैं कि इसमेंकी कौनसी कड़ी **मैं नहीं हूं?** सूर्यमें रहा हुआ तेज, भगवान कहते हैं **मैं हूं.** चन्द्रमामें जो शीतल तेज है, अग्निमें जो तेज है वह भगवानका ही तेज है. सूर्यको पृथ्वी पर आनेकी जरूरत नहीं थी, क्योंकि पृथ्वी पर सूर्य आये तो सत्यानाश हो जाय लेकिन सूर्य समझदार है. आज वैज्ञानिक भी मानते हैं कि सूर्यसे हमारी पृथ्वीकी दूरी जो वर्तमानमें है, इससे अधिक दूरी होती तो पृथ्वी पर इतनी अधिक ठंड बढ़ गई होती कि सब अकड़ गये होते. और थोड़ा पृथ्वीके पास सूर्य होता तो जैसे सूर्यास्तके बाद दिखता शुक्रतारेके जैसा गरम वातावरण पृथ्वी पर भी होता. इतना गरम कि चावलकी पोटली इस वातावरणमें रखो तो चावल पक जायें. इतना गरम वातावरण यहां हो तो कोई जी ही नहीं सकेगा. तो पृथ्वी सूर्यसे जिस दूरी पर है यह इतनी नाजुक दूरी है कि थोड़ीसी दूर जाये तो ठंड पड़ जायेगी और थोड़ी सी पास हो तो गरमी पड़ कर सब जल जाये. इस प्रकार

कितने नाजुक अंतरमें प्राणी जी रहा है कि इस तरफ जाये तो मरे और दूसरी ओर जाये तो भी मरे! जहां है वहां ही यह जी सकता है. जो सूर्यकी किरणें है वह इतनी दूरसे ही तुमको स्पर्श कर रही हैं कि जितनी दूर से तुमको जीनेकी ऊष्मा मिले. यह किरणें दाहक नहीं हैं. यह किरणें इतनी दूर भी नहीं हैं कि तुम्हें उष्णता भी न मिले. ऐसी एक आदर्श दूरी सूर्यके साथ पृथ्वीकी है, और यह आदर्श दूरी सूर्य अपनी किरणोंसे निभा रहा है. और हम लोग जी रहे हैं. इसमें थोड़ीसी फेर बदल हो जाये तो सर्वनाश हो जाये. जो सूर्य सारे दिन जलता ही रहे और ठंडक नहीं दे तो यह वनस्पतियां जल जायेंगी. सोचो कि सूर्यको अपने ऊपर बहुत प्यार आये कि किस कारण तुम्हें अंधकार मिलता है? अंधकार होता है तो डाकू, गुंडे सब दादागिरी करते हैं न! इसलिये मैं सारे दिन जलूं और रोशनी ही दूं लेकिन सारे दिन अगर रोशनी ही रहेगी तो भी सब ही जल जायेगें गुंडे भी और साहूकार भी. अतएव पृथ्वीमें कितना सुंदर समायोजन है कि रात्रिमें चन्द्रसे तुम्हें शीतल प्रकाश मिलता है और सूर्यसे तुम्हें तापक प्रकाश मिलता है. शैत्य और ताप इन दोनोंके समायोजनसे हम लोग जी रहे हैं. इसकारण ही तो रातमें जितनी अच्छी नींद हमें आती है इतनी अच्छी नींद दिनमें नहीं आती. इसका कारण यह कि रात्रिमें जो चन्द्रका शीतल प्रकाश है वह केवल हमारा ही नहीं, सब वनस्पतियोंका तथा और बहुतसी वस्तुओंका पोषण करता है और कितना सक्षम प्रकाश है कि इसे हम भी पहचान सकते हैं और कमलिनी जो रातमें खिलती है वह रातमें ही खिलती है और दिनमें बंद हो जाती है. तो इसका भी अपनें जीवनदान देने में कुछ योगदान है.

भगवान कहते हैं कि यह अन्न और वनस्पतियोंमें भी सूर्य बनकर मैं पोषण दे रहा हूं. और सूर्यकिरणों द्वारा पोषित यह औषधि एवं अन्न भी मैं ही बना हूं.

सच्चिदानंद पुरुषोत्तम सकल क्षराभिमानी अपने अव्ययांश चिदंश रूपी जीवात्माओंके शरीर एवं चेतनाके व्यापारोंमें भी परम–आत्मा है :

यह तो निर्जीव पंचभौतिक या आधिभौतिकके बारेमें बात हुई. अब सजीव या आध्यात्मिक बात भगवान कर रहे हैं कि जो अन्न और औषधियोंको प्राणी खाता है तब उनके भीतर वह रक्तरूपमें, मांसरूपमें, प्राणरूपमें परिणत होता है. इसे पचाने वाला यह वैश्वानर कौन? तो भगवान कहते हैं कि **यह भी मैं ही हूं.** अपना खाया हुआ अन्न रक्त और मांस बनता है. यह किस प्रकारका फौर्म्युला है कि गाय घास खाती है और दूध बनता है? यह बहुत जटिल प्रक्रिया है कि जिस जटिल प्रक्रियाके कारण घासमेंसे दूध बन रहा है. गेहुं चावल इत्यादिमेंसे खून मांस इत्यादि बन रहा है. यह सब उन उन वस्तुओंमें रही सूक्ष्म शक्तियां विविध रूपमें काम कर रही हैं. लेकिन उनका बीजरूप तो भगवान स्वयं ही हैं. यह तो **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्** अतएव जीता है पुरुषरूप प्राणी लेकिन जिवानेवाला यह पुरुषोत्तम पग पग पर विद्यमान है. पुरुषोत्तमको पुरुषोंकी सेवाकेलिये कहीं उपस्थित रहनेकी जरूरत नहीं है परन्तु अंशी अपने अंशकी किस प्रकार सावधानी लेता है, जैसे माता अपने गर्भस्थ शिशुकी सावधानी रखती है वैसी ही.

यह अलग बात है कि पुरुषोत्तमयोगके बजाय पुरुषोत्तमरोगकी मनोग्रन्थिसे पीडित लोग आधुनिक वैष्णवोंकी भौतिक सावधानी तो न लें लेकिन आध्यात्मिक सावधानी भी लेनेका भान भूलकर केवल पैसे वसूलनेकी ही सावधानी रखते हैं.

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च अर्थात् इस पंचभौतिक देहको टिकाकर रखनेका व्यापार भगवानके कारण चल रहा है, इतना ही नहीं बल्कि अपना मानसिक या आंतरिक विचार भी हम सबमें सन्निविष्ट उस भगवान द्वारा ही घड़े हुये हैं **मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च.** तुम्हें जो कुछ याद आता है वह सर्वबुद्धिप्रेरक भगवानके कारण ही याद आता है, जो कुछ हम समझ सकते हैं वह भी भगवान्के कारण ही. और अन्तमें भगवान कहते हैं कि **जो कुछ तुम समझ नहीं सकते यह भी मेरी अविद्याशक्तिके कारण ही. तुम्हारी आत्माके भीतर बिराजा हुआ ऐसा तुम्हारा परम–आत्मा मैं हूं. किसी भी अंशमें तुम मुझे इन्कार नहीं सकते.** मूलमें तो इस कारणसे हम पुष्टिभक्तिको जीवनकी सामर्थ्यके तौर पर न स्वीकारके भगवानकी पुष्टि=कृपाके तौर पर ही स्वीकारते हैं. वेद स्मृति पुराण गीता इत्यादि शास्त्रेंका खूब खूब अभ्यास करके ज्ञान प्राप्त करो. भगवान कहते हैं कि वह प्राप्त ज्ञान मैं ही हूं. उस ज्ञानके आधार पर अपने वास्तविक कर्तव्यका स्मरण हो अपनी सम्प्रदाय प्रणाली अनुसार भक्ति भी अपने कर्तव्यबोधके आधार पर अपन प्रारम्भ कर दें लेकिन अगर भगवान हमारा पुष्टिजीवके तौर पर अंगीकार करना नहीं चाह रहे हों तो वह मर्यादा भक्ति रह जायेगी. भगवानने हमारा अंगीकार प्रवाही जीवके तौर पर किया तो स्वमार्गीय भगवत्सेवाकी पोथी अनुसार सारी ही प्रणालीको अनुसरो लेकिन हम आखिरमें तो उस भगवत्सेवा या भगवत्कथाको भक्तिरूपमें न करके अपने पेटको भरनेका एक साधन ही बना लेंगे. कोई मना करेगा तो भी हमें ऐसा ही लगेगा कि **भगवत्सेवा या भगवत्कथा द्वारा अपना गुजारा न चलायें तो क्या समुद्रमें गिर कर मर जायें?** अतएव **लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा. वृत्यर्थं नैव युंजीत प्राणैः कंठगतैरपि** यह सुस्पष्ट श्रीमहाप्रभुजीके निषेधोंका विस्मरण या

अज्ञान भी आखिरमें इस बातका ज्ञापक है कि पुष्टिप्रभुने हमारा अंगीकार पुष्टिमार्गकेलिये नहीं बल्कि आसुरी प्रवाहमार्गके लिये किया है. अतएव भगवानने कहा **मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च.**

हम पहले ही देख आये हैं कि **असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्** तो तुम इन्कार कर दो कि परमात्मा नहीं है तो सूर्यको भी तुम इन्कार रहे हो, चन्द्रको इन्कार रहे हो, तुम बादलको, बरसातको, अन्नको, तुम्हारे रक्त–मांसको, तुम्हारी बुद्धिमें प्रकट होती स्मृति, ज्ञान एवं अपोहनको भी इन्कार रहे हो. किस लेवल पर तुम परमात्माको इन्कार सकते हो? इन्कार नहीं सकते! कारणकि यह सब परमात्माके ही रूप हैं. ऐसे परमात्माको इन्कारनेके लिये जो युक्तिप्रयुक्ति या तर्क तुम करने जाओगे वह सब तुम्हारी बुद्धिमें स्वयं भगवानने ही प्रकट करी होंगी. **ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे.** यह स्वरूप परमात्माके आत्मा होनेका किस अर्थमें हम इन्कार करें? समग्रको इन्कार करके उसका अंश विद्यमान नहीं रह सकता. यह बात आत्माकी भाषामें भगवानने यहां समझादी है. इसकेलिये ही भागवत्में बहुत ही सुंदर शब्दोंमें इस बारेमें एक उद्गार देखनेको मिलता है – **यच्छक्तयो वदतां वादिनो वै विवादसंवादभुवो भवन्ति. कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने. अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयोः एकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः. अवेक्षितं किंच न योगसांख्ययोः समं परं ह्यनुकूलं वृहत् तत्. उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे. किमस्ति–नास्ति–व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः.** हमारे भीतर बिराजी हुई परमात्माकी प्रेरकताकी शक्तियां विवादशील पुरुषोंमें अपनी अपनी मान्यतानुसार चर्चामें अपेक्षित सामर्थ्यके तौर पर काम करती हैं. अपने अपने मतोंकी सामर्थ्य पेश करते हुये भी वादि–प्रतिवादी कब मोहको प्राप्त हो जाते हैं उसका उन्हें पता

नहीं चलता. इसमें कारण एक ही है कि कोई वस्तु है कि नहीं है अथवा तो कोई वस्तु इस प्रकार की है कि अलग प्रकार की है उसकी चर्चामें वस्तुओंमें विरोधाभास प्रकट होता है. ये विरोधाभास परन्तु परब्रह्ममें परस्पर विरुद्ध नहीं रह जाता क्योंकि वह समस्त विरुद्धधर्मोंके लिये समान प्रकारसे अनुकूल बन जानेवाला आश्रय है. माताके गर्भमें रहा हुआ शिशु अपने पैरोंसे गर्भके भीतर माताको मारता हो तो उससे माताका कोई अनादर नहीं हो जाता. वैसे ही परब्रह्मके भीतर रहा हुआ कोई व्यक्ति **'वह है'** ऐसा मानता है कि **'नहीं है'** ऐसा मानता है उससे परमात्माको कुछ फरक नहीं पड़ता. अतएव परमात्माको अस्वीकार करनेवाला भी परमात्माकी किसी वैसी शक्तिके कारणही परमात्माको अस्वीकार सकता है.

इसमें न तो है **तत्**की भाषा और न ही है **अहम्**की भाषा. इसमें पुरुषोत्तम ही हमारा परम–आत्मा है इस प्रकार उसके आत्मा होनेकी भाषा है. जो कुछ हम हैं, जो कुछ हमारा है, पग पग पर हमारे रोम रोममें परब्रह्म परमात्मा भगवान पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण विद्यमान हैं. प्रत्येक रूपमें परमात्मा ही काम कर रहा है. इस बातको जो हम समझ जायें तो आत्माकी भाषामें हमने परमात्माको समझा.

सच्चिदानंद पुरुषोत्तम ही क्षराक्षरभेदोंद्वारा अपनी आत्मानन्दात्मिका लीलाको प्रकट करने वाला आनन्दात्मा है :

पहले बहुतसे लौकिक ज्ञानसाधनोंके कारण अनुभूत होती वस्तुओंके बारेमें आत्मादेशकी शैलीमें पुरुषोत्तमयोग समझाकर अब अलौकिक वेदोपनिषदादि प्रमाणोंसे विषयों को समझाते हुये अर्थात् स्वयं अपने पुरुषोत्तम होनेके पहलूका वर्णन करते हुये कहते हैं **वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव च अहम्** वेदमें किसी भी देवका, किसी भी कर्मका, किसी भी

तत्त्वका या साधनका वर्णन करने में आया है तो यह सब मेरा ही वर्णन है.

समझो कि तुम एक बहुत बड़े वेदके विद्वान बन गये, तो भी तुम ऐसे वेदविद्वान नहीं हो सकते कि गीतोपदेष्टा भगवान् अपने बारेमें जो रहस्य यहां गीतामें समझा रहे हैं, उस गीताकी सहायताके बिना स्वयंकी मेहनतसे केवल वेदोंके आधार पर समझ सको. भगवान कहना चाह रहे हैं कि **मैं वेदका आदिविद्वान हूं, तुम मेरे अंश हो अतएव तुम भी आंशिक रूपमें वेदविद्वान हो सकते हो. ज्ञानका जितना अंश तुम्हारी चेतनामें मैंने प्रकट किया है, उतना ही वेदका अंश तुम जान सकते हो. ऐसे घटघटमें व्याप्त मैं हूं.**

अब ये आत्मादेशकी भाषाका उपसंहार करते प्रभु आज्ञा करते हैं कि यहां जो क्षर है; अर्थात् जो अश्वत्थ है, और जो अक्षर अर्थात् जो अव्यय है, उसे तुम समझ जाओ कि मैं ही हूं. जो कुछ वस्तु भूततया जन्मती, जीती अथवा मरती दिखाई देती है यह सब क्षर है. और जो जन्ममरणशील नहीं दिखती वह सब अक्षर है **द्वाविभौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरएव च, क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते.**

यह तो उपनिषदोंका मौलिक सिद्धान्त भगवानने यहां कह दिया है. वृहदारण्यकोपनिषद् में और तैत्तिरीयोपनिषद्में कहा गया है कि –

1. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यत् च.... अथात आदेशो नेति नेति नहि एतस्माद् इति न इति अन्यत् परम् अस्ति.

2. सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति. तत् सृष्टवा तदेव अनुप्रावीशत्. तदनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्. यदिदं किंच तत् सत्यम् इति आचक्षते.

1. जो कुछ मूर्त वस्तु है कि जो कुछ अमूर्त है, जो कुछ मर्त्य है कि जो कुछ अमृत है, जो कुछ अचल वस्तु है कि जो कुछ चलायमान है, जो कुछ प्रकट वस्तु है कि जो कुछ अप्रकट है, वे दोनो ब्रह्मके ही द्विविध रूप हैं. दोमें से कोई एकको ही जो कोई ब्रह्मके तौर पर स्वीकारता है तो कहना पड़ता है कि **यह ब्रह्म नहीं है** क्योंकि ब्रह्म इतना ही नहीं है. इससे बढ़कर भी कुछ है.

2. उसने कामना की कि वह स्वयं अनेक बन जाय. अतएव उसने यह सब प्रकट किया है. उसने यह सब प्रकट किया और उन सबमें प्रविष्ट हो गया. ऐसे सबमें प्रविष्ट होकर जो कुछ प्रकट हो कि अप्रकट हो, जिस किसीके बारेमें बोला जा सकता हो या नहीं बोला जा सकता, जो कुछ साधार हो या निराधार हो, जो कुछ विज्ञानरूप हो या अज्ञानरूप हो, सत्य हो या अनृत हो वह सब, यह सत्य स्वयं बना है.

इन उपनिषदोंकी गूढ़ वाणीमें तदादेशरूप निरूपण करनेमें आया है लेकिन **तत्** अर्थात् कौन? जो गीतोपदेष्टा हमें न समझाये तो हमारे पास औपनिषदिक **तत्** स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं, यह जाननेका अन्य कोई साधन नहीं है.

क्षराक्षर पुरुषके बजाय उत्तम पुरुष कोई अलग है. यह क्षर और अक्षर दोनोंका भरण करता है. यह दोनोंमें आविष्ट है. यह दोनोंमें अव्यय ईश्वर विद्यमान है. इसे हम **पुरुषोत्तम** कहते हैं. **उत्तमः पुरुषस्तु अन्यः परमात्मा इति उदाहृतो यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्यय ईश्वरः** कोई एक धनवान अभिनेता कभी किसी कंगाल पात्रका अभिनय करे तो वह वैसे अभिनयके कारण क्या कंगाल बन जाता है? ना, वैसे ही अव्यय अविनाशी परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम भी भौतिक मूर्तामूर्त मर्त्यामर्त्य चराचर वाच्यावाच्य ज्ञेयाज्ञेय सत्यानृतके विविध रूप धारण करते हों तो उससे वह लीलात्मिका विषमता उनके स्वरूपको खंडित नहीं करती.

श्रीमहाप्रभुजी इसकेलिये ही कहते हैं – **सर्वत्र भगवान् तुल्यः सर्वदोषविवर्जितः क्रीडार्थमनुकुर्वन् हि सर्वत्रैव विराजते. गुप्तानन्दा यतो जीवाः निरानन्दं जगद् यतः. पूर्णानन्दो हरिः तस्मात् जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः.**

इतने सारे क्षराक्षर मूर्तामूर्त मर्त्यामर्त्य सत्यानृत इत्यादि विभागोंमें भगवान् तुल्यरूपमें कि अविभक्तरूपमें बिराजमान होकर उन उन स्वभावोंकी लीला प्रकट करते हैं. परन्तु, लीलाकर्ताके स्वरूपमें किसी प्रकारके दोषका सम्पर्क नहीं होता. केवल जाननेकी बात इसमें यह है कि जीवात्माओंमें भगवदानन्द मिलकर अपना स्वभाव प्रकट करता है, जिसे भगवत्समर्पित निष्कामकर्म, ब्रह्मज्ञान अथवा भगवद्भक्ति द्वारा पहचानकर पाया जा सकता है. **आत्मानंदसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्** न्यायानुसार. अन्यथा ब्रह्मसाक्षात्कार बिना जड पदार्थोमें तो वह दिव्य आनन्द मिल नहीं सकता.

इसप्रकार पुरुषोत्तमयोग किस प्रकार भक्तिके उद्बोधनार्थ है यह हम समझ सकते हैं.

इस सन्दर्भमें जब भगवान कहते हैं कि क्षरसे मैं अतीत हूं, अक्षरसे मैं उत्तम हूं उससे मुझे लोक एवं वेद में **पुरुषोत्तम** कहा जाता है. **यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमो, अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः** यह वचन केवल स्वस्वरूपनिरूपणार्थ न होकर भक्तिभावनाके उदबोधनार्थ उपदेश है. यह सिद्ध होता है.

उपसंहार :

अतएव भगवानभी उपसंहार करते हुये कहते हैं कि – अब जो यह सबकुछ ब्रह्म ही है तो इस बातको समझनेके बाद एक बड़ा संमोह यह उत्पन्न हो सकता है कि जात पर न पात पर, मोहर लगाओ हाथ पर, अर्थात् अपने ही पंजे पर **अहं पुरुषोत्तमोस्मि.** अर्थात् पुरुषोत्तमताका निशान न लगा देना.

किस पंजे पर निशान लगाना? तो भगवान कहते हैं कि जो मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम रूप में जानता है, इसी वास्तविकताको जानता है, तो वही मुझे भली प्रकार भज सकता है. अब एक बात ध्यानसे समझो कि भगवानने **यो माम् एवम् असंमूढो जानाति पुरुषोत्तमं स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत, इति गुह्यतमं शास्त्रम् इदम् उक्तं मया अनघ, एतद् बुद्धवा बुद्धिमान स्यात् कृतकृत्यश्च भारत** कहकर जो बात कही है वह ही बात हमारे श्रीमहाप्रभुजीने भी षोडशग्रन्थों में कही है कि **सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्यायमेव धर्मोहि. एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितं एतद् बुद्धवा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्. अंतकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु कृष्णात् परं नास्तिं दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्.** तात्पर्य कि सर्वत्र परमात्मा है और वह सर्वरूप भी है; लेकिन उसे सर्वरूपमें जानो, भजो परन्तु उसे उसके मूलरूपमें ही.

भगवान कहते हैं कि ''आ मैं तुझे मेरा बहुत गुह्यतम रहस्य समझाऊं.'' भगवानने यहां अर्जुनको अर्जुन नहीं कहा लेकिन **अनघ** अर्थात् पापरहित कहा है. तो जो व्यक्ति पापरहित होगा उसे ही श्रीकृष्णकी अनितरसाधारण पुरुषोत्तमता समझमें आयेगी. धंधे व्यापार वाली भक्तिकी नौटंकी करनेकेलिये पुरुषोत्तरोगकी पापमयी मनोविकृतिसे पीडित लोगोंको इनकी पुरुषोत्तमता समझमें नहीं आयेगी. भगवानकी पुरुषोत्तमता समझनेकेलिये अनघ होना पड़ेगा. उनकी पुरुषोत्तमता जो समझ सकेगा उसे भगवान कह रहे हैं कि तुम्हारा कर्म तुमने सम्पन्न करलिया, तुम्हारा ज्ञान भी सुधर गया, तुम्हारी बुद्धि भी सुधर गई और तुम्हारी कृति भी सुधर गई. इसे समझे तो तुम्हारी बुद्धि एवं कृति सुधर गई, इस रहस्यको नहीं समझे तो तुम्हारी कृति मति कि रतिकी सब शक्तियां बेकार हो गईं.

इस परमात्माको हम देखें तो हमें अपनी सब वस्तुओंको अच्छी प्रकार देखनेका कौशल प्राप्त हो जायेगा. हमारी पुष्टिभक्ति हो कि मर्यादाभक्ति हो, ज्ञानमार्ग हो कि कर्ममार्ग हो, अथवा तो संसारके मार्गपर भी जो तुमें अच्छी तरह चलना हो तो भी, उस परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्णको पुरुषोत्तमके तौर पर समझना पड़ेगा. जो तुम उसे समझोगे तो तुम संसारके मार्गपर अच्छी तरहसे चल सकोगे. और इसे हम अगर अच्छी तरहसे नहीं समझ सके तो संसारकी बात तो जाने दो लेकिन भक्तिके मार्गमें भी हम भटके बिना नहीं रहेंगे. इसीके लिये दयारामभाईने यह पद गाया है **सदा श्रीकृष्णने सेवोरे समझी ल्योने हवे सुधो सिद्धान्त.**

आश्रयका पद गाकर यहीं हम पुरुषोत्तमयोगके व्याख्यानकी समाप्ति करेंगे :

दृढ इन चरणन केरो भरोसो, दृढ इन चरणन केरो.
श्रीवल्लभनख चंद्र छटा बिन सब जगमांझ अंधेरो।।
साधन और नांहि या कलिमें जासों होत निवेरो।
सूर कहा कहि द्विविध आंधरो बिना मोल को चेरो।।

000000000

।।अमृतवचनावली।।

(1) जो कटोरी (गहने धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यकुं आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो; याकेलिये गोअन्कों खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो (यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे)

{श्रीमहाप्रभुःघरुवार्ता – 3}.

(2) धनादिकी कामनापूर्तिकेलिये जो शास्त्रविहित श्रवण–कीर्तन– अर्चन आदि किये जावे हैं उनकुं कर्ममार्गीय समझने. उदरपोषणार्थ आजीविकाके उपार्जनके रूपमें जो श्रवण–कीर्तन–अर्चन आदि किये जावें उनकुं तो खेतीबारीकी तरह 'लौकिक कर्म' ही कहनो चहिये. मलप्रक्षालानार्थ गंगाजलकुं प्रयोगमें लावे जेसो वो निषिद्धाचरण हे; ओर एसो दुष्कृत्य करवेवालो पापभागी ही होवे है.

{श्रीप्रभुचरण : भक्तिहंस}.

(3) अपने सेव्य–स्वरूपकी सेवा आप ही करनी. और उत्सवादि समयानुसार, अपने वित्त अनुसार करने, वस्त्रभूषण भांति–भांतिके मनोरथ करी सामग्री करनी.

{श्रीगोकुलनाथजी–चतुर्थेश : 24 वचनामृत}

(4) जब सन्तदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीके

द्रव्यमेंते चौबीस टका पूंजी करि कोड़ी बेचते. सो श्रीठाकुरजीकी पूंजीमेंते तो कासिदको दियो न जाई सो कमाईको टका दिये. तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते, महाप्रसाद लेते, और नित्यको नेग बहोत श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों होतो; ताते आपुनी राजभोगकी सेवा सिद्ध न भई (जाने). कासिदको दिये सो नारायणदासको लिखें जो तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो! या प्रकार सन्तदास विवेकधैर्याश्रयको रूप दिखाये. विवेक यह जो श्रीगुसांईजीको हूंडी पठाई – आपुनी सेवा न भई – राजभोगको नागा माने. धैय यह जो श्रीठाकुरजीके द्रव्य खान–पान न किये. आश्रय यह जो मनमें आनन्द पाये – दुःखक्लेश न पाये.

{श्रीहरिरायजी–द्वितीयेशःभावप्रकाश 84 वैष्णवनकी वार्ता–76}

(5) पारिश्रमिकके रूपमें वित्त दे के कोइ दूसरेके द्वारा सेवा कराई जावे तो चित्तमें अंहकार तो बढ़े परन्तु वो भगवान्‌में कभी चोंट नहीं सके. भगवत्सेवार्थ कोइ दूसरेसूं पारिश्रमिक धन लिये जावेपे तो, जेसे पंडा–पुरोहितनकुं यज्ञयागादिको फल नहीं मिले परन्तु यजमानन्‌कुं ही मिले, वेसे ही सेवाकर्ताकी सेवा निष्फल बन जाय हे. यजमान, जेसे, दक्षिणा दे के पुरोहितन्‌के द्वारा यज्ञयाग करा लेवे, वेसे ही भगवत्सेवा (आजकल जेसे पुष्टिमार्गीय हवेलीन्‌में वैष्णवगण गुसांई–मुखिया–भीतरिया–समाधानीकी बटालियनसूं करवा लेवे हें वा तरहः अनुवादक) करा लेवेमें क्या बुराई? वहां कर्ममार्गमे वो विहित होवेसे पुरोहितन्‌सूं कर्म सम्पन्न करा लेनो आपत्तिजनक नहीं हे. भक्तिमार्गमें, परन्तु, या तरहसूं भगवत्सेवा करा लेवेको कहीं विधान उपलब्ध न होवेसूं, कोइ दूसरेकुं धन दे के सेवा करानो अनुचित ही हे. भक्तिमार्गमें तो भगवदुक्त प्रकार (निज घरमें निजपरिजनन्‌के सहयोगद्वारा निजी तन–मन–धनसूं ही) भगवत्सेवा करनी चाहिये.

{सुरतस्थ 3/2 गृहाधिपति श्रीपुरुषोत्तमजीःसिद्धा.मुक्ता.विवृ. प्रका.2}

(6) ''अत्र गृहस्थानविधानेन, स्वगृहाधिष्ठित–स्वरूप–भजन –परित्यागेन अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति, इति सूचितं भवति'' अर्थात् यहां सेवोपयोगी स्थानके रूपमें निज घरको विधान उपलब्ध होवेसूं, अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा छोड़ के कोइ दूसरी जगह (अर्थात् हवेलीन्में, जेसे आजकल, भेंट–सामग्री चढ़ा के नित्य या मनोरथों की झांकी कर लेनो वैष्णवन्ने पुष्टिमार्गमें परमधर्म मान लियो हे वेसे) भगवत्सेवा करवेवालेन्कुं कभी भक्ति सिद्ध नहीं हा सके हे.

{श्रीवल्लभात्मज–श्रीबालकृष्णजीःभक्तिवर्धिनीव्याख्या 2}.

(7) लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछू लाभके लिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो 'पाखंडी' ओर 'देवलक' कह्यो जाय हे. तासूं लाभपूजार्थ सिवाय जामें निषेध नहीं हे एसी रीतिसूं 'मेरो लौकिक सिद्ध होय' एसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो 'लोकार्थी' कह्यो जाय.

{श्रीनृसिंहलालजी महाराजःसिद्धान्तमुक्तावलि–टीका श्लोक 16–17}

(8) श्रीउदयपुर दरबारकुं आर्शीवाद! याके द्वारा सूचित कियो जावे हे कि चल–अचल सम्पत्तिके आर्थिक तथा स्वामित्वकी व्यवस्थाके बारेमें योग्य व्यक्तिन्की एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई हे. सेवा आदि विषयन्में पुरातन तथा प्रवर्तमान प्रणालिके अनुसार काम कियो जायेगो; ओर यदि पुरातन परम्पराको बाध न होतो होयगो ओर समिति कोइ तरहके सुधारकी इच्छा रखती होयगी तो ऐसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे. ओर श्रीठाकुरजीको द्रव्य अपने व्यक्तिगत उपयोगमें नहीं वापर्यो जायेगो, जेसी कि परम्परा आज भी हे ही, ओर याकुं निभायो जायेगो. तो भी मेरे पूर्वजन्के समयसूं चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क वा ही तरह कायम रहेंगे. या ही तरह आय–व्ययकुं भी उन–उन बहीखातान्में लिख्यो जायेगो जेसे कि हालमें लिख्यो जा रह्यो हे.

{नि.ली.गोस्वामितिलकायित श्रीगोवर्धनलालजी महाराजःडिक्लॅरेशन
मिति

भाद्रशुक्ला पंचमी सं.1948 ता.5/9/1893}

(9) महाराजकुं जो आमदनी वैष्णव आदिन्सूं होवे हे वामेंसूं घरखर्चाके रूपमें महाराज ठाकुरजीकी सेवाको खर्चा निभावें हें. ठाकुरजीकेलिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसूं निकालके वामेंसूं ठाकुरजीकी सेवाको खर्च निभायो जावे हे. ठाकुरजीके वैभवको, नेगभोगको, आभूषण–वस्त्र आदिको खर्च महाराज स्वयं अपनी आमदनीके अनुसार निभावे हें... ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरी नहीं जा सके... ठाकुरजीकी भेंट देवमन्दिरमें भेजनी पड़े हे. महाराज वा भेंटकुं अपने उपयोगमें ला नहीं सकें.

{नि.ली.अमरेलीवाले गो.वागीशलालजीके आम–मुखत्यार : ''अमरेलीहवेली व्यक्तिगत हे या सार्वजनिक'' मुद्देपर सन् 1909–10 में गायकवाडी बड़ौदा राज्यकी कोर्टमें दी गई जुबानी}

(10) जेसे अपने पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्मके सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्त कुं पूर्णतया समझके वैष्णवधर्मको यथार्थ उपदेश लोगन्कुं देते हते; ओर मध्यवर्ती कालमें जो सम्पत्ति आदिके कारणन्सूं हमने बहोत हद् तक छोड़ दिये हें, या कारणसूं अधिकांश लोगन्में साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढ़िके अनुसार जानकारी बच गयी हे.

{नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्य–पंचमेश द्वारा मुंबईके वैष्णवन्कुं लिखित
पत्र : 'आश्रय' अप्रिल 87 के अंकमें प्रकाशित}

(11) वकीलः यदि कोइ भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें, वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा और नेग–भोग केलिये; और श्रीठाकुरजीकी सेवाकुं निभावेकेलिये भेंट आदि दे के वित्तजा सेवा करते होंय और वा मन्दिरमें तनुजा सेवा भी करते होंय तो वो, ''मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होव'' ऐसे आपको कहनो हे?

पू.पा.महाराजश्री : पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्केलिये स्वतन्त्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करवे की कोई प्रक्रिया नहीं हे, ओर एसी सेवा की जाती होय तो वाकुं 'साम्प्रदायिक मन्दिर' नहीं कह्यो जा सके.

{सुरतस्थ 3/2 गृहाधिपति नि.ली.पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजीमहाराज :
''नड़ियादकी हवेली वैयक्तिक हे या सार्वजनिक'' विवादमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ साक्षीके रूपमें दी जुबानी}.

(12) ...या ही तरह अपने यहां जो सन्मुखभेंट धरी जाय हे वो भी देवद्रव्य होवे हे; ओर वा सामग्रीकुं काममें नहीं लियो जाये. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजी के घरमें आज भी ये नियम पाल्यो जाय हे. वो वल्लभकुलको श्रीयमुनाजीको पंडा हे. दूसरा कोई वाको अनुकरण करे तो वो अनुचित हे... हम श्रीनाथजीके सामने जो सन्मुख भेंट धरें हें, वो श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजीकुं धरें हें, फिर भी वो आभूषणन्में वापरी जावे हे, सामग्रीमें नहीं. सन्मुखभेंट धरवे में बहोत अनाचार होवे हे. या तरहसूं आयो द्रव्य 'देवद्रव्य' बने हे... वाकुं लेवेवालेकी बुद्धि बिगड़े बिना नहीं रहे.

{नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी महाराज राजनगर : वचनामृत–484–87}.

(13/क) वैष्णवन्के पास जो भी परम पदार्थ हे वाको अस्तित्व आजके ही दिनको आभारी हे. कालकी भीषणता और परिस्थितिकी विषमता के अत्यन्त विकट युगमें श्रीमत्प्रभुचरणन्के दिव्य सिद्धान्तन्के ऊपर अटल रहवेपर ही जीवमात्रको ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो पावेगो. अन्याश्रयके त्यागकी भावनापे जगत्के जीव दृढ़ रहें तो वैष्णव–हवेलीन्के वैभवके कारण जो वैष्णव घरसेवाकुं भूल चुके हते, संयोगावशात् उन हवेलीन्में श्रीके दर्शन आज बन्द भये हें, सो वैष्णवन्के घर पुनः भगवत्सेवासूं किलकिलाते हो जायेंगे. ये लाभ सम्प्रदाय और सम्प्रदायीन् केलिये

मामूली नहीं रहेगो. ईश्वरेच्छा अनाकलनीय होवे हे. मोकुं तो श्रद्धा हे कि या कठिन परीक्षामें हम सभीन्को श्रेय ही सिद्ध होवेवालो हे.

(13/ख) मेरे अनुयायीन्कुं दो प्रकारकी दीक्षा दउं हूं. प्रथम कंठी बांधनी तथा दूसरी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा. कंठी–बांधनी साधारण वैष्णवन्कुं ही दी जावे हे तथा ब्रह्मसम्बन्ध विशेषरूपसूं उन अनुयायीन्कुं, जो सेवामें विशेषरूपसूं बढ़नो चाहे हें. पहली दीक्षाकुं 'शरण–दीक्षा' कहें हें तथा दूसरी दीक्षाकुं 'आत्मनिवेदन' कहें हें. शरणदीक्षासूं वैष्णव सिर्फ नामस्मरण करवेको ही अधिकारी बने हे तो सेवावाले वैष्णवकुं ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेवेके बाद ही अधिकर मिले हे. ब्रह्मसम्बन्धवालो वैष्णव अपने घरमें ही सेवाको अधिकारी होवे हे. .. हम स्वरूपकी सेवा नन्दालयकी भावनासूं करें हें. यालिये हम सातोंके सात पुत्रन्के 'घर' ही कहलावे हें ओर हमारे घरकी सृष्टि 'तीसरे–घरकी–सृष्टि' कहलावे हे.

{नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज तृतीयेशः (13/क) : श्रीमत्प्रभुचरणप्राकट्योत्सव ता. 24/12/48के दिन मुंबइके पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्की सभामें अध्यक्षीय प्रवचन. (13/ख) बयानः मूर्तिबा कार्या. सहा. कमि. देवस्थानविभाग खंड उदयपुर एवं कोटा बजरिये कमिशन मु.कांकरोली.फाईल संख्या. 1/4/64. श्रीद्वारकाधीशमन्दिर दिनांक 7/11/65}.

(14/क) आज मोकुं अपने हृदयके उद्गार कहवे दो, मेरो हृदय जल रह्यो हे, मन्दिरन्में मात्र द्रव्यांग्रहकी प्रवृत्ति बच गई हे; ओर वोही अनर्थन्की जड़ हे. ऐसे मन्दिरन्के अस्तित्वसूं कोई लाभ नहीं. हमारो सम्प्रदाय सामुहिक नहीं वैयक्तिक हे. सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अवश्य हे परन्तु सार्वजनिक नहीं. ''करत कृपा निज दैवी जीवनपर'' या उक्तिमें 'निज' शब्दको प्रयोग कियो गयो हे. दैवी जीव कहीं भी हो सके हें परन्तु सार्वजनिक रूपसूं नहीं. आज हम 'पुष्टि' को नाम लेवेके भी अधिकारी नहीं हें! अपने मन्दिर कहां हें! आजको हमारो जीवन चार्वाक–जीवन हो रह्यो हे. क्या हम, आज जा प्रकारको सम्प्रदाय हे, वाकु जिवानो चाहें हे? यदि सच्चे सम्प्रदायकुं चाहते हौ तो स्वरूपसेवा घर–घरमें पधराओ एवं

पामसेवापे भार रखो... भक्तिकी प्राप्ति स्वगृहन्में सेवा करवेसूं ही होयगी. आजके इन मन्दिरन्सूं कोई लाभ नहीं हे, क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रहकी प्रधानता आ गयी हे; ओर जहां द्रव्य इकट्ठो होय हे वहीं अनर्थ हो जावे हे. आज सम्प्रदायको विकृत स्वरूप यासूं ही हे.

{ नि.ली. गो. श्रीकृष्णजीवनजी महाराज मुंबई–मद्रासः 'वल्लभविज्ञान' अंक 5–6 वर्ष 1965 नि.ली. गो. श्रीकृष्णजीवनजी महाराज मुंबई–मद्रासः 'वल्लभविज्ञान' अंक 5–6 वर्ष 1965 नि.ली. गो. श्रीकृष्णजीवनजी महाराज मुंबई–मद्रासः 'वल्लभविज्ञान' अंक 5–6 वर्ष 1965}

(14/ख) हम श्रीवल्लभाचार्यजीकी आज्ञाका पालन कहां कर रहे हें? अपने यहां गृहसेवा कहां हे? केवल मन्दिरन्में दर्शनसूं क्या लाभ हे? श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा हे ''कृष्णसेवा सदा कार्या'' यदि श्रीमहाप्रभुजी मन्दिरकुं मुख्य मानते तो अपनी तीन परिक्रमान्में अनेक मन्दिर स्थापित कर देते. श्रीगुसांईजीने श्रीगिरिधरजीकुं सातस्वरूपके मनोरथ करते समय या प्रकारकी चेतावनी दी थी. मन्दिरस्थापन करते समय उनकुं डर हतो कि घरमेंसूं ठाकुरजी मन्दिरमें पधार जायेंगे. मेरे पिताजीने कल (उपर्युद्धत '14/क' वचनमें) जो कह्यो वो अक्षरशः सत्य हे. तुम अपने घरन्में ठाकुरजीकुं पधराओ ओर सेवा करो.

(14/ग) पुष्टिमार्गीय प्रणालिकाके अनुसार ट्रस्ट होनो उचित नहीं हे. श्रीआचार्यचरणने प्रत्येक ब्रह्मसम्बन्धी जीवकुं आज्ञा दी हे ''गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः'' (भक्तिवर्धिनी) अर्थात् गृहमें रहके स्वधर्माचारण करनो चहिये. गोस्वामी बालक भी आचार्य होवेके बावजूद वैष्णव भी हें. अतः आचार्यश्रीकी उपरोक्त आज्ञाकुं पालनो उनको भी कर्तव्य हे... अतः मेरो तो माननो यही हे कि आचार्यचरणक सिद्धान्तके अनुसार वैष्णवन्कुं स्वयंके घरमें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चहिये ओर धर्मग्रन्थन्को पठन–पाठन करनो चहिये. नहीं कि मन्दिरन्में जाके... ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय

प्रणालिकासूं संगत होनेवाली बात नहीं बल्कि अपनी प्रणाली भंग करवेवाली बात हे.
{दहिसरमें श्रीगोवर्धननाथ हवेली ट्रस्टके संस्थापक पू.पा.नि.ली. गो. श्रीव्रजाधीशजीमहाराज : (14/ख) 'वल्लभविज्ञान'. अंक 5–6 वर्ष 1965, (14/ग) 'नवप्रकाश' अंक 8 वर्ष 8}

(15/क) ओर जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट हे तब ठाकुरजीकुं गोस्वामीके सम्बन्धसूं पृथक् करके, ठाकुरजीकुं सब सम्पत्ति अर्पण करके, अर्थात् भेंट करके रिलीजिअस एंडॉमेन्टके रूपमें भये वे ट्रस्ट हें. ऐसी अवस्थामें इन ट्रस्टन्सूं जो नेग–भोग चलायो जावे हे, वो देवद्रव्यसूं चलायो जा रह्यो हे. देवद्रव्यको उपभोग करनेवालो अन्तमें देवलक ही होवे हे. श्रीमदाचार्यचरणने प्रभुकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखके जब भोग आरोगायो तब आपने वा द्रव्यसूं समर्पित सारो को सारो प्रसाद गायनकुं खवा दियो. ये हे साम्प्रदायिक सिद्धान्त. या प्रकारके आदर्शरूप सिद्धान्त्को जा प्रथासूं विनाश होवे, आचार्यन्कुं देवलक बनायो जाय, वा प्रथाकुं जितनी शीघ्र सम्प्रदायसूं हटा दी जाय, उतनो ही श्रेय यामें गोस्वामिसमाज तथा वैष्णवसमाज को निहित हे.

(15/ख) भगवत्सेवा सम्प्रदायकी आत्मरूप प्रवृत्ति हे. आचार सेवाको अंग हे, सेवाके अनुकूल आचारको पालन कियो जानो चहिये. आचार – पालनकुं प्रमुखता देके भगवत्सेवाको त्याग भी उचित नहीं हे. भगवत्सेवा जेसे भी बने करो... गुरुघरन्में मत भेजो.. . यदि हम भगवद्द्रव्यकुं पेटमें डालेंगे तो वो अपराध हे. ग्रन्थन्के अध्ययनके प्रति हमकुं समाजकुं आकृष्ट करनो चहिये.

{नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी महाराज मुंबई–किशनगढ़ : (15/क) ''आचार्योच्छेदक ट्रस्ट प्रथासे पुजारीपनकी स्थापना घोर सिद्धान्तहानि एवं घोर स्वरूपच्युति'' लेख पृष्ठ 7. (15/ख) 'श्रीवल्लभविज्ञान' अंक 5–6 वर्ष 1965 में प्रकाशित वक्तव्य}.

(16/क) जेसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश ओर लौकिक कार्य समझके नहीं करवेकी श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा हे, वैसे ही नामसेवा भी वृत्त्यर्थ नहीं करनी चहिये, ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्धमें करें हें... वृत्त्यर्थ सेवा करवेसूं प्रत्यवाय (दोष) लगे हे. जेसे गंगाजमुनाजलको उपयोग गुदाप्रक्षालनार्थ नहीं कियो जा सके, वैसे ही सेवाको उपयोग भी वृत्त्यर्थ नहीं करनो चहिये.

(16/ख) तन ओर वित्त प्रभुकेलिये वापर्यो जाय तो मन भी प्रभुमें अवश्य लगे ही हे. अतएव श्रीवल्लभने उपदेश कियो हे कि ''तत्सिद्धयै तनुवित्तजा''. मानसी जो परा हे वो सिद्ध करनी होय तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक हे. तन और वित्त कहीं एकत्र लगायो जाय तो चित्त भी वहां दिन–रात लग्यो रह सके हे. दलालीको व्यवसाय करवेवालेके व्यावसायमें केवल तनसूं श्रम कियो जावे हे परन्तु वामें वित्त स्वयंको लगायो नहीं जावे हे. अतएव बजारके भावन्की घटबढ़में दलालकुं तनिक भी मानसिक चिन्ता होवे नहीं... कोइ बच्चाको पिता केवल ट्युशन फी देके बादमें समझ ले हे कि बच्चा परीक्षामें पास हो ही जायेगो. इन तीनोंकुं फलप्राप्ति होवे नहीं क्योंकि तनुजा–वित्तजा दोनों नहीं लगी. अब तनुवित्तजा दोनों लगावेवालेके चित्तप्रवण होवेको उदाहरण देखेंः एक दुकनदार दुकान और मालकी खरीदीमें पूंजी लगा के व्यापार शुरु करे सुबहसूं रात तक वहां उपस्थित रह के जब तन भी व्यापारमें लगावे हे तो या कारणसूं दिनरात वाकुं व्यापारके विचार आते रहेंः अच्छी तरह व्यापार केसे करूं – केसे व्यापार बढ़े... अतः पुष्टिमार्गें प्रभुमें आसक्ति सिद्ध होवेकेलिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समझायी गयी हे कि भावपूर्वक भक्तकुं तनुवित्तद्वारा सेवा करनी चहिये.

▪ {पू.पा.गो.श्रीगोविन्दरायजी महाराज पोरबन्दर : (16/क) 'सुधाधारा' पृ.114. (16/ख) 'सुधाबिन्दु' पृ.73}

(17) वल्लभमतमें ये सिद्धान्ततः गलत हे ओर ऐसे देवस्थानन्के चढ़ावाको प्रसाद भी खायो नहीं जा सके हे, क्योंकि वहां देवलकत्व ही प्रधान हे. आजके युगकुं देखते भये जहां न्यास करनो आवश्यक हे वहां उपर्युक्त सिद्धान्तन्कुं ध्यानमें रखके ही

न्यास करनो आवश्यक हे, जासूं देवलकवृत्तिसूं बच्यो जा सके. यदि एसी व्यवस्था नहीं की गइ तो देवद्रव्य होवेगो, जाके सेवन करवेसूं आचार्य स्पष्ट कहें हें कि नर्कपात होयगो.

{नि.ली.गो.श्रीरणछोड़ाचार्यजी प्रथमेश : ''हमारी धार्मिक स्थितिका वर्तमान स्वरूप एवं भविष्यकी व्यवस्थाहेतु प्रतिवेदन (दि. 25/2/81) पृ.12}

(18) क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं वाके भोक्ता हें किन्तु वैष्णव–वृन्द तथा सेवकगण भी वा महाप्रसाद लेके तकके अधिकारी नहीं हे. यह आचार्यचरणके इतिहाससूं प्रत्यक्ष प्रमाणभूत हे. वाके महाप्रसाद लेवेको केवल गायकुं ही अधिकार हे. अन्यथा वा देवद्रव्यके उपभोग करवेसूं निश्चय ही अधःपतन हे... सब प्रकारके दान–चढ़ावा व वसूल वसूली करवेको उल्लेख कियो गयो हे, वो भी सम्प्रदायके सिद्धान्तसूं नितान्त विरुद्ध हे. अपने सम्प्रदायकी प्रणाली के अनुसार जो अपने सम्प्रदायके सेवक हें, उनको ही द्रव्य गुरु–शिष्यके सम्बन्धसूं लेके सेवामें उपयोग करायो जा सके हे. सम्प्रदायमें सब प्रकारके दान–चढ़ावान्को उपयोग सेवामें नहीं कियो जाय हे; ओर कदाचित् कहीं कियो जातो होय तो वो सम्प्रदायके नियमन्सूं विरुद्ध होवे के कारण बन्द कर देनो चहिये.

{पू.पा.गो.श्रीघनश्यामलालजी–सप्तमेश : ''श्रीनाथद्वारा ठिकानेके प्रबन्धकी दिल्ली–योजनाकी आलोचना (ता.1–2–56)''}

(19/क) प्रश्नः 'देवद्रव्य' कायकुं कहें हें? 'देवद्रव्य'को मतलब, देवको द्रव्य. ऐसो द्रव्य या पदार्थ जो देवकुं ही उद्देश्य बनाके अर्पण कियो गयो होय वाकुं 'देवद्रव्य' कहें हें. याही प्रकार गुरुकुं उद्देश्य बनाके अर्पण किये गये द्रव्यकुं 'गुरुद्रव्य' कह्यो जाय हे. प्रभुकी प्रसादी वस्तुकुं 'महाप्रसाद' कहें हें. या प्रकारके मन्दिरन्में ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरे जाते द्रव्यकुं ओर ट्रस्टकी ऑफिसमें आते द्रव्यकुं तो स्पष्ट शब्दन्में 'देवद्रव्य' कह्यो जा सके

हे; और वा द्रव्यसूं सिद्ध होती सामग्रीमें भगवत्प्रसादी होवेके बाद महाप्रसादपनो तो आवे हे परन्तु वाके साथ वामें देवद्रव्यपनो भी रहे ही हे. याही कारण वैष्णवन्कुं ऐसे महाप्रसादकुं देवद्रव्य समझके ही व्यवहार करनो चहिये. ऐसे महाप्रसादकुं लेनेमें देवद्रव्यको बाध तो रहे ही हे.

(19/ख) मन्दिरके स्थलके फेरबदलके बारेमें श्री गो.पू.108 श्रीबालकृष्णलालजी ने कह्यो कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा नहीं हे. यामें व्यक्तिगत स्वरूप, निजी स्वरूप, की ही बात हे; ओर याही कारण पुष्टिमार्गमें सेवाप्रकार देवालयके प्रकार जेसो नहीं हे. मन्दिरको निर्माण भी घर जेसो होवे हे. कहीं भी ध्वजा–शिखर नहीं होवे. वैष्णव भी घरमें ही सेवा करे हें तथा वाकुं 'मन्दिर' ही कहें हें...

{'सेवा–देवद्रव्य–विमर्श' ग्रन्थके सहलेखक पू.पा.गो. श्रीबालकृष्णलालजी महोदय सूरतस्थ 3/2 गृहाधीश : (19/क) 'वैष्णववाणी' अंक3, वर्ष मार्च 1983. (19/ख) 'गुजराज समाचार' अंक 25/5/93में प्रकाशित}.

(20) ...ब्रह्मसम्बन्ध लेके सेवा करवेसूं प्रत्येक इन्द्रियन्को भगवान्में विनियोग होवे हे... मन्दिर–गुरुघर केवल उपदेशग्रहण करवेकेलिये हें. सेवा अपनकुं अपने घरन्में करनी हे.

{पू.पा.गो.श्रीमथुरेश्वरजी संस्थापक – श्रीगोवर्धननाथजी मन्दिर,
होलिवुड्.एन्.वाय्.अमेरिकाः 'वल्लभविज्ञान' अंक 5–6 वर्ष 1965}

(21) प्रश्नः अपने सम्प्रदायमें मन्दिरकुं 'मन्दिर' न कहके 'हवेली' क्यों कह्यो जावे हे?

उत्तरः सामान्यतया इतर हिन्दु–सम्प्रदायमें 'मन्दिर' शब्द देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होवे हे परन्तु ऐसे देवालयके रूपमें मन्दिर जेसी संस्थाको पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं हे. क्योंकि पुष्टिमार्गमें अपने मांथे जो प्रभु पधराये जावें हें वे प्रभुस्वरूप ओर उनकी सेवा

हरेकको व्यक्तिगतरूपमें वाकी भावनाके अनुसार पधराये जावे हें. स्वयंके श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवको एकमात्र स्वयंको कर्तव्य बन जातो स्वयंको ही धर्माचरण हे. पुष्टिमार्गीय सेवा सामुहिक जीवनको विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनको विषय हे. जेसे लोकमें पत्नी अथवा माताको पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करवेको वाको व्यक्तिगत धर्म उत्तरदायित्व ओर अधिकार होवे हे. वा ही तरह जा सेवकके जो सेव्यस्वरूप होवे हें वा सेव्यस्वरूपकी सेवा वाको व्यक्तिगत प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखवेवाली बात होवेसूं स्वयंके जीवनकी स्वयंके घरमें की जावेवाली धर्मरूप प्रवृत्ति हे... अतः इतनर हवेलीन्की तरह जेसे 'श्रीनाथजीको मन्दिर' शब्द, रूढ़ हो गयो होवेसूं, प्रयोग कियो जावे हे. वस्तुतः तो सामुहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती होय एसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवस्थान जेसो वो मन्दिर नहीं हे.

{'सेवा–द्रेवद्रव्य–विमर्श'ग्रन्थके लेखक अ.सो.वा.पू.पा.गो. श्रीवल्लभरायजी सुरतस्थ 3/2 गृहगोस्वामी : 'पुष्टिने शीतल छांयडे' पृ.सं. 157–158}.

(22) श्रीमहाप्रभुजीने अलग–अलग मन्दिरन्की प्रणाली खड़ी नहीं करी; परन्तु यामें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी एक दूरदृष्टि हतीः प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय बननो चहिये... कोइ मन्दिरके पड़ौसमें एक बहन रहे हे. वाकुं मन्दिरकी आरतीके घन्टानाद सुनाई पड़े हें. सेवा करवेकुं बैठी भइ वो बहन ठाकुरजीके वस्त्र बड़े करके स्नान करावे जा रही हती कि आरती घंटानाद सुनाई दिये. वो ठाकुरजीकुं वहीं वाही अवस्थामें छोड़के मन्दिरकी तरफ दौड़ गई. थोड़ी देरके बाद लौटके घर आई. अब विचार करो कि या तरहसूं कोई सेवा करे तो वामें आनन्द कभी आ सके क्या? यहां तो प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय हे.

{श्रीमद्भागवततत्त्वमर्मज्ञा श्रीगिरिराजजीहवेली (बड़ौदा)
संचालिका,

अमेरिकामें सार्वजनिक मन्दिरार्थ स्वयंके सेव्य श्रीगोवर्धननाथजीके स्वरूप पधराके वहां नवपुष्टिचेतनाको संचार करवेवाली पू.पा.गो. सुश्रीइन्दिराबेटीजीः 'वैष्णवपरिवार' अंक जून 90}

▪ (23) ''अति धन्यवादार्ह हे कि आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तन्कूं कोर्टमें समझाये''–– हमारो यामें पूरो सहयोग रहेगो, तनमनधनसे...हमारे सभी चि.बालक या कार्यमें सहयोग करवेकुं तैयार हें''.

{पू.पा.गो.चि.श्रीहरिरायजी(जाम.) के सिद्धान्तनिष्ठ पितृचरण नि.ली. गो. श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज : मोकुं (प्रस्तुत–सम्पादकको) भेजे दि. 26–10–86 और 7–11–86 के पत्रन्में}.

(24) मैं तो एक बात कहनी चाहूंगो कि समाजके भीतर ओर अपने सम्प्रदायमें इतनो अधिक सिद्धान्तवैपरीत्य हो गयो हे कि गुजरातके एक गांवमें... पुष्टिमार्गके ही, अपने सम्प्रदायके ही, दो मन्दिर हें ओर मन्दिरन्की दीवाल भी एक ही हें; परन्तु... ऐसी जबरदस्त प्रतिस्पर्धा वैष्णवसमाजमें पैदा हो गई हे कि मानों एकदूसरेके साथ स्पर्धा करते होंय ऐसे. ईर्ष्या–द्वेषको वातावरण जब सेवाके क्षेत्रमे उत्पन्न हो जावे तो वासूं बढ़के लोकार्थित्व ओर क्या हो सके हे! ...जो शॉ–बिजनेस सम्प्रदायमें चल रह्यो हे वाको निवारण होय एतदर्थ एक सुन्दर चर्चासभाको आयोजन भयो हे... मेरी सविशेष विनंती ये हे कि एसे सभी सिद्धान्तवैपरीत्यकी फजीहत जो सर्वाधिक कहीं होती होय तो गुजरातमें होवे हे. भागवतमें भी लिख्यो भयो हे कि ''गुर्जरे क्षीणतां गता''... अतः सिद्धान्तकी सत्यनिष्ठा कहीं साधनी होय तो... ओर श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिसिद्धान्तन्के सद्जागरणकी कहीं आवश्यकता होय तो... गुजरातमें एसी सभान्को आयोजन होनो चहिये...

{पू.पा.गो.चि.श्रीद्रुमिलकुमारजीमहोदय : ''पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.10–13 जनवरी, 92. पार्ले–मुंबई) विस्तृतविवरण'' पृ.317–318}.

(25) पुष्टिमार्ग गुप्त हे, दिखावाकेलिये तो हे ही नहीं, भक्त ओर भगवानके आन्तरिक सम्बन्ध दृढ़ करवेको मार्ग हे... दोनोंके संबंध एसे होने चहिंये कि कोइ तीसरेकुं वाकी जानकारी न हो पाये. अपनो अपने भगवान्के साथ क्या सम्बन्ध हे याकुं दूसरे कोइ व्यक्तिकुं जतावेकी आवश्यकता ही क्या हे? प्रशंसा पावेकुं? स्वयंकी महत्ता बढ़ावेकुं? ये तो सभी कुछ बाधक हें.

{पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी महोदय (श्रीवल्लभाचार्यप्राकट्यपीठ अमरेली–कांदीवली–चम्पारण्य–सूरत) : 'पुष्टिनवनीत' पृ.12}

00000000000